TEXT IS FLY WITHIN BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182912

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H80.5/H66 - Accession No. Vol. 9

Author

Title हिन्दी अनुशीलन, Jan. - Dec - 1956

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिन्दी अनुशीलन



सम्पादक : हजारीप्रसाद द्विवेदी
सहकारी सम्पादक : ब्रजेश्वर वर्मा

वर्ष ६
अंक १–४
जनवरी-दिसम्बर १९५६
प्रकाशन तिथि—२२ जनवरी १९५७

भारतीय हिन्दी परिषद्
प्रयाग

वार्षिक ३) विद्यार्थियों से २) इस अंक का ४)

विषय-सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ
१—नागपुरी हिन्दी	प्रो० विनयमोहन शर्मा	१
२—अपभ्रंश में रासक (उपरूपक) का विकास	डा० दशरथ ओझा	७
३—सम्वत् १४११ में रचित प्रद्युम्न चरित का कर्त्ता	श्री० अगरचन्द नाहटा	१३
४—रामानन्द सम्प्रदाय के हिन्दी कवि	डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव	२१
५—सन्त आन्दोलन की मूल प्रेरणा	डा० शैलकुमारी	२७
६—भक्तिरस—स्वरूप और आवश्यकता	डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित	४०
७—साधारणीकरण : एक दृष्टि	श्री० बच्चूलाल अवस्थी	४७
८—मराठी, बंगला, गुजराती और हिन्दी में चाणक्य-चन्द्रगुप्त कथा	श्री० श्री० ना० बनहट्टी	५७
९—पद्माकर का वीर काव्य	प्रो० भारतेन्दु सिन्हा	६९
१०—राजस्थान के चारण और क्षत्रिय : पारस्परिक सम्बन्ध	प्रो० मोहनलाल जिज्ञासु	७५
११—पन्द्रहवीं शती के ब्रजभाषा गद्य का एक नमूना	श्री० गंगाप्रसाद कमठान	८२
१२—नवीन अनुसंधान		
१. राम साहित्य का एक विस्मृत कवि	डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित	८५
२. ज्ञानी जू और उनका वीर-विलास	डा० टीकमसिंह तोमर	८७
३. सन्त रज्जब की बानी	डा० शिवशेषर मिश्र	९०
४. पिंगल-अकबरी के रचयिता चतुर्भुज	श्री० वेदप्रकाश गर्ग	९२
५. सतियों के दो प्राचीन रास	श्री० भंवरलाल नाहटा	९६
१३—प्रबन्ध परिचय		
१. काव्य में रस	प्रो० आनन्दप्रकाश दीक्षित	१०४
२. तुलसीकृत रामायण के मूल स्रोत और उनकी रचना	डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	१०८
३. वार्त्ता-साहित्य का जीवनीपरक अध्ययन	डा० हरिहरनाथ टंडन	११२
४. कृषक-जीवन सम्बन्धी शब्दावली	डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'	११४

[शेष कवर पृष्ठ ३ पर]

शोक !

'हिंदी अनुशीलन' के छपते-छपते पंडित रविशंकर शुक्ल के आकस्मिक देहावसान का दुःखद समाचार मिला। शुक्ल जी का निधन अस्सी वर्ष की दीर्घ आयु में हुआ, तथापि देश को और विशेष रूप से नवनिर्मित मध्य प्रदेश को उनकी असाधारण सेवाओं की अभी अतीव आवश्यकता थी। राष्ट्रभाषा हिंदी के लिए तो स्वर्गीय शुक्ल जी एक महान् शक्ति-स्तंभ थे। उनके मुख्य मंत्रित्व में मध्य प्रदेश की सरकार ने हिंदी के उन्नयन और विकास के लिए जो ठोस कार्य किया वह राष्ट्रभाषा के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। ऐसे समय में जब हिंदी के विरुद्ध प्रतिगामी शक्तियाँ नए-नए रूप में संगठित होकर राष्ट्र की भाषा सम्बन्धी नीति में व्यतिक्रम पैदा करने का यत्न कर रही हैं, पंडित रविशंकर शुक्ल जैसे दृढ़ और संकल्पशील व्यक्तित्व को खोकर हिंदी जगत् अत्यन्त दुखी है। इसी अंक में हम दिसम्बर १९५५ में नागपुर में सम्पन्न हुए भारतीय हिंदी परिषद् के त्रयोदश अधिवेशन के विवरण के साथ स्वर्गीय शुक्ल जी का उद्घाटन भाषण प्रकाशित कर रहे हैं। इस अधिवेशन की सफलता का सबसे अधिक श्रेय स्वर्गीय शुक्ल जी को ही था। अतः शुक्ल जी के आकस्मिक निधन से परिषद् के सदस्यों को विशेष रूप से संताप है।

हम भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि शुक्ल जी की दिवंगत आत्मा को चिर शांति मिले तथा उनके दुखी परिवार को धैर्य प्राप्त हो।

सम्पादक

हिन्दी-अनुशीलन

भारतीय हिन्दी परिषद् का त्रैमासिक मुख पत्र

वर्ष ९] जनवरी–दिसंबर १९५६ ई० [अंक १-४

नागपुरी हिन्दी

प्रो० विनयमोहन शर्मा, नागपुर

क्षेत्र और बोलने वालों की संख्या : डा० ग्रियर्सन ने अपने लिंग्विस्टिक सर्वे भाग ६ में इसका उल्लेख किया है और इसका क्षेत्र नागपुर जिला बतलाया है, तथा इसके बोलने वालों में केवल वे व्यक्ति सम्मिलित किए हैं जिनकी मातृभाषा हिन्दी का कोई न कोई रूप है। उन्होंने नागपुरी हिन्दी का जो उदाहरण दिया है वह ऐसे परिवार का है जिसकी मातृभाषा बुन्देली है। ग्रियर्सन ने यहीं भूल की है। नागपुरी हिन्दी का क्षेत्र नागपुर ही नहीं, नागपुर के निकटवर्ती जिलों तक जिनमें विदर्भ के जिले भी सम्मिलित हैं, फैला हुआ है, और उसे बोलने-वाले हिन्दी-भाषा-भाषी ही नहीं, अहिन्दी-भाषा-भाषी भी हैं। वास्तव में यह विभिन्न-भाषा-भाषियों के बीच विचारों के परस्पर आदान-प्रदान की बोली है। ग्रियर्सन ने अपनी उपर्युक्त सर्वे में इसके बोलने वालों की संख्या १०५९०० लिखी है, जो आज उससे कई गुना बढ़ गई है। इसे प्राचीन नागपुर और विदर्भ कमिश्नरियों के रहने वाले दूसरी भाषा के रूप में बोलते हैं। यह किसी की मातृभाषा नहीं है। इसके क्षेत्र में बसा हुआ मारवाड़ी अपनी मातृभाषा मारवाड़ी के साथ-साथ दूसरी भाषाओं के रूप में नागपुरी हिन्दी और मराठी भाषाएँ बोलता है। इसी प्रकार तमिळ, तेलुगु, कन्नड, मलयाळम आदि भाषा-भाषियों की भी दूसरी बोली नागपुरी हिन्दी है।

नागपुरी हिन्दी की विशेषताएँ : शब्दावली—चूंकि नागपुरी हिन्दी मातृभाषा के नहीं, दूसरी भाषा के रूप में बोली जाती है, इसलिए इसमें खड़ी बोली के शब्दों के साथ-साथ वक्ता की मातृभाषा के कुछ ऐसे शब्द भी सम्मिलित हो जाते हैं जो सामान्य व्यवहार के होते हैं। इस प्रकार नागपुरी हिन्दी की शब्दावली में (१) संस्कृत के कुछ तत्सम और बहुत से तद्भव शब्द जो हिन्दी में साहित्यिक भाषा तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों में प्रचलित हैं;

(२) फारसी-अरबी मिश्रित उर्दू के सामान्य शब्द जो तद्भव रूप में पाए जाते हैं—जगो, फिकर, जिकर आदि;

(२) मराठी के कुछ व्यावहारिक शब्द—झोप, भाऊ, आदि;
(३) अंग्रेजी के कुछ अपभ्रंश शब्द—टेसन, टेम, सॉट आदि;
तथा (४) वक्ता की मातृभाषा के कुछ शब्द सम्मिलित हैं।

ध्वनियाँ—नागपुरी हिन्दी में प्रायः वे सभी ध्वनियाँ हैं जो खड़ी बोली में प्रचलित हैं। उनके अतिरिक्त मराठी की च (त्स) और ठ ध्वनियाँ भी आ गई हैं। फारसी-अरबी की ध्वनियाँ इसमें नहीं आ सकी। ऋ का उच्चारण उसमें मराठी के समान रु हो गया है। खड़ी बोली की दीर्घ ध्वनियाँ प्रायः ह्रस्व और ह्रस्व ध्वनियाँ दीर्घ हो गई हैं, :—

और... ...ओर
फिर... ...फीर
ड, ड़ में कोई भेद नहीं है। ड़ का उच्चारण ही नहीं होता।
व ब का उच्चारण-भेद स्पष्ट है।

उच्चारण में ध्वनि-परिवर्तन, आगम, लोप आदि—

पदांत न का ण में परिवर्तन :—
कठिन...कठीण, कठिण

पदान्त ओ का व में परिवर्तनः—
जाओ (खड़ीबोली)... ...जाव
र वर्ण के पूर्व औ का हो में परिवर्तन भी पाया जाता है :—
और... ...होर
औरत...होरत

ह ध्वनि क्षीण होती जा रही है:—
जगह →जगो; नहीं →नईं;
शब्द के बीच और अन्त में 'ह' का लोप पाया जाता है :—
तुम्हें (खड़ीबोली)...तुमें
साहब (खड़ीबोली)...साब
शब्द के अन्त में 'ह' का लोप और 'आ' का आगम :—
बारह.....बारा
तेरह.....तेरा
शब्द के आदि के स का छ में परिवर्तन :—
सब.....छब
सच...छच
कहीं कहीं ओ का ऊ में परिवर्तन :—
परसों... ...परसू
'ब' और 'ह' के पास-पास आ जाने पर उनका 'भ' में परिवर्तन और 'ए' का आगम,
बहन.....भेन

पद में वर्णों के ऊपर अनुस्वार का उच्चारण लुप्त होता जा रहा है:—

नहीं...नही

पाँच...पाच

नवाँ...नवा

संज्ञा शब्द-रूप का वैशिष्ट्य—

कुछ अकारान्त संज्ञा शब्दों का बहुवचन आ और कभी आं से तथा कभी-कभी अन्तिम ध्वनि को हलन्त करने से भी बनता है:—

बात...(१) बाता (२) बातां, (३) बात्यां

(बातां कर्ते कर्ते झोप लग गइ)

आकारान्त संज्ञा शब्द के अन्तिम दीर्घ स्वर को ह्रस्व (हलन्त) करके उसमें या जोड़ देने से छोटेपन या तिरस्कार का भाव द्योतित होता है:—

घीसा...घीस्या

सम्बोधन में भी यही रूप रहता है :—

ओ घीस्या ? कां (कहां) जा र्‌या (रहा) है।

लिंग—खड़ी बोली के समान ही दो लिंग—स्त्रीलिंग और पुल्लिग—रूप होते हैं। पर खड़ी बोली में जहाँ ईकारान्त पुल्लिग पद में इन लगाने से स्त्रीलिंग होता है वहाँ नागपुरी हिन्दी में मूल शब्द में—अन लगता है :—

तेली...तेलन

गोली...गोलन

धोबी...धोबन

वचन—प्रायः खड़ी बोली के प्रत्यय लगकर बनते हैं। परन्तु ईकारान्त संज्ञा-पदों में ई के स्थान पर यां लगाने की प्रवृत्ति है। ऐसी स्थिति में उसका पूर्ववर्ती वर्ण हलन्त हो जाता है:—

रोटी...रोट्यां

गाली...गाल्यां

क्रमवाचक संख्या शब्द—पहिला, दुसरा, तिसरा, चवथा, पाचवा, छटवा, सातवा, आठवा, नवा, दसवा आदि। खड़ी बोली में जहाँ सामान्य संख्या चार के बाद की शेष संख्याओं में वां जुड़ता है वहाँ नागपुरी हिन्दी में वा जुड़ता है।

कारकों की विभक्तियाँ :—

कर्ता.....ने

कर्म और सम्प्रदान...कू, कूं, को, के, करने

अपादान...सू, सूं, सो, से,

संबंध...का, के, की

अधिकरण...मो, मे, पे

सर्वनाम—व्यक्तिवाचक सर्वनाम के चिन्ह इस प्रकार हैं—

एकवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष...मे, हम	हम, अपन
कर्ता...द्वितीय पुरुष...तू, तुम	तुम, तूम
तृतीय पुरुष...वो	वो
कर्म...संप्रदान...प्र० पुरुष...मुजे, मुंजे, मुजकू	हमें, हमकू, हमनेकू
द्वितीय पुरुष...तुजे, तुजकू, तेरेकने	तुमकूं, तुम कू
तृतीय पुरुष...उसकू	उनकू

अतएव (*इसलिए*) के लिए **करके** का प्रयोग मराठी के म्हणून के अर्थ में व्यवहृत होता है:—

दादा घुस्सा कर्ते **करके** तो मेनायानी आया।
(दादा गुस्सा होते इसलिये मैं नहीं आया)

व्याकरण सम्बन्धी अन्य विशेषताएँ—

अकर्मक क्रिया में कर्ता के साथ ने का प्रयोग :—

हमने एक दुसरे को मदत करना चइये।
(हमें एक दूसरे की मदद करना चाहिए)

सहायक क्रिया के वर्तमान काल में ह का उच्चारण प्रायः नहीं हो पाता: जाता उं ए का य में परिवर्तन हो जाता है :—

है.....हय

क्रिया के कर्ता में ने चिह्न लगकर भी क्रिया में हूँ लग जाता है :—

मैंने रोई हूँ, मैंने लाया हूँ।

किसी बात पर आग्रह प्रकट करने के लिए 'च' का प्रयोग :—तुमकू चलनच पडेगा (तुम्हें चलना ही होगा)

दक्खिनी अथवा हिन्दवी का भी प्रभाव नागपुरी हिन्दी पर परिलक्षित होता है। नागपुरी हिन्दी में बुन्देली और मालवी का प्रामुख्य, जिसकी ओर ग्रियर्सन ने संकेत किया है, प्राय: नहीं के बराबर रह गया है। वह स्थानीय ध्वनि-प्रक्रिया, कतिपय नई विभक्तियों और प्रत्ययों के साथ खड़ी बोली का मूल ढाँचा सुरक्षित रखे हुए है।

ग्रियर्सन ने अपने सर्वे में नागपुरी हिन्दी का जो उदाहरण दिया है, उसे नीचे दिया जाता है। इसे ग्रियर्सन ने बुन्देली बोली से आच्छादित कहा है—

एक आदमी खे दो पोरया हते। ओ में को नन्हो लरका बाप खे किहे दादा मोरे हिस्सा को माल मोखे दे दे। फेर ओ ने अपनी जिनगी की कमाई दोई पोरयन खे बाटनी कर दई। आगे थोड़च दिन में नन्हें पोरया ने अपनी सब धन साकडी। फेरऊ दूसरे मुलक में फिरन खे गओ। कहाँ अपनो सब पैसा ओने चहुलबाजी में उड़ा दओ।

उपर्युक्त पंक्तियों में सम्प्रदान का ख बुन्देली का ही नहीं, निमाडी का भी है, जो मध्यप्रदेश के निमाड़ जिले में बोली जाती है। यह बाजार में बोली जाने वाली नागपुरी हिन्दी

नहीं है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में आकर बसा हुआ परिवार बहुत काल तक अपनी क्षेत्रीय बोली बोलता रहता है। अतएव नमूना किसी परिवार विशेष की बोली से न लेकर सामान्य जनता की सार्वजनिक रूप से बोली जाने वाली भाषा से लेना चाहिए। अब मैं आपके सम्मुख उस नागपुरी हिन्दी का उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ जिसे सामान्य लोग बाजारों में बोलते-पहचानते हैं। (अब मैं आपके समोर नागपुरी हिन्दी के नमुने सादर करता उ जिसको बाजार के लोक बोलते पिचानते हय)

नागपुरी हिन्दी

गोविन्दा—(किसन से) कल बड़ी फजर अपन दोनों मिलके फिरने चलेगे। उधी से टेसन निकल चलेगे होर वां बंबे में टपाल डालके, हाटेल में हात मु धोके, चा फराव्ठ लेके दवाखाने कु जायगे। में केता हु भाऊ मुजे रात कू झोंपच नी आती। वर्तमान पत्र लेके बेठता भोत कोसीस करता फीर बी आख लगतिच नई। तबयत खूप समालता। दुपेर कू जादा खाता बि नई। श्याम को धोड़ने मे नागा बि नई करता। कुच समज में नई आता, क्या करू। करके तो डाक्तर से फीर से तपासनी कराना हय। उसका पूराना बील की चुकती करना हय। पगार अभी हात में आई नई। उसके बील का हपता देने कू पाकीट में पैसे नई हय। तेरे कने हय कुच !

किसन—हव ना, खूप हय। मेरी थट्टा करते हो क्या ? शेठ आदमी हो, छच बोलो। तुमारे खीसे में पैसे नई हय क्या ? क्या फोक मारते हो भाऊ।

गोविन्दा—तुमकू मेरी बाता झूट मालुम पडती हय तो कुछ हरकत नहीं।

खड़ी बोली में रूपान्तर

गोविन्दा—(किसन से) कल बड़े सबेरे हम दोनों साथ-साथ घूमने (या टहलने) चलेंगे। उधर ही से स्टेशन निकल चलेंगे और वहाँ बंबे (लेटरबाक्स) में चिट्ठी डालकर, होटल में हाथ-मुंह धोकर और चाय नाश्ता लेकर अस्पताल जाएंगे। मैं कहता हूँ भाई मुझे रात को नींद ही नहीं आती। समाचार पत्र लेकर बैठता। बहुत कोशिश करता। फिर भी आंख लगती ही नहीं। तबीयत खूब सँभालता। दोपहर को ज्यादा खाता भी नहीं। शाम को दौड़ने में नागा भी नहीं करता। कुछ समझ में नहीं आता (कि) क्या करूं। इसीलिए डाक्टर से फिर से जांच करवाना है। उसका पुराना बिल भी चुकाना है। वेतन अभी हाथ में आया नहीं। उसके बिल को किश्त देने को जेब में पैसे नहीं हैं। तेरे पास है कुछ ?

किसन—हां ना, खूब हैं ! क्यों मेरा मजाक उड़ाते हो ? सेठ आदमी हो। सच बोलो। क्या तुम्हारे जेब में पैसे नहीं हैं ? क्या गप मारते हो भाई ?

गोविन्दा—तुमको मेरी बातें झूठ मालूम पड़ती हैं तो कोई हर्ज नहीं।

जिस प्रकार प्रेमचन्द और प्रसाद में बनारसी और वृन्दालनलाल वर्मा में बुन्देली बहार है, उसी प्रकार नागपुरी लेखकों में भी मराठी महक आने लगी है। यथा—

"हिन्दु धर्म में वेद, स्मृति अनेक ग्रन्थ हैं। परन्तु उन सब ग्रन्थों में सनातनी और नवमतवादी, भाविक चिकित्सक[१] आदि सर्वमतों और पंथों के लोगों के लिए एक ही सर्वमान्य ऐसा गीता को छोड़कर और कोई ग्रन्थ नहीं है।" (गीता प्रणीत व्यवहार शास्त्र)

"गीता ग्रन्थ पर अनेक पंडितों ने और पंथवादियों ने चढ़ाए हुए अपने अपने मतों के पेहराव के कारण हर एक को अपने जीवन में साकार करने योग्य गीता का निश्चित मूलरूप पहिचानना कठिण हो गया है।" (वही)

उपर्युक्त उदाहरणों से विदित हो जाता है कि नागपुरी हिन्दी में मराठी शब्दों और किंचित् वाक्य विन्यास का प्रवेश हो रहा है। संस्कृत और विदेशी शब्द भी अपने मूल तत्सम रूप का अर्थ न देकर मराठी अर्थ देने लगे हैं। उदाहरणार्थ, हप्-ता का अर्थ सप्ताह न होकर किश्त हो गया है। चिकित्सक वैद्य न रह कर आलोचक बन गया है। सादर करना का सादर आदर सहित नहीं, उपस्थित के अर्थ में आता है। इसी प्रकार कई मराठी शब्द नागपुरी हिन्दी में ही नहीं, आदर्श हिन्दी में भी संचारित हो गए हैं। उदाहरणार्थः—

शिस्त = अनुशासन
शिक्षण = शिक्षा
टीप = नोट

मराठी का प्रभाव दक्खिनी, हिन्दवी, उर्दू अथवा जिसे आज दक्खिनी हिन्दी कहने का रिवाज चल पड़ा है, उस पर भी पड़ा है। १४ वीं शताब्दी से दक्खिनी उर्दू के क्षेत्र हैदराबाद का मराठी भाषा-भाषी जनता से बराबर सम्पर्क रहा है।

मराठी में जोर देने के लिए ही के अर्थ में च का प्रयोग होता है, जैसे, तुला आले च पाहिजे (तुझे आना ही चाहिए)।

दक्खिनी उर्दू या हिन्दवी में भी इसी प्रकार से च प्रयुक्त होता है, जैसे :—

"वली अपने च गम में नको होश ॥"

(दक्खिनी का पद्य, और गद्य पृष्ठ २३७)

मराठी का 'नहीं' अर्थ बोधक 'नको' दक्खिनी हिन्दवी में खूब प्रचलित है। इसका प्रयोग नागपुरी हिन्दी में नहीं होता, जैसे :—

"अरे मन नको रे नको हो दिवाना" (वही, पृष्ठ २५६)

कहीं कहीं दक्खिनी हिन्दी पर मराठी के प्रभाव से कतिपय शब्दों का स श में परिवर्तित हो गया है और मराठी का होता (था) ता बनकर आ गया है—

स का श

खड़ी बोली—३ से बंबई या दक्खिनी हिन्दी—३ शें

,, पैसे ,, पैशे
,, सिखाया ,, शिकाया

होत का ता

लाया ता। गया ता।

महाराष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों में यद्यपि मराठी ने हिन्दी पर प्रभाव डाला है तो भी उसका व्याकरणिक ढाँचा मूलतः सुरक्षित है।

अपभ्रंश में रासक (उपरूपक) का विकास

डा० दशरथ ओझा, दिल्ली विश्वविद्यालय

भरत मुनि ने नाटक की विशेषताओं का विवेचन करते हुए एक स्थल पर लिखा है—

मृदु ललित पदाढ्यं गूढ़ शब्दार्थहीनं
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम् ।
बहुरसकृतमार्गं सन्धि-सन्धानयुक्तं
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ।

उन्होंने नाटक के लिए गूढ शब्दार्थ रहित मृदु ललित पद की योजना, सामान्य व्यक्तियों के लिए बुद्धिग्राह्य रचना की व्यवस्था, सुसंगठित कथानक, नृत्य की उपादेयता, विविध पात्रों द्वारा रसाभिव्यक्ति तथा सन्धियों के सन्धान को आवश्यक बताया। ये ही नाटक के अनिवार्य अंग प्रत्यंग हैं। जब तक संस्कृत नाटकों में ये अवयव समानुपात रूप में बने रहे, नाटक आह्लादक माने जाते रहे, किन्तु कालान्तर में जब अनेक कारणों से समानुपात भंग होने लगा तो नाटक प्राकृतिक सौन्दर्य से वंचित हो गए और वृद्धावस्था के समान उनके विविध अवयव विकृत हो उठे। प्रमाण स्वरूप शकुन्तला और हनुमन्नाटक की तुलना की जा सकती है।

संस्कृत नाट्यकार, भरतमुनि के 'जनपदसुखबोध्यं' की क्रमशः उपेक्षा करते गए। नाटक आभिजात्य वर्ग की गोष्ठी का विषय बन कर रह गया। जनता से नितान्त सम्पर्क छूट जाने पर वह दृश्य काव्य की परिधि का उल्लंघन कर श्रव्य काव्य की सीमा में पहुँच गया।

ऐसी स्थिति में सामान्य जन समुदाय अपने विकसित नृत्य प्रकारों में कथानक और संवाद संयुक्त कर अत्यल्प साधनों के बल पर दृश्य काव्य का आनन्द लेने लगा। यह स्वाभाविक भी था। भारतीय अपने विविध पवित्र पर्वों के अवसर पर सामूहिक रूप से आनन्द मनाने के अभ्यासी थे ही। उन्होंने नृत्य नाट्यों में काव्य तत्त्व संयुक्त कर उसे और विकसित करने का प्रयास किया। इन्हीं प्रयासों का परिणाम है कि हम अपभ्रंश काल में अनेक रासक ग्रंथों का दर्शन करते हैं। यद्यपि अठारह या बीस उपरूपकों में कई उपरूपकों की उन्नति हुई, किन्तु आज जो धारा एक सहस्र वर्ष से अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती चली आ रही है उसका नाम रास या रासक धारा है। हम संक्षेप में उसी का संक्षिप्त परिचय यहाँ देने का प्रयास करेंगे। आज सबसे बड़ा प्रश्न रासक के सम्बन्ध में यह पूछा जाता है कि क्या ये प्राप्य ग्रंथ दृश्य काव्य माने जा सकते हैं ?

इस विषय में पहले रूपकों और उपरूपकों का अन्तर समझ लेना होगा। उपरूपक तो नृत्य से विकसित होकर नाटक की कोटि में पहुँचे हैं। उनमें पूर्ण नाटकों की सभी सन्धियों, सन्ध्यंगों, कार्य अवस्थाओं और अर्थ-प्रकृतियों अर्थात् पूर्ण नाटक की सभी शास्त्र-सम्मत विशेषताओं का अनुसन्धान करना व्यर्थ है। कारण यह है कि नृत्य प्रधान मान कर जब कोई कथानक प्रदर्शन के निमित्त प्रस्तुत किया जाता है तो उसमें नाटक के अन्य अंग उतने परिपुष्ट नहीं बन पाते। यह स्वाभाविक है। जब कवि अपने मन में ऐसी नाट्य योजना बनाता है, जो नृत्य के द्वारा प्रदर्शित होकर सामाजिक को मुग्ध करे तो वह स्वभावतः कथनोपकथन, घटना के आरोहावरोह, पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व, भाषा के सौष्ठव के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर पाता। उसका तो एक मात्र उद्देश्य ऐसी रचना करना होता है, जो मुख्य रूप से नृत्य एवं संगीत के द्वारा आकर्षक बन सके। नाटक के अन्य अवयव उसके अंग बन कर आ जाएँ तो वह उनका स्वागत करता है। यदि नहीं आते तो वह उनकी चिन्ता भी नहीं करता। इसी प्रवृत्ति ने रासक नाटकों को जन्म दिया।

रासक नामक उपरूपक का अपना इतिहास है। भरत के नाट्य शास्त्र में इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। सम्भव है उस काल में 'रास' नृत्त या नृत्य के रूप में अविकसित रहा हो। दशरूपककार धनंजय ने भी इसका उल्लेख नहीं किया है।

नाट्य शास्त्र में ऐसे उद्धरण भी आ जाते हैं जिनके आधार पर उपरूपकों की बीजावस्था का अनुमान लगाया जा सकता है। किन्तु वे उद्धरण इतने निर्बल और अनियमित हैं कि उनसे उपरूपकों के विकास क्रम का कोई संकेत नहीं मिलता।

सर्वप्रथम अग्नि पुराण के अध्याय ३२८ में १७ नामों में रासक का उल्लेख मिलता है, किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ में उन्हें न तो कहीं उपरूपक कहा गया है और न उनके लक्षणों पर प्रकाश डाला गया है।

दशरूपक (अवलोक टीका) में एक श्लोक मिलता है—

डोम्बी श्री गदितं भाणो
भाणी प्रस्थान रासकाः
काव्यं च सप्त नृत्यस्य
भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥

अभिनव भारती[1] में प्रसंगवशात् डोम्बिका, भाण, प्रस्थानम्, भाणिका, रामाक्रीड़, हल्लीशक और रासक का उल्लेख मात्र किया गया है, किन्तु उसमें कहीं भी उन्हें उपरूपक की भाँति स्वीकार नहीं किया गया। श्री रामास्वामी शास्त्री[2] का मत है कि अभिनव गुप्त ने नाट्य शास्त्र पर कोहलं तथा उनके अनुयायियों की टीका के आधार पर यह मत बनाया होगा। शारदातनय ने भी अप्रत्यक्ष रूप से उपरूपकों का उल्लेख किया है। सर्वप्रथम प्रत्यक्ष रूप से रासक उपरूपक का दर्शन हेमचन्द्र के काव्यानुशासन ग्रन्थ में होता है। उन्होंने नाटकों

---

१. नाट्यशास्त्र—अभिनव गुप्त की टीका—चतुर्थ अध्याय।

२. Introduction to भाव प्रकाश Page 15—रामास्वामी शास्त्री।

का एक नया वर्गीकरण किया पाठ्य और गेय। गेय रूपकों अथवा उपरूपक के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है –"**गेयं-डोम्बिका भाण प्रस्थान शिंगक भाणिका प्रेरण रामाक्रीड हल्लीसक रासक गोष्ठी श्रीगदित राग काव्यादि**" इस प्रकार उन्होंने १३ गेय नाटकों की गणना की है और उपरूपकों का उल्लेख करते हुए संकेत किया है—

'**ब्रह्म-भरत-कोहलादि शास्त्रेभ्योऽवगन्तव्यः**'। इस प्रकार उन्होंने अपने मत के समर्थन के लिए नाट्य शास्त्र का आधार लिया है।

स्वाभाविक है कि उपरूपक नाम की कल्पना रूपक के नामकरण के उपरान्त ही हुई। यद्यपि रूप शब्द का उल्लेख नाट्यशास्त्र में प्राप्त है, किन्तु वह रूपक के लिए प्रचलित नहीं हो पाया था। रूपक शब्द का प्रचलन दशरूपक ग्रन्थ के उपरान्त ही हुआ होगा। अतः उपरूपक की धारणा इसके उपरान्त ही बन पाई होगी। ये उपरूपक बीज रूप से नृत्य भेदों में सन्निहित थे। दशरूपककार ने कहीं उपरूपक का नामकरण नहीं किया है। हेमचन्द्र ने भी उपरूपक शब्द का प्रयोग न करके गेय रूपक ही नाम दिया है। नाट्यदर्पण और भाव-प्रकाश में भी यह शब्द नहीं आ पाया है। नाट्यदर्पणकारगेय रूपकों को 'अन्यानि रूपकाणि' कह कर सम्बोधित करते हैं। उनके मत से ये उपरूपक नृत्य और नाटक के मध्य की स्थिति में थे। वे कहते हैं—

"**एतानि च स्वल्पमात्ररञ्जन निमित्तत्वाद् वृद्धैरनभिहितत्वाच्च वृत्तावेव कीर्त्तितानि**"

अर्थात्, ये नृत्य प्रकार अल्प मात्रा में मनोरंजन करने के निमित्त प्राचीन आचार्यों के उल्लेख न करने पर भी उनकी वृत्ति में वर्णित होने से अन्य रूपकों में माने जा सकते हैं।

आश्चर्य तो यह है कि एक ही आचार्य एक ही ग्रन्थ में 'रासक' के दो दो लक्षण देते हैं। भावप्रकाशकार ने पृष्ठ २६६ पर एक लक्षण दिया है और पृष्ठ २६६ पर दूसरा।

एक स्थान पर रासक नृत्य के दो रूप मसृण और उद्धत को हम भावप्रकाश में इस प्रकार पाते हैं—

अनेक नर्त्तकी योज्यं चित्रताल लयान्वितम्।
आचतुष्षष्टि युगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्॥ पृष्ठ २६५

पृष्ठ २६६ पर उसे एक प्रकार का उपरूपक सा स्वीकार कर लिया गया है, यद्यपि उसे उपरूपक नाम से अभिहित नहीं किया गया है।

लब्ध्वा दुग्धमहोदधौ सुर गणैः पीत्वामृतं यस्तदा
पिण्डी शृङ्खलिका विशेष विहिनो युक्तो लताभेद्यकैः।
चित्रातोद्यविचित्रितैर्लय युतो भेदद्वयालंकृतः
चारी खण्ड सुमण्डलैरनुगतः सो ऽयं मतो रासकः॥

इसी भावप्रकाश नामक ग्रन्थ में 'रासक' का एक लक्षण इस प्रकार मिलता है—

षोडशद्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिकाः।
पिण्डी बन्धादि विन्यासैः रासकं तदुदाहृतम्॥

प्रश्न उठता है कि एक ही ग्रन्थ में तीन स्थानों पर रासक का लक्षण लिखने की कष्ट शारदातनय को क्यों उठाना पड़ा ? सम्भव है कि रासक को नृत्य, नाट्य और मध्य रूप में देखकर ही उन्हें ऐसी परिभाषाएँ देनी पड़ी हों। अभिनव भारती (ग्यारहवीं शताब्दी) में रासक को ६ प्रकार के नृत्यों में केवल एक नृत्य-प्रकार मान कर इस प्रकार लक्षण दिया गया है—

मंडलेन तु यन्नृतं हल्लीसकमिति स्मृतम।
एकैकस्तस्य नेता स्याद्गोपस्त्रीणां यथा हरिः ॥
अनेक नर्तकी योज्यं चित्र ताल लयान्वितम्।
आचतुष्पष्टि युगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्।

अभिनवभारती

अभिनव गुप्त तक रासक नृत्य मसृण और उद्धत दो भेदों में बँट चुका था। भाव-प्रकाश (तेरहवीं शताब्दी) तक आते आते रासक के अन्तर्गत निम्नलिखित विशेषताएँ और आ गईं—१. एक पात्र २. सूत्रधार रहित ३. सुश्लिष्ट नान्दी ४. पाँच पात्र ५. तीन सन्धियाँ ६. विभिन्न भाषाएँ ७. कैशिकी और भारती वृत्ति ८. वीथ्यङ्ग ९. प्रसिद्ध नायक १०. प्रसिद्ध नायिका ११. उदात्त भाव

साहित्य दर्पणकार ने रासक का लक्षण इस प्रकार बताया—

(१) पाँच पात्र (२) मुख, प्रतिमुख, निर्वहण सन्धियाँ (३) विभिन्न भाषाएँ (४) भारती और कैशिकी वृत्ति (५) सूत्रधार रहित (६) एक अंक (७) वीथ्यङ्ग (८) कला (९) श्लिष्ट नान्दी (१०) प्रसिद्ध नायिका (११) मुख्य या मूर्ख नायक (१२) उदात्त भाव। उदाहरण के रूप में 'मेनकाहितम्' का नामोल्लेख है।

रासक के इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कालान्तर में रासक के दो रूप हो गए—एक तो मूल नृत्य के ही रूप में तद्वत् बना रहा, दूसरा विकसित होता हुआ उपरूपक की परिधि में विराजमान हो गया। विकासोन्मुख रूप में सर्व प्रथम नृत्य-संगीत के साथ अभिनय जोड़ा गया। तत्पश्चात् इसमें असम्बद्ध कथानक को स्थान मिला। विकास के तीसरे स्तर पर पहुँचते पहुँचते इसमें वार्त्तालाप भी संयुक्त हो गया। अभिनवभारती और भावप्रकाश में उपलब्ध लक्षणों से यह प्रतीत होता है कि कोई एक घटना गेय पदों के द्वारा अभिनीत हुआ करती थी। गेय पदों का गायन वाद्य सहित होता था और उनका प्रदर्शन नृत्य के आधार पर वार्त्तालाप की सहायता से। यह कहना कठिन है कि सम्बद्ध कथानक और वार्त्तालाप में प्रथम बार स्थान किसको मिला। सम्भव है कि संस्कृत नाट्य कला से अभिज्ञ किसी पंडित ने गीतों में सुसम्बद्ध कथानक और वार्त्तालाप को साथ साथ ही स्थान दिया हो, किन्तु इसका कोई प्रमाण, मुझे अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। तात्पर्य यह कि एक ओर रासक नृत्य अपरिवर्त्ति रह कर केवल भावोत्पादक बना रहा, दूसरी ओर नाट्य का रूप धारण कर सामाजिक को रसास्वादन कराने में समर्थ हो गया। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ (१४ वीं शताब्दी) तक आते आते उन्मत्तराघव (प्रेक्षणक) दानकेलिकौमुदी (भाणिका) सुभद्राहरण (श्रीगदितम्) नामक उपरूपक इतने विकसित हो गए कि उन्होंने सामान्य रूपकों के अनुरूप ही रूप धारण कर लिया। इसी प्रकार रासक को भी उपरूपक की परिधि के अन्तर्गत आसन प्रदान करना पड़ा। उत्तर अपभ्रंश काल के उपलब्ध रासक इस तथ्य के प्रमाण हैं।

अपभ्रंश काल के दो विभाग हैं—पूर्व अपभ्रंश काल और उत्तर अपभ्रंश काल। इस स्थान पर हम केवल उत्तर अपभ्रंश काल में उपलब्ध रासक ग्रंथों का उल्लेख करेंगे, क्योंकि यह काल हमारी पुरानी हिन्दी के अधिक समीप है।

सर्व प्रथम हमें अम्बिकादेवी रास (सं० १०७६ वि०) का उल्लेख मिलता है, किन्तु यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आया। तदुपरान्त मुकुटसप्तमी रास एवं माणिक्य-प्रस्तारिका नामक दो रासकों का उद्धरण मिलता है। किन्तु ये दोनों रासक भी अभी तक अन्धकार में पड़े हैं। जिस ग्रन्थ में इनका उल्लेख मिलता है उसकी रचना ११२८ वि० में हुई थी। अतः इससे पूर्व उक्त दोनों रासक जैन धर्मावलम्बियों के धर्म ग्रन्थ बन चुके थे।

उपलब्ध रासकों में उपदेशरसायन रासक सर्व प्रथम माना जाता है। तेरहवीं शताब्दी के अनेक धार्मिक रासक और एक पार्थिव प्रेम सम्बन्धी सन्देशरासक प्राप्त होता है। आश्चर्य तो यह है कि इसका रचयिता मूलस्थान (मुल्तान) निवासी एक मुसलमान अब्दुलरहमान है। इस शताब्दी में शालिभद्र सूरि नामक जैन मुनि ने 'भरतेश्वर बाहुबली रास, बुद्धिरास और हितशिक्षाप्रबुद्ध नामक रासों की रचना की और विजयसेन सूरि ने १२८७ वि० में रेवन्त-गिरी रास बनाया।

विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में विनयचन्द सूरि कृत नेमिनाथचतुष्पदिका, अज्ञात कवि कृत सप्तक्षेत्रि रास, सोममूर्त्ति कृत जिनेश्वर सूरि दीक्षा विवाह वर्णना रास, अभयदेव सूरि कृत समरा रासो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

रासककार मुनियों एवं कवियों का ध्यान मुख्य रूप से अर्द्ध शिक्षित जनता तक अपने जीवन का अनुभव पहुँचाना था। एक स्थान पर गेय रास की रचना का उद्देश्य लिखते हुए धर्मविन्दुवृत्ति नामक ग्रन्थ में लिखा है—

बालस्त्री मूढ़ मूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणां।
अनुग्रहार्थं सर्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः॥

अतः रासकारों ने देश के विपत्तिकाल में जनता से सम्पर्क स्थापित कर उनकी रुचि को परिमार्जित, सहन शक्ति को दृढ़ और उन्हें विरोधियों के सम्मुख खड़ा होने में सक्षम बनाया। रास के विषयों का वर्गीकरण और उद्देश्य इस प्रकार है—

उद्देश्य—

(१) बाल, स्त्री और मूर्ख के लिए शिक्षाप्रद मनोरंजन उपस्थित करना;
(२) उपदेश मुख्य उद्देश्य था किन्तु भौतिक जीवन से असंपृक्त होकर नहीं;
(३) उपदेश में कथा तत्त्व मिलता गया;
तथा (४) चरित्र संकीर्त्तन रास का मुख्य उद्देश्य बनता गया।

विषय विभाजन—

(क) ऋषभदेव, नेमिनाथ, महावीर, जंबुस्वामी, गौतम स्वामी, स्थूलि भद्र, शालिभद्र;
(ख) राजवंशी जैन साधुओं के चरित्र—वस्तुपाल, तेजपाल, समरसिंह, पेथड़ के जगड़ू जेवा, जैन श्रेष्ठाओं नो जीवन चरित्र;

(ग) कोई श्रेष्ठी तीर्थयात्रा मांटे संघ काढ्यो तो उसका वर्णन;

(घ) केवल तीर्थों का माहात्म्य, आबू रास, गिरिनार रास;

(च) जैन रामायण और जैन महाभारत के पात्रों का रास;

(छ) जैन धर्म के माहात्म्य से प्रभावित व्यक्तियों का चरित्र;

(ज) तीर्थों, मन्दिरों के उद्धारक दानी सेठ शान्तिदास का रास, तीन पीढ़ी तक (अकबर से औरंगज़ेब)

(झ) काल्पनिक कहानी—ऐतिहासिक नाम मात्र—शीलव्रतीनो रास—भूत प्रेत, चमत्कार, जादू-मंत्र की महिमा;

(ट) कुवलयमाला कथा (संस्कृत) का आधार लेकर सीमंधर रास—कर्त्ता शाः तेजपाल समय संवत् १६८४ वि० ।

पात्र—

क्रोध, मान, माया लोभ, चंडसोम, मान-भट, मायादित्य, लोभदेवी।

राग—

संगीतज्ञरासकार—आशावरी, काशी, केदार, धन्याश्री, देशाष, मल्लार सामेरी, सारंग आदि राग रागिणिया ।

सम्वत् १४११ में रचित प्रद्युम्न चरित का कर्त्ता

श्री अगर चन्द नाहटा, बीकानेर

हिन्दी भाषा मध्यदेश की बोली है। अपभ्रंश से उसका विकास भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं की भाँति नवमी शताब्दी से पहले हो गया था। जैन विद्वान् उद्योतक सूरि ने सं० ८३५ में जालोर में रचित कुवलयमाला कथा में उस समय के १६ प्रांतों की देशी बोलियों का उल्लेख करते हुए उस प्रदेश के निवासियों की विशेषताओं का बहुत ही महत्त्वपूर्ण उल्लेख किया है। मध्य देश के निवासियों और उनकी भाषा की विशेषताओं के सम्बन्ध में उसमें लिखा है—

णय-णीति-संधि-विग्गहपडुए बहुपंजिरे य पयनीए।
"तेरे मेरे आउ" त्ति जंपिरे मज्झदेसे या॥

संस्कृत छाया—

नय-नीति-सन्धि-विग्रह पटुकान् बहुजल्पाकांश्च प्रकृत्या।
'तेरे मेरे आओ' इति जल्पतो मध्यदेश्यांश्च॥

अर्थात्, मध्यदेश के लोग नय-नीति-संधि-विग्रह में पटु होते हैं, ज्यादा बोलने की उनकी प्रकृति है और उनकी भाषा में 'तेरे मेरे आओ' शब्दों का विशेष प्रयोग होता है।

करीब बारह सौ वर्ष बाद भी 'तेरे मेरे आओ' हिन्दी में ज्यों के त्यों प्रचलित हैं। १४ वीं शताब्दी में अमीर खुसरो ने हिन्दी भाषा की प्राचीनता के सम्बन्ध में अपने 'नुह सिपेहर' में लिखा है—

'अन्य भाषाओं के समान हिन्दुस्तान में भी प्राचीन काल से हिन्दवी भाषा बोली जाती थी। किन्तु गोरियों तथा तुरकों के आगमन के उपरान्त लोगों ने फारसी भाषा का भी ज्ञान प्राप्त कराना प्रारम्भ कर दिया। हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोली जाती हैं। सिन्धी, लाहौरी, काश्मीरी, कुबरी, धीर, समुद्री, तिलंगी, गूजरी (१७८-१७६) माबरी, गोरी, बंगाली तथा अवधी भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में बोली जाती हैं। देहली के आस-पास हिन्दुवी भाषा बोली जाती है जो कि प्राचीन काल से प्रचलित है।' (ख़िलजी कालीन भारत पृ० १८०)

खुसरो ने अपने प्रेमाख्यान 'आशिक' में लिखा है : 'जब मैंने खिजरखाँ के प्रेमाख्यान का आदि से अंत तक अवलोकन किया तो देखा कि इसके अधिकांश शब्द हिन्दी के थे। मैंने बहुत देर तक विचार किया कि इस सुकोमल-मखमल में टाट का पैबंद किस प्रकार

लगाऊँ। परन्तु चूँकि किसी न किसी प्रकार से इसका समिश्रण करना आवश्यक था, अतः मैंने समझा कि अनिवार्यता को कोई बुद्धिमान आदमी दोष नहीं मानेगा।

'मैं गलती पर था। अच्छी तरह सोचने पर हिन्दी भाषा फारसी से कम ज्ञात नहीं हुई। सिवाय अरबी के जो प्रत्येक भाषा की मीर और सबमें मुख्य है, रई और साम की भाषाएँ भी हिन्दी से घटिया मालूम हुईं। अरबी भाषा का क्षेत्र अलग है और कोई अन्य भाषा उसमें मिल ही नहीं सकती। फारसी भाषा की शब्दावली कमजोर है और बिना अरबी शब्दों के मिश्रण के उसमें रस नहीं आता। चूँकि अरबी विशुद्ध है और फारसी मिश्रित भाषा है, अतः यह कह सकते हैं कि यदि पहली भाषा आत्मा है तो दूसरी शरीर है। पहली में कुछ मिलावट नहीं हो सकती है और दूसरी में हर प्रकार की मिलावट हो सकती है। यदि अरबी का व्याकरण नियमबद्ध हो तो हिन्दी में भी उससे एक अक्षर कम नहीं है। जो इन तीनों (भाषाओं) का ज्ञान रखता है वह जानता है कि मैं न भूल रहा हूँ और न बढ़ाकर लिख रहा हूँ। और यदि पूछो कि उसमें अर्थ न होगा तो समझ लो कि उसमें दूसरों से कम नहीं है। यदि मैं सचाई और न्याय के साथ हिन्दी की प्रशंसा करूँ, तब तुम विश्वास करोगे या नहीं ?'

(भारती-सितंबर ५६ का अंक)

इससे हिन्दी भाषा की प्राचीनता और उसका महत्त्व भलीभाँति विदित हो जाता है। पहले और दूसरे उल्लेख का समयान्तर ५३० वर्षों का है। और इस बीच की कोई भी प्रामाणिक हिन्दी रचना अभी प्राप्य नहीं है।[१] अपभ्रंश से हिन्दी का विकास कैसे हुआ, इसको ठीक से समझने के लिए 'पृथ्वीराज रासो' एक मध्यवर्ती कड़ी अवश्य है ; क्योंकि सम्वत् १२५० के लगभग चंद बलद्दीय ने पृथ्वीराज और जयचंद सम्बन्धी जो पद्य बनाए उनमें से चार पद्य जैन विद्वानों की कृपा से पृथ्वीराज और जयचंद के प्रबन्ध में मिले हैं। उनकी भाषा पृथ्वीराज के समय की ही अपभ्रंश है और उनमें से तीन पद्य १७ वीं-१८ वीं शताब्दी के लिखे हुए रासो के लघुतम, लघु, मध्यम और बृहद् रूपान्तरों में मिलते हैं। अतः उनकी भाषा मूल से किस प्रकार परिवर्तित हुई इसका पता लग जाता है। वैसे, मेरे विद्वान् मित्र डॉ दशरथ शर्मा ने रासो का एक अंश अपभ्रंश में किस तरह परिवर्तित हो सकता है (याने मूल रूप से वर्तमान पाठ में भाषा का परिवर्तन किस प्रकार हुआ) इसका उदाहरण 'राजस्थान-भारती' में प्रस्तुत किया है। रासो की ऐतिहासिकता को लेकर जितना विचार किया गया है उसकी भाषा और साहित्यिक महत्त्व पर उससे अधिक विचार किया जाना चाहिए था जिससे हिन्दी भाषा के विकास पर कुछ नवीन प्रकाश पड़ता।

उपलब्ध खड़ी बोली के हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ खुसरो से ही माना जा सकता है। इसके पहले जो सिद्धों एवं गोरखनाथ की बोणियाँ प्राप्त हैं उनकी भाषा के सम्बन्ध में प्राचीन प्रतियों के आधार से उन्हें सम्पादित करने पर ही विचार हो सकेगा। खुसरो के थोड़े समय के बाद रचित एक हिन्दी जैन ग्रन्थ हाल ही में उपलब्ध हुआ है जो संवतोल्लेख

---

१. मुहम्मद तुगलक के प्रतिबोधक जैनाचार्य जिनप्रभसूरि रचित (?) चार भाषाओं के उदाहरणों में हिन्दी का नाम पूर्वी बोली है (दे० राजस्थान भा० ३, अंक ५)।

२. पुर्व जिनविजय जी द्वारा सम्पादित 'पुरातन प्रबंध संग्रह' में प्रकाशित।

वाली भारतीय ज्ञात हिन्दी रचनाओं में सबसे पहला ग्रन्थ है। उसका सम्पादन मेरे और श्री कस्तूरमल जी कासलीवाल द्वारा हो रहा है। सौभाग्यवश इस ग्रंथ की कई प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, पर उनसे यह जटिल समस्या भी उपस्थित हो गई है कि ग्रन्थ की विविध प्रतियों में उसके रचना काल सूचक सं० १३११, १४११, और १५११ तीन तरह के पाठ मिले हैं। कवि के सम्बन्ध में भी अभी तक किसी अन्य विद्वान् ने विचार नहीं किया है।

इस रचना का मुझे सबसे पहले परिचय सं० १९४७ में मिला, जब कि भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से श्री कामता प्रसाद जैन का 'हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ के प्राक्कथन में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा था कि इस पुस्तक में जैन 'गद्य साहित्य' की ओर भी उचित ध्यान आकर्षित किया गया है। इनमें श्री राम राय (?) रच्छ कृत 'प्रद्युम्न चरित' और मुँहता नेणसी की ख्यात उल्लेखनीय है। दूसरे ग्रन्थ का परिचय तो हिंदी जगत् को पहले भी मिल चुका है। किन्तु 'प्रद्युम्न चरित' जिसकी एक प्राचीन प्रति [सं० १६९८ की लिखी हुई] जैन मन्दिर, दिल्ली के शास्त्र भंडार में सुरक्षित है शीघ्र प्रकाश में आना चाहिए।

श्री कामता प्रसाद जैन के जिस विवरण के आधार पर अग्रवाल जी ने उपर्युक्त उल्लेख किया था वह विवरण पृ० १३५ में इस प्रकार दिया हुआ है—

"इस काल में गद्य-साहित्य का सिरजन भी होने लगा था, यद्यपि साहित्य-प्रगति का मुख्य माध्यम पद्य ही था। इस काल की गद्य में लिखी हुई केवल एक ही बड़ी कृति हमारे ज्ञान में आई है। वह है ७२ पत्रों में लिखा हुआ श्री शाहमहाराज पुत्र रायरच्छ कृत 'प्रद्युम्न चरित' नामक ग्रन्थ। इसकी एक प्राचीन प्रति सं० १६९८ की लिखी हुई श्री जैन मन्दिर, सेठ का कूँचा, दिल्ली के शास्त्र भंडार में मौजूद है।'

डॉ० अग्रवाल और श्री कामता प्रसाद के उपर्युक्त शब्दों को पढ़ते ही इस ग्रन्थ को मँगाकर देखने की मेरी उत्कट इच्छा हुई, क्योंकि गद्य में सं० १६९८ का लिखा हुआ मौलिक कथा ग्रन्थ प्राप्त होना बहुत महत्त्व की बात है। और, सं० १६९८ में तो इसकी प्रति लिखी गई थी, रचना तो उससे और भी पुरानी होगी। यह सोच कर मैंने तत्काल दिल्ली के मूक जैन-साहित्य सेवी श्री पन्नालाल जैन-अग्रवाल को लिखा और उन्होंने मुझे सेठ के कँचे के जैन भंडार से वह प्रति प्राप्त करके भेज दी। मैंने बड़ी उत्कंठा से उसके आते ही पढ़ना प्रारम्भ किया तो ज्ञात हुआ कि श्री कामता प्रसाद ने स्वयं इस ग्रन्थ को देखा नहीं। 'अनेकान्त' में प्रकाशित सूची के गलत उल्लेख के आधार से ही उन्होंने इसे 'गद्य' ग्रंथ लिख दिया। वास्तव में गद्य की इसमें एक पँक्ति भी नहीं, सारा ग्रंथ पद्य में है। अब, प्राचीन गद्य-ग्रंथ होने से मेरे मन में इसका जो महत्त्व था वह तो खत्म हो गया; पर ग्रन्थ को जब मैंने बारीकी से देखा, तो उसका महत्त्व और भी अधिक इसलिए जान पड़ा कि उसकी रचना सं० १४११ में हुई थी। हिन्दी में सम्वतोल्लेख वाला इतना प्राचीन ग्रन्थ दूसरा कोई अन्य ज्ञात नहीं। फिर मैंने इसके रचयिता के सम्बन्ध में ध्यान से पता लगाया तो ज्ञात हुआ कि कामता प्रसाद जी ने श्री शाहमहाराज पुत्र रायरच्छ कृत लिखा है वह नाम वास्तव में गलत है। रायरच्छ ग्रन्थकार का नाम नहीं ग्रन्थ के रचे जाने के स्थान का अशुद्ध

नाम है। जिस पद्य के आधार पर यह भयंकर भूल सूची बनाने वालों ने की वह पद्य इस प्रकार है।

मइ सामी कउ कियउ वखाणु। तुहिम्हि पजुन्न पायउ निरवाणु।
अगरवाल की मेरी जाति। पुर अगरोवइ तहि उतपाति॥७०७॥
सुधनुज जणणि गुण वइ उरि धरिउ। साहमहाराज घरहं अवतरिउ।
एयरछ नगवर संत नगर वसंते जाणि। सुणिउ चरितु मइं रचिउ पुराणु॥७०८॥

उपर्युक्त दो पद्यों का अर्थ है : मेरी-जाति अग्रवाल है, जिसकी उत्पत्ति अगरोवे नगर से हुई। मेरी माता का नाम गुणवइ [गुणवति] और पिता का नाम शाहमहाराज है। एयरछ नगर में बसते हुए मैंने इस चरित्र को सुनकर पुराण की रचना की।

इस पद्य के 'एयरछ' के प्रथम वर्ण 'ए' को 'रा' पढ़ लिया गया। अतः कवि का नाम 'रायरछ' समझ लिया गया। पिता का नाम महराज को 'महाराज' लिख दिया गया है। ग्रन्थ के अंतप्राय में रचना काल और कवि के नाम को सूचित करने वाला पद्य रहा करता है। वह न मिलने से दोनों बातें स्पष्ट नहीं हो सकीं। मैंने जब प्रारम्भिक पद्यों को ध्यान से पढ़ा तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि कवि का नाम और ग्रन्थ-रचना का सम्वत् उन पद्यों में प्राप्त हो गया। पद्य इस प्रकार है—

सारद विणु मत्ति कवित्तु न होइ। सरु अर करु नउ बूझै कोइ।
जो *सधारु* पणवै सरसुती। तिनकहु बुद्धि होइ कतहुती॥ १॥
सवु को सारद सारद कहइ। किस कउ अंतु न कोई लहइ।
जिण वर मुखह जुनि गायवाणि। सो सारद पाणवहु परिवाणि॥ २॥
अट्ठदल कमल सरोवर वासु। कासमीर पुरि लिउ निवास।
हंसि चडी कर लेखणि लेइ। कवि *सधारु* सरसइ पणवेइ॥ ३॥

पहले और तीसरे पद्य से कवि का नाम 'सधारु' स्पष्ट हो जाता है। ग्रन्थ के रचना काल का सूचक पद्यांश ११वाँ इस प्रकार है—

सरस कथा रसु उपइ घणाउं। निसुणहु चरितु पजुन्नह तणउ।
संवतु चउदह सइ इहुगए। उपरि अधिक *इग्यारह* भए॥ ११॥
भादव सुदि पंचमि जो सारु। स्वाति नषित्र सनीश्चर वारु।
जिण सासण महि कहियउ सारु। हरिसुव चरिउ करइ *साधारु*॥ १२॥

इन पद्यों में कवि ने अपना नाम 'सधारु' दुहराते हुए सं० १४११ के भादवा सुदि ५, स्वाति नक्षत्र, शनिवार को इस हरिकृष्ण के पुत्र के चरित्र के रचे जाने का स्पष्ट उल्लेख किया है।

सभा की खोज रिपोर्ट में किसी आगरे के अग्रवाल कवि की चर्चा है जिनकी पुस्तक प्रद्युम्न चरित्र बताई जाती है। उक्त पुस्तक की प्रति बाराबांकी के जैन मंदिर में सुरक्षित थी, किंतु वहाँ पूछने पर पता चला कि वह ग्रन्थ कलकत्ते से छपा है।

नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज रिपोर्ट में इस ग्रंथ का विवरण छपा है। परंतु उसमें ग्रंथकार का नाम अग्रवाल, आगरा निवासी बतलाया गया है। विवरण लेने वाले ने आगरो-वह को एक शब्द न मानकर आगरो और वह को अलग अलग पढ़कर ग्रन्थकार को आगरे का बतला दिया और कवि का नाम समझ में न आने से जो उसकी जाति का नाम अग्रवाल था, उसे ही कवि का नाम लिख दिया। यद्यपि जो विवरण लिया गया उसके पहले और दूसरे पद्य में कवि का नाम स्पष्ट रूप मे सधारु व साधार दिया हुआ है। "कवि सधारु सारद पण मेइ"। "सासरण देवा नमैं साधार"। बाराबांकी की जिस प्रति का विवरण सभा की खोज रिपोर्ट में छपा है वह ६२ पन्नों की है, सम्वत् १७६५ में लिखी गई है और पद्य संख्या ७०७ है। ग्रंथ के रचनाकाल वाले पद्य में भादव सुदी पंचमी के स्थान पर 'भादव वदी पंचम तिथि सार' पाठ है। प्रति काती सुदी पूनम सम्वत् १७६५ में धर्मा ऋषि द्वारा दिल्ली में लिखी गई है।

कुछ वर्ष पूर्व मुझे ग्वालियर में जर्मनी की जैन धर्म प्रेमी डा० काउजे से मिलने का अवसर मला। वे पहले उज्जैन के सिंधिया ओरिएंटल इन्स्टीट्यूट की क्यूरेटर थीं। उनके पास मैंने वहाँ की जैन हस्तलिखित प्रतियों की सूची देखी और उसमें प्रति नं० ४७१ में मुझे 'परदवणु चौपाई' सम्वत् १५११ रचित का उल्लेख पढ़ने को मिला। सिंधिया ओरिएंटल इन्स्टीट्यूट के क्यूरेटर श्री कात्रेजी से प्राप्त उक्त प्रति के विवरण को देखने पर ज्ञात हुआ कि उसके प्रारंभ के कई पद्य तो दिल्ली की प्रति से भिन्न हैं, पर अंत के पद्यों में कवि ने जो अपना परिचय दिया है वह सम्वत् १४११ वाले प्रद्युम्न चरित्र वाला ही है। उन्होंने उसके रचना काल सम्वत् १५११ की सूचना देने वाले पद्य को इस विवरण में नहीं भेजा, क्योंकि वह इस प्रति में १८ पद्यों के बाद आया है। मुझे विवरण से संतोष नहीं हुआ। बहुत प्रयत्न कर भंडार ओरिएंटल इन्स्टीट्यूट पूना के मार्फत जब वह प्रति प्राप्त हुई तो उसमें मुझे रचना काल सूचक पद्य का पाठ इस प्रकार मिला : "संवत् पंचसइ हुई गया। ग्यारहोत्तराभि अरुतह भया॥ भादव वदि पंचमि तिसारु। स्वाति नक्षत्र सनिश्चर वारु॥ १६॥

इस प्रति में प्रारंभ के बारह पद्य हैं। वे उसी क्रम से दिल्ली और बाराबांकी की प्रति के आरंभ में प्राप्त नहीं होते। सम्वत् १६३४ आसोज वदी ११ आदित्यवार को राजगज के उपाध्याय विनयसुन्दर के शिष्य भक्तिरत्न के शिष्य नयरत्न ने अपने लिए इस २४ पत्रों की प्रति को लिखा है। पद्य संख्या ७१३ है। पाठ-भेद की दृष्टि से इस प्रति का अपना महत्त्व है। नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से हिन्दी ग्रन्थों की शोध का कार्य गत वर्ष रीवां में भी हुआ और वहाँ के दिगंबर जैन मंदिर में भी इस ग्रन्थ की एक प्रति प्राप्त हुई जिसका विशेष विवरण श्री रघुनाथ शास्त्री ने मार्च १६५५ की "विन्ध्य-शिक्षा" के अंक में प्रकाशित अपने 'परदवन चरित्र' लेख में दिया है। उस प्रति के आधार से इस ग्रन्थ का परिचय देते हुए उन्होंने "इसके कर्त्ता गुण-सागर (जैन) आगरा निवासी सम्वत् १३११ वि० में हुए थे।" लिखते हुए इसको ७०१ वर्ष पहले का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना। इस लेख में उन्होंने ग्रन्थ का आदि अंत विवरण नहीं दिया। अतः उक्त विवरण सभा से मँगवाने पर विदित हुआ कि वास्तव में ग्रन्थ तो वही है, पर उसमें पीछे से किसी ने भाषा में परिवर्तन और कुछ पद्यों में न्यूनाधिकता कर दी है। अंत के उस पद्य को भी जिसमें कवि ने अपनी जाति, निवास

स्थान तथा माता पिता का परिचय दिया है, दो टुकड़ों में आगे पीछे कर दिया है और रचना काल का सूचक जो पद्य अन्य प्रतियों में ग्रंथ के प्रारंभ में है उसे अंत में दे दिया है। और संवत् चव्दहसइ के स्थान पर तेरहसइ पाठ परिवर्तित कर दिया है। "सुणिव चरित्र मय चरिउ पुराण" के स्थान पर "गुण सागर यह कियो बखान" पाठ बदल दिया है। इससे विवरण लेखक ने कवि का नाम "गुण सागर" मान लिया। पद्य संख्या इस प्रति में ७२७ है। प्रारंभ के जिन पद्यों में सधारु कवि का नाम था, उनको निकालकर मंगलाचरण का पद्य नया ही जोड़ दिया गया है। इन सब कारणों से इस रचना को श्री कस्तूरचंदजी कासलीवाल ने भी सम्वत् १४११ वाली रचना से भिन्न ही मान लिया। उन्हें भी रीवां वाले संस्करण की एक प्रति कामा के भंडार में मिली थी पर मैंने जब दोनों संस्करणों के कई पद्यों को ध्यान से मिलाया तो जांच करने पर स्पष्ट हो गया कि वास्तव में दोनों रचनाएँ एक ही हैं। रीवां वाले संस्करण में भाषा का पिछला रूप दिखाई देता है। इसलिए सम्वत् १४११ वाला संस्करण ही मूल है। उसी को पीछे से किसी ने परिवर्तित कर नया रूप दे दिया है।

ता० १८ मई के 'वीरवाणी' के अंक में श्री कस्तूरचंद कासलीवाल का "राजस्थान के जैन ग्रंथ भंडारों में उपलब्ध हिंदी-साहित्य" शीर्षक लेख छपा है, उसमें आपने सम्वत् १४११ में रचित प्रद्युम्न चरित्र की एक प्रति कुछ महीनों पूर्व जयपुर और दूसरी प्रति कामा के जैन भंडार में प्राप्त होने का उल्लेख किया है। कवि का नाम वे भी स्पष्ट नहीं कर पाए। एक प्रति सम्वत् १६०५ की लिखी हुई ६८२ पद्यों की है और दूसरी प्रति भी जिसमें पत्र २३ से २८ तक नहीं है, १७ वीं शताब्दी की लिखी हुई है। इसमें पद्य संख्या ७१६ दी है पर ७०० के बाद ७०१ के स्थान पर ७१० का अंक भूल से लिख दिया गया, इसलिए वास्तव में पद्य संख्या ७०७ ही है। ये दोनों प्रतियाँ प्राचीनता एवं पाठ की दृष्टि से विशेष महत्त्व की हैं। उनके अनुसार ग्रंथ का रचना काल, रचना स्थान और कवि के नामादि का परिचय देने वाले पद्य इस प्रकार हैं :—

सम्वत् १६०५ की लिखी प्रति का पाठ :—

सारद विणु मति कबितु न होई। सरु आखरु णवि बूझइ कोइ।
सो *सधार* पणमइ सरसुती। तिन्हि कहुँ बुधि होइ कइ कतहूति॥
हँस चढ़ि कर लेखवि देइ। कवि *सधार* सरसइपवणेइ॥३॥
अम्बमाइ रोहिणी जो सारु। सासण देवि नवइ *सधारु*॥५॥
संवतु चौदहसै हुइ गए। उपर अधिक *ग्याह* भए।
भादव दिन पंचइ सो सारु। स्वातिनक्षत्र सनीश्चर वारु॥११॥
अगरवाल की मेरी जाति। पुर अगरोए मुहि उतपाति।
सुधणु जणणी *गुणवइ* उर धरिउ। सा *महाराज* घरह अवतरिउ।
एरछ नगर वसंते जानि। सुणिउ चरित मइ रचिउ पुराण॥६७६॥

३२ पत्रों वाली दूसरी प्रति में थोड़ा पाठ भेद है। आवश्यक पद्यांश इस प्रकार हैं:—

(१) जो *सधारि* जणणी सरस्वती।
(२) जोइ *सधारि* पणवउं पणमेवि।

(३) सासा पणमो जोइ *सधार* ।
(४) संवत् *चउदसइग्यार* । ऊपरि अधिक भई *एग्यार* ।
भाद्रव सुदी नवमी जे सार । स्वाति नखीत्र शनीचर वार ॥

इसी पत्र के हशिये में पीछे से किसी ने अन्य प्रति के आधार पर इस पद्य के संशोधन के रूप में यह पाठ लिखा है :—

सम्बत् चौंदह सइ हुई गए । तिण ऊपरी अधिक ग्यारह थए ।
भाद्रव सुदी नोसार । स्वाति नक्षत्र शनीश्चर वार ॥
(५) *अगरवाल* की मेरी जाति । *अगरोवे* मेरी उतपाति ॥७०१॥
सधनु जणणि *गुणवइ* उद्धरिउ । साहु *महाराज* घरह अवतरिउ ॥
एलचि नयरि वसंत वजाणि । सुणिउ चरित हम करिउ वखाण ॥७०४॥

अभी तक इस ग्रन्थ की जयपुर, कामा, बाराबांकी, दिल्ली, इन चार स्थानों की प्रतियों में रचना काल सम्बन्धी पाठ सम्बत् १४११ का मिलता है, यद्यपि तिथि के पाठ में कुछ भिन्नता है । दिल्ली वाली प्रति में भादवा सुदी पंचमी, जयपुर वाली में केवल भादवा और पंचम का उल्लेख है । वदी सुदी के स्थान पर पाठ में दिन मिलता है । कामा की प्रति में भादवा सुदी नवमी पाठ है और बाराबांकी की प्रति में भादवा वदी पंचमी का पाठ है । वार और नक्षत्र सब प्रतियों में एक ही मिलते हैं । उज्जैन वाली प्रति में रचना काल के पाठ में चौदह के स्थान पर "पंचसइ" पाठ है जो स्पष्ट ही गलत है । इसे पंचहसइ समझ कर डा० काउजे और कात्रे आदि ने रचना काल १५११ लिख दिया, पर प्रति में "पंचसइ" शब्द स्पष्ट है । तिथि इसमें भादवा वदी पंचमी ही दी है । रीवां वाले परवर्ती संस्करण में चौदह सौ के स्थान पर "तेरह सौ" पाठ परिवर्तित कर दिया है और तिथि भादवा सुदी पंचमी ही दी है । इसी संस्करण की एक दूसरी प्रति कामा के भंडार में है । इन सात प्रतियों के आधार पर रचना काल की समस्या उलझ जाती है । पर मेरी राय में प्राचीन अच्छी और अधिक प्रतियाँ सम्वत् १४११ के पाठ को समर्थित करती हैं, इसलिए वही ठीक है । तिथि का निर्णय करने के लिए प्राचीन संवतों की जंत्री को देखा गया, पर वदी पंचमी, सुदी पंचमी और नवमी तीनों दिनों में शनिवार और स्वाति नक्षत्र नहीं पड़ता । मैंने अन्य कई प्रसंगों में भी इस प्रकार के जंत्री ग्रंथों द्वारा सम्वत् और तिथि सम्बन्धी समस्या को हल करने का प्रयत्न किया, पर अधिक सफलता नहीं मिली ।

कवि का नाम **सधारु** अब स्पष्ट हो गया है । उसकी जाति अग्रवाल थी जो कि अग्रोह नगर के नाम से प्रसिद्ध हुई । पिता का नाम शाह महराज और माता का नाम गुणवइ (गुणवती) था । रचना स्थान भिन्न भिन्न प्रतियाँ में **एरछ, एलचि, एयरछ, येरस (परिच,), छनचरि** मिला है, पर इनमें से एरछ या एरच पाठ ही ठीक मालूम देता है । अनुसंधान करने पर विदित हुआ कि मध्य प्रांत का **एलिचपुर** एक जिला है । शीतल प्रसाद जी के मध्य प्रांत के जैन स्मारक ग्रन्थ के पृष्ठ ४७ पर लिखा है कि एलिचनगर को राजा एल ने बसाया था । वह जैन था और संवत् १११५ में एलिचपुर जिले के किसी ग्राम से आया था । इस जिले का क्षेत्रफल २६०५ वर्ग मील है । एलिचपुर को अब संजमनगर कहते हैं ।

संभवतः प्रद्युम्न चरित्र का रचना स्थान यही एलिचपुर होगा। श्री नाथूराम जी प्रेमी ने लिखा है कि बुंदेलखंड में भी ऐसे ही नाम वाले किसी स्थान का उल्लेख पंडित परमानंद शास्त्री (जैन) ने किया है, पर परमानंद जी से पूछने पर उसका पता नहीं चल सका।

इस ग्रंथ की जैन भंडारों में और भी प्रतियाँ प्राप्त होना संभव है। सात प्रतियों की उपलब्धि से स्पष्ट है कि इसका प्रचार अच्छे रूप में था और किसी पिछले व्यक्ति ने उसकी पुरानी भाषा कठिन समझ कर परिवर्तित भी की है। यह हिंदी भाषा के ज्ञात और उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थों में से एक है, इसलिए इसका प्रकाशन नितांत आवश्यक है। ऐसे और भी जितने प्राचीन ग्रंथ, छोटे या बड़े, गद्य या पद्य के जो भी मिलें सुसम्पादित होकर प्रकाशित होने चाहिए। तभी हिंदी भाषा के क्रमिक विकास और साहित्य की परम्परा का ठीक से परिचय मिल सकेगा।

रामानन्द सम्प्रदाय के हिन्दी कवि

डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव, ज्ञानपुर

प्रस्तुत निबंध के माध्यम से जिन कवियों का परिचय रसज्ञों को कराया जा रहा है, उनमें से एक भी प्रथम श्रेणी का कवि नहीं है और अधिकांश कदाचित् द्वितीय श्रेणी में भी नहीं रखे जा सकते, किन्तु रामभक्ति के विकास का इतिहास उनकी रचनाओं के बिना अधूरा एवं अपूर्ण ही रहेगा और हिन्दी-साहित्य की राम-भक्ति शाखा उनके बिना सूनी सी ही रह जाती है। रामानन्द-सम्प्रदाय के इन कवियों की संख्या यों तो शताधिक है, किन्तु उनमें अग्रदास, नाभादास, कृपानिवास, बालअली, रामचरणदास, युगलप्रिया, युगलानन्यशरण, जनकराज किशोरीशरण, मधुरअली, रामसखे, कामदेन्द्रमणि, रसरंगमणि, सूरकिशोर एवं बनादास के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रथम नौ कवियों का सम्बन्ध रामानन्द सम्प्रदायान्तर्गत 'रसिकशाखा' से है; दूसरे तीन कवियों की भक्ति सख्य भाव की थी, सूरकिशोर जी वात्सल्य भक्ति के प्रवर्तक थे तथा बनादास रामानन्द-पंथानुयायी ही रहे। हिन्दी में रामभक्ति-शाखा का कोई भी प्रमाणिक इतिवृत्ति अभी तक नहीं प्रस्तुत किया जा सका है। अतः इन कवियों के सम्बन्ध में हमारे साहित्य के प्रायः समस्त इतिहास ग्रन्थ मौनावलम्बन मात्र ग्रहण करते हैं। प्रस्तुत निबंध में उनके जीवन तथा उनकी स्थापनाओं पर संक्षिप्त प्रकाश डालना ही अभीष्ट है। उनकी विचारधारा पर प्रकाश डालना यहाँ संभव न हो सकेगा।

माधुर्यभक्ति के सर्वप्रथम प्रवर्त्तक अग्रदास जी माने जाते हैं। 'भक्तमाल' में नाभादास जी ने उन्हें बहुत बड़ा भजनानन्दी, सदाचारनिरत और भगवच्चरणानुरागी कहा है। कहा गया है कि अग्रदेव ने अपने ही हाथों एक पुष्पवाटिका लगाई थी, जिसे भगवान् राम का प्रमोद वन मान कर ये बहुत प्रेम करते थे। ये कृष्णदास पयोहारी जी के शिष्य थे। गुरु से इन्हें मनसा, वाचा और कर्मणा तीनों ही प्रकार की भक्ति प्राप्त हुई थी। प्रियादास जी के अनुसार आमेर का राजा मानसिंह भी कभी इनसे मिलने आया था, किन्तु समाधि मग्न होने के कारण ये उससे मिल न सके। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' के अनुसार अग्रदास जी के पदों में वाल्मीकि जैसी मधुरता थी। श्री वासुदेव शरण के अनुसार अग्रदास शील के आचार्य थे। उनकी रचनाओं में भक्ति, रसिकता, दम्पति-विलास आदि छलका पड़ता है। रास-सागर की तो ये नौका ही थे। अग्रदास जी अपने गुरुभाई कील्ह की आज्ञा मानकर ही रेवासे (राजपूताना) आए थे। वहीं इन्होंने 'लली-लाल' का एक मंदिर बनवाया और नाभा जी को उनकी सेवा में नियोजित कर दिया। शयन-कुंज, मज्जन-कुंज, भूषण-वसन-निकुंज आदि की भी अग्र जी ने रचना की। कहा जाता है उन्होंने रास-मंडलियों का भी संगठन किया।

अग्रदास के शिष्य नाभादास महात्मा तुलसीदास जी के समकालीन थे और स्वयं अग्रदास आमेरराज मानसिंह के समकालीन थे, अतः उनका समय विक्रम की १६ वीं शताब्दी के अन्त और १७ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में माना जा सकता है।

अग्रदास के नाम पर अनेक ग्रन्थों का प्रचलन हो गया है। 'रसिकप्रकाश भक्तमाल के अनुसार इन्होंने शृंगाररस सागर, ध्यानमंजरी, अष्टयाम, कुंडलिया, पदावली आदि ग्रन्थों की रचना की थी। पं० रामचन्द्र शुक्ल जी ने अग्रदास जी की एक अन्य रचना का भी उल्लेख किया है। जिसका नाम है 'हितोपदेश उपखाणां बावनी।' इस समय इन ग्रन्थों में ध्यानमंजरी, रामध्यानमंजरी, अष्टयाम और कुंडलिया आदि ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। संभव है शेष ग्रन्थों की उपलब्धि रैवासे में हो जाय।

'रामध्यानमंजरी' या 'ध्यानमंजरी' में अष्टयामीय पूजापद्धति के अनुकूल भगवान् रामचन्द्र के ध्यान का वर्णन किया गया है। 'अष्टयाम' में अष्टयामीय उपासना का विस्तार से वर्णन मिलता है और कुंडलिया ग्रन्थ में नीति एवं उपदेश सम्बन्धी छन्दों का संकलन किया गया है। रामानन्द-सम्प्रदाय में माधुर्यभाव के उपासकों को अग्रदास जी के ग्रन्थों से पर्याप्त पथ निर्देश मिलता है।

अग्रदास जी के शिष्यों में नाभादास जी का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। इनकी सिद्धता से प्रसन्न होकर ही अग्रदास जी ने उन्हें 'भक्तमाल' की रचना करने का आदेश दिया था। प्रियादास जी के अनुसार ये 'हनुमानवंशी' थे। बाल्यावस्था में वे नेत्रहीन थे। जब ये पाँच वर्ष के थे, देश में बहुत बड़ा अकाल पड़ा। इनकी माँ इन्हें किसी जंगल में छोड़कर चली गईं। वहीं अग्र और कील्ह को ये प्राप्त हुए थे। कहा जाता है कील्ह की कृपा से उन्हें अपने नेत्र फिर मिल गये। मुंशी तुलसीराम और तपस्वीराम जी के मतानुसार हनुमान वंश के प्रवर्त्तक समर्थ रामदास जी थे। इस वंश के लोग गान विद्या में बड़े निपुण होते हैं और प्रायः राजदरबार में ही रहते हैं। रीवां नरेश रघुराजसिंह के अनुसार नाभा जी 'लांगूली द्विज थे-'सो शिशु लांगूली द्विज केरो।' उनके मत से हनुमान वंश का अर्थ है 'लांगूली ब्राह्मण।' एक अन्य मत से ये डोम थे। रूपकला जी के मतानुसार पश्चिमी में डोम कलावन्त, ढाढ़ी, भाट, कत्थक आदि के समकक्ष ही हैं, भंगी नहीं। नाभा जी ने लाखा भक्त का परिचय देते हुए उन्हें वानरवंशी लिखा है। प्रियादास जी ने लाखा भक्त को अपना सिर मौर कहा है 'लाखा नाम भक्त ताको वानरो बखान कियो कहै जग डोम जासों मेरो सिर मौर है।' इन लाखा भक्त के यहाँ संतों का प्रसाद पाना भी कहा गया है। रूपकला जी के अनुसार भक्ति की वृद्धि के लिए शंकर जी ने हनुमान का स्वेद नभ से गिराया। इसी से उत्पन्न होने के कारण इनका नाम 'नभभूज' या नाभा पड़ा। नाभा जी का प्रथम नाम नारायणदास था। प्रियादास के मत से इन्हें 'नामो अली' के भी नाम से पुकारा जाता था।

नाभा जी को 'गोस्वामी' पद से सं०१६५२ वि० में कान्हरदास के भंडारे में विभूषित किया गया। 'भक्तमाल' की रचना सं० १६३१ वि० और सं० १६८० वि० के बीच हुई थी। इनकी आज्ञा पाकर ही सं० १७१६ वि० में भक्तमाल की प्रसिद्ध टीका श्री प्रियादास जी ने लिखी थी। प्रियादास ने तो नाभा जी को त्रिकालज्ञ तक माना है।

'रसिकाप्रकाश भक्तमाल' में उन्हें विलक्षण रसिक कहा गया है। नाभा जी के ग्रन्थों

में भक्तमाल' के अतिरिक्त एक 'अष्टयाम' नामक ग्रन्थ की भी परिगणना की जाती है, जिसके दो रूप आजकल मिलते हैं, एक ब्रजभाषा गद्य में और दूसरा ब्रजभाषा पद्य में। इसमें अष्टयामीय उपासन-पद्धति पर विशेष प्रकाश डाला गया है। 'भक्तमाल' तो इनका अपूर्व ग्रन्थ है ही।

माधुर्यभाव के तीसरे प्रमुख कवि हैं कृपा निवास। कुछ लोगों के मत से ये माधुर्यभाव के प्रथम आचार्य थे। 'रसिकप्रकाश भक्तमाल' के अनुसार इन्होंने ही माधुर्य भक्ति में तत्सुख-विधान किया था। ये सखी-भाव के उपासक थे तथा रैवासे जाकर इन्होंने भक्ति की दीक्षा ली थी। उन्होंने श्रियाचार्य से पूर्व रीति-प्रीति के सम्बन्ध में बहुत कुछ सुना था। पर्याप्त काल उन्होंने उज्जैन में ही बिताया था। सीतामढ़ी, अवध और मिथिला में भी ये बहुत समय तक रहे थे। ये चारुशीला के उपासक थे और कहा जाता है कि स्वयं हनुमान ने प्रसन्न होकर इन्हें दर्शन दिया और अपने को साक्षात् चारुशीला कहा था। उज्जैन में महादेव सिंधिया उनके शिष्य हो गए थे।

कृपानिवास के प्रमुख ग्रन्थ हैं 'अनन्यचिंतामणि', 'अष्टकाल समय भजन निधि', 'पदावली', 'भावनापच्चीसी', 'युगलमाधुरीप्रकाश', 'रासपद्धति', 'लगन पच्चीसी', 'समयप्रबंध', 'सीतारामाष्टयाम' और 'इतिहंगिणी' आदि। 'रसिकाप्रकाश भक्तमाल' में इनके 'वर्षोत्सव' और 'रामरसामृतसिंधु' दो ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। खेद है इनमें से अधिकांश अभी तक प्रकाश में नहीं आ सके हैं। प्रकाशित ग्रन्थों में 'अष्टयामीय उपासना पद्धति', में रासोत्सव एवं भगवान् राम के सीता एवं उनकी सखियों के प्रति प्रेम का वर्णन है। इस वर्णन में कवि ने अश्लीलता की भी सीमा छू ली है।

माधुर्यभाव के कवियों में बालअली जी का भी नाम बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है। इनका सम्बन्ध राजपूताने से था। जीवन वृत्त इनका अज्ञात सा ही है। इनकी प्रसिद्ध रचना है 'नेह प्रकाश' जिसमें भगवान् की माधुर्योपासना से सम्बन्धित अनेक सुन्दर पद संगृहीत हैं।

आधुनिक-युग में माधुर्यभाव के प्रवर्त्तक थे अयोध्या के जानकी घाट के महंत बाबा रामचरणदास। ये मणिराम की छावनी के महंत राम प्रसाद (दीनबंधु) जी के शिष्य थे। इन्होंने तुलसी के गुप्त शृंगार को प्रकट किया था। कुछ लोग इन्हें गोस्वामी जी का अवतार भी मानते थे। गुरु ने इन्हें 'युगल उपासना' का मंत्र दिया था, किन्तु उन्होंने मिथिला, चित्रकूट, अवध आदि की विस्तृत यात्रा करने के पश्चात् रैवासे जाकर मानसी रहस्यपोषक ग्रन्थों को ही चुना और अवध लाकर अष्टयामीय भक्ति का प्रचार किया। सं० १८८८ माघ शुक्ल नवमी को ये रैवासे से अपने गुरु के यहाँ आए थे। आधुनिक काल में माधुर्य भक्ति इन्हें पाकर पर्याप्त पल्लवित हुई।

बाबा रामचरणदास अनेक ग्रन्थों के रचयिता कहे जाते हैं, किन्तु इनके अधिकांश ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे गए हैं। हिन्दी अनुवाद भी उन्होंने अपने इन संस्कृत ग्रन्थों का किया था। इस कारण उनका प्रचार विशेष हो सका है। इनके पद्य-संग्रहों में 'रसमासिका' 'नामशतक' और 'अष्टयाम' आदि प्रमुख हैं। 'अष्टयाम' में अष्टयामीय पूजा-पद्धति पर प्रकाश डाला गया है, रसमासिका में रास, बसंत, झूला आदि से सम्बन्धित पद मिलते हैं और 'नामशतक' में भगवान के नाम-स्मरण का महत्त्व वर्णित मिलता है।

रामचरणदास के प्रधान शिष्य थे युगल प्रिया जी। ये छपरा के महत्मा शंकरदास के पुत्र थे। शंकरदास जी दैवज्ञ शोभाराम जी की छोटी स्त्री के पुत्र थे। उन्होंने अवध बदरीनाथ और उज्जैन आदि की तीर्थ-यात्राएँ की थीं। उज्जैन में किसी अवधूतिन से उन्होंने व्याह भी कर लिया था। जीवाराम जी इसी के चौथे पुत्र थे। अपने पिता की आज्ञा मान कर वे महात्मा रामचरणदास जी के यहाँ अवध आए थे। जीवाराम जी का विश्वास 'स्वसुख' में नहीं था, अतः उन्होंने अपनी शाखा अलग चलाई और उसका नाम 'तत्सुखी' शाखा रखा। इनके मत से एक पत्नीव्रतधारी भगवान् राम के साथ स्वसुख न तो संभव ही है और न उचित ही।

जीवाराम जी ने सं० १८६६ में अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसिकप्रकाश भक्तमाल' की रचना की थी। नाभा जी के 'भक्तमाल' के पश्चात् के प्रायः सभी प्रमुख रामानंदी भक्तों का इसमें समावेश हो गया है। इसी कारण उन्हें 'द्वितीय नाभा' भी कहते हैं। इनके अन्य ग्रन्थों में अष्टयाम, पदावली और युगल प्रिया आदि प्रसिद्ध हैं जिनमें अष्टयामीय उपासना के अनुरूप पदों का संकलन किया गया है। जीवाराम जी की शिष्य-परंपरा बहुत ही पल्लवित हुई है। अयोध्या लक्ष्मण किला के महंत युगलानन्य शरण जी इन्हीं के प्रिय शिष्य थे।

युगलानन्यशरण जी सखी भाव के बहुत बड़े प्रचारक थे। १८५७ ई० के पूर्व ये फ़ैज़ाबाद में गुप्तारघाट पर रहते थे। किन्तु शीघ्र ही उन्हें यह स्थान छोड़ना पड़ा। फिर ये अयोध्या जी चले गए और वहाँ उन्होंने लक्ष्मणकोट की स्थापना की। इन्होंने चित्रकूट में रहकर बहुत समय तक तप किया था, इन्हीं के आदेश से रीवांनरेश रघुराज सिंह ने चित्रकूट में प्रमोदवन तथा अनेक क्रीड़ा-कुंजों का निर्माण करवाया था। लक्ष्मण किला में इनके लगभग ७० ग्रन्थ सुरक्षित हैं जिनमें से अधिकांश का प्रकाशन अभी तक नहीं हो सका है। 'उज्ज्वल उत्कंठाविलास', 'अवधविहार' 'चतुष्ट गुटिका', 'उत्सवविलासिका' 'जानकी सनेह हुलास', 'सीताराम नाम प्रकाश', 'प्रेमपरत्वप्रभा दोहावली', 'मधुरमंजुमाला : इश्कखंड', 'अर्थपंचक', 'नामकांति' आदि ग्रन्थ प्रकाश में आ चुके हैं। युगलानन्यशरण जी ने ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, मोक्ष, मोक्ष-प्राप्ति के उपाय, अवधमाहात्म्य, नामस्मरण, अष्टयाम, माधुर्यभक्ति, झूला, विरक्ति, वैष्णवोपयोगी निर्णय, विनय, नीति, आदि विषयों पर अनेक मधुर पदों की रचना की है। इनकी भाषा में अरबी फ़ारसी के शब्दों का पर्याप्त प्रयोग मिलता है।

भगवान् राम के रूप, लीलाधाम और गुणों के उपासकों में जनकराजकिशोरी शरण का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये रहनेवाले तो थे सुदामापुरी के, किन्तु किसी सन्त के साथ अवध आ गए थे। 'करुणासिंधु' जी के शिष्य होकर ये 'रसिक अली' नाम से विख्यात हुए। 'कनकभवन' का निर्माण इन्हीं की देख-रेख में प्रारम्भ हुआ था। माधुर्यभाव के पोषक होने के नाते इन्होंने कारीगरों को घुँघरू पहनाकर मंदिर बनाने का आदेश दिया। बीच-बीच में ये उन्हें भरपूर जलपान भी कराते चलते थे, फलतः व्ययाधिक्य होता देखकर उन्हें उस कार्य से हटा दिया गया। आवेश में आकर ये मिथिला चले गए। शेष जीवन उन्होंने वहीं बिताया। सावनहिंडोल, रास, व्याह, होली, जन्मदिन आदि उत्सवों में उनकी अपार प्रीति थी। इनके सम्बन्ध में उन्होंने अनेक पदों की रचना की है, जिनकी संग्रह इनके अष्टयाम,

'सीतारामसिद्धान्तअनन्यतरंगिणी', 'आत्मसंबंध', 'अन्दोलरहस्यदीपिका', 'सीतारामसिद्धान्त-मुक्तावली' आदि ग्रन्थों में किया गया है।

माधुर्य भाव के अन्य कवियों में मधुर अली जी का नाम भी बड़े ही सम्मान से लिया जाता है। अयोध्या के विद्वान् पं० रामरक्षा त्रिपाठी 'निर्भीक' ने इनके जीवन एवं साहित्य के सम्बन्ध में पर्याप्त खोज की है, किन्तु यह सामग्री अब तक अप्रकाशित ही है। ये सखी-भाव के उपासक थे और इनका मुख्य निवास-स्थान अयोध्या ही था।

ऊपर माधुर्य भाव के कवियों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। सखा-भाव से संबंधित कवियों में रामसखे, कामदेन्दुमणि, श्यामसखे और रसरंगमणि का विशेष उल्लेखनीय स्थान है। रामसखे दक्षिण में मैहर के निवासी थे। गुरु के साथ ही गलताँ (राजस्थान) जाकर ये रास-रस में डूब गए। फिर तो गुरु ने भी उन्हें अली भाव ले लेने की आज्ञा दे दी। वहाँ से कामदवन (चित्रकूट) आकर उन्होंने राम-जानकी के दर्शन किए और वहीं वे लि-कुंज, वन, तड़ाग, वाटिका आदि बना कर रहने लगे। पुनः शरभंग, अत्रि, अगस्त्यादि के आश्रमों का दर्शन करते हुए वे पंचवटी गए और वहाँ मैहर में उन्होंने पुनः गुरु के दर्शन किए। कुछ समय के पश्चात् वे पुनः चित्रकूट लौट आए और वहाँ उन्होंने रास का प्रचार किया। फिर, अवध और मिथिला का दर्शन किया। कहा जाता है मिथिला में सोमवट के नीचे उन्होंने राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के दर्शन किए और स्वयं राम को सीता की सखियों (गोप कन्याओं) से दान लेते हुए भी देखा। राम की वंशी-ध्वनि भी उन्होंने सुनी। रामसखे ने मानलीला, दानलीला तथा सखी-सखा दोनों ही भावों से सम्बन्धित पदों की रचना की है। वे चारुशीला के उपासक थे। उनके पदों में भगवान् के नाम, धाम, रूप और लीला को बहुत महत्त्व दिया गया है। कहा जाता है कि उन्होंने १२ वर्ष तक तप करके भगवान् राम के दर्शन की प्रतिज्ञा की थी, किन्तु बीच में ही उन्हें कामदगिरि पर अपने आराध्य के दर्शन हो गए। 'रामसखेपदावली', 'नृत्यगघवमिलन' 'दोहाकवित्त' और 'जानकी नौरत्नमाणिक्य' आदि उनके प्रमुख ग्रन्थ हैं। उनके शिष्यों में चित्रनिधि, प्रेमसिंधु और शीलनिधि आदि प्रमुख भक्त कवि हुए हैं।

रामसखे के परिवार में कामदेन्दुमणि ने 'सीतारामभद्र केलिकादंबिनी' की रचना की है। कामदेन्दुमणि ने सखा-भाव से ही सम्बन्धित पदों की रचना की है। उनके शिष्यों में सर्व प्रमुख थे सीतारामशरण रसरंगमणि। इनका निवास स्थान अवध ही था। सं० १९५७ में उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना अवध में सरयू के तट पर बैठ कर की थी। उनके ग्रन्थों में 'रामध्यानमंजरी', 'अष्टयाम', 'जानकीयशावली', 'रामानन्दयशावली', 'हनुमतयशतरंगिणी', 'रामरसरंगबिलास', 'सीतारामझूलाविलास', 'सीताराममानसीपूजा', 'श्रीरामझांकीविलास', 'सरयूरसरंगलहरी', 'सरयूबारहमासी' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। रसरंगमणि की भाषा बड़ी ही प्रौढ़ है। हिन्दी के अनेक कवियों के साहित्य से इनका परिचय था। उनकी रचनाओं का प्रभाव भी इनके ग्रन्थों पर पड़ा प्रतीत होता है। फलतः इनके छन्द अधिक प्रौढ़, सरस एवं चुस्त हैं। इस दृष्टि से रामानन्द सम्प्रदाय के कवियों में इनका विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया है।

वात्सल्य भाव के भक्तों में सूरकिशोर का प्रमुख स्थान है। सियाजू इनकी कन्या के

रूप में अवतरित हुई थीं। मिथिला में मणिभूमि में इन्होंने उपास्य स्थल प्रकट किया था। ये कील्ह स्वामी के पौत्र शिष्य थे। 'लली-लाल' को ये दिन रात रिझाया करते थे। कामदगिरि, अवध तथा जनकपुर में ये बहुत दिनों तक रहे थे। विदेहराज की ही भाँति इन्होने सीताराम का विवाह किया था। कमलानदी के तट पर रह कर ये राम का भजन किया करते थे। वहीं इन पर 'सुखमेघ' की वृष्टि हुई थी। अवध ये कम आते थे, क्योंकि 'लली' का संकोच इन्हें असह्य था।

सूरकिशोर ने अनेक सुन्दर पदों की रचना की है जो 'मिथिलाविलास' तथा 'सूर-किशोर जी के ग्रन्थ' नामक संग्रहों में संगृहीत हैं।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त 'रामप्रकाश' के रचयिता श्यामसखे तथा 'सीतायन' के लेखक श्रीराम प्रियाशरण की गणना भी सम्प्रदाय के मान्य कवियों में होती है। इधर हाल में बनादास नाम के एक अन्यकवि का पता चला है, जिनका सम्बन्ध अयोध्या के भवहरण कुंज से था। डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह ने इनकी खोज की है। बनादास के ग्रन्थों में 'अर्जपत्रिका', 'आत्मबोध', 'उभयप्रबोध', 'खंडनखगसमस्यावली', 'नामनिरूपण', 'परन्तु,' 'ब्रह्मायण', 'तत्त्वनिरूपण', 'ब्रह्मायणद्वार', 'ब्रह्मायणपरामभक्ति', 'ब्रह्मायणपरमात्मबोध', 'ब्रह्मायणविज्ञान छत्तीस ब्रह्मायणशालिसुवृत्ति', 'ब्रह्मायणरागमुक्तावली', 'मायामुक्तावली', रामछटा', 'रामायण', 'विवेकमुक्तावली', 'सारशब्दावली', 'हनुमतविजय' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

ऊपर रामानन्द सम्प्रदाय के कुछ प्रमुख कवियों का संक्षिप्त परिचय मात्र दिया गया है। संभव है इनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रसिद्ध कवि भी हों जो अभी तक प्रकाश में न आ सके हों। इस संप्रदाय का अधिकांश साहित्य अभी तक अप्रकाशित ही है और इन हस्तलिखित ग्रन्थों का कोई केन्द्रीय पुस्तकालय भी नहीं है। केवल लक्ष्मण किला ही एक ऐसा स्थान है जहाँ इन कवियों में कुछ की रचनाएँ सुरक्षित हैं। हिन्दी शोध-कर्त्ताओं का कर्त्तव्य है कि वे राम-भक्ति से सम्बन्धित इस विशाल साहित्य को राजपूताना, काठियावाड़, पंजाब, अयोध्या, चित्रकूट और मिथिला आदि केन्द्रों के विभिन्न मठों की छानबीन करके प्रकाश में लाएँ और हिन्दी जनता के सम्मुख उनका विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करें। मुझे विश्वास है इस साहित्य से न केवल हिन्दी साहित्य के एक प्रमुख अंग की पुष्टि ही होगी, अपितु राम-भक्ति के विकास पर पर्याप्त प्रकाश भी पड़ेगा।

सन्त आन्दोलन की मूल प्रेरणा

डॉ० शैलकुमारी, प्रयाग विश्वविद्यालय

ईसा की १३ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध ने भारत में एक विराट् देश-व्यापी जन आंदोलन को जन्म दिया। कहना न होगा कि यह आन्दोलन उन निर्गुणिया सन्तों का था जो प्रायः समाज के निम्न वर्गों से उठ कर सहसा वेद मार्ग, ब्राह्मण पौरोहित्य, रूढान्ध परम्पराओं और समाज में प्रचलित दुष्ट भेद-भाव की प्रवृत्ति के विरुद्ध खड़े हो गए थे। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की धारणा है कि "अगर इस्लाम न भी आया होता तो भी हिन्दी साहित्य का १२ आना वैसा ही रूप होता जैसा आज है।" किन्तु ऐसी कल्पना निश्चय ही इस मूलभूत सिद्धान्त की अवहेलना करती है कि समय और उसके वातावरण का साहित्य से अनिवार्य सम्बन्ध होता है। सन्त आन्दोलन निश्चय ही समय की माँग था और अपने युग की राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक घटनाओं तथा परिस्थितियों का अनिवार्य फल था। लगभग अरबों के आक्रमण से लेकर मुगलों के आगमन तक का युग भारतीय राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन में बहुत ही उथल-पुथल का युग था। मुगलों ने अपनी धार्मिक नीति में परिवर्तन किया था, इसका प्रमाण यह है कि पूर्ववर्ती मुस्लिम आक्रमण-कारियों के विपरीत बाबर ने अपनी सेना को जनता को नुकसान न पहुँचाने का आदेश दिया था और भारतवासियों को भी आक्रमण से पूर्व एक संदेश भेजा था जिसमें स्पष्ट कर दिया था कि उसका लक्ष्य देश की सत्ता अधिकृत करना है, बरबादी करना नहीं।[१] हुमायूँ और अकबर की नीति भी उदार थी। अकबर ने तो इस क्षेत्र में विशेष रूप से प्रयास किया। इसी का फल था कि अनेक हिन्दू राजा मुगल दरबार में आ गए थे और मनसबदार बन गए थे। बनारसीदास जैन जैसे अकबर के प्रेमी कवि हिन्दू-मुस्लिम समन्वय की भावना का प्रतिपादन करते हुए कहते थे—

"एक रूप हिन्दू तुरुक दूजी दसा न कोय।
मन की द्विविधा मान कर भए एक सों दोय॥"

परंतु औरंगजेब मुगलों की उदार धार्मिक नीति का काला धब्बा था। इस तथ्य की तीखी अनुभूति कवि भूषण ने इस छन्द में व्यक्त की थी :—

"आदि को न जानौ, देवी देवता न मानों, साँच
कहूँ जो पिछानो बात कहत हों अबकी।

१—H. G. Rawlinson—India, a short cultural History pp. 283-4.

बब्बर अकब्बर हिमायूँ हद बीधि गए
हिन्दू और तुरुक की कुरान बेद उबकी।
इन पातसाहन में हिन्दुन की चाह हुती
जहाँगीर साहजहाँ साख पूरे तब की।
कासी हूँ की कला गई मथुरा मसीत भई,
सिवाजी न होतो तो सुनति होती सबकी॥" [१]

अरब तथा तुर्क आक्रमणकारियों तथा दिल्ली के अधिकांश तुर्क शासकों की नीति धार्मिक अनुदारता की थी। इतिहासकार सरदेसाई उनकी नीति के सम्बन्ध में सार रूप में कहते हैं : "पहले भी कुछ विदेशी विजेता भारत में रहे थे, पर वे शीघ्र ही हिन्दू समाज में घुल मिल गए थे। किन्तु ये नवीन तुर्की धर्म प्रचारक कुछ दूसरी ही तरह के थे। वे केवल राजनैतिक सत्ता को हस्तगत करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए, वे भारत के मैदानों पर केवल विजेता और लुटेरों के रूप में नहीं उतरे, वरन् क़ाफ़िरों के देश में अपने धर्म का प्रसार करने पर उतारू जेहादी योद्धाओं के रूप में आए। वे नियमित रीति से अपने धर्म को जनता पर बलात् लादने में तत्पर हो गए। हिन्दू मन्दिर तोड़े गए, उनकी सुन्दर कला-कृतियों का विध्वंस हुआ, मूर्तियां नष्ट हुईं, शिल्प-सौन्दर्य के नमूने विनाश के ग्रास हुए, प्रस्तर लेख मिटा दिए गए। इस प्रकार के ध्वंस से प्राप्त सामग्री से उन्होंने मस्जिदें बनाईं, कुफ्र को मिटाने और भारतीय जनता को इस्लाम के दामन में समेटने के लिए इन हृदयहीन और असभ्य धर्माधिकारियों ने हिन्दू धर्म के सार्वजनिक प्रदर्शन की मनाही कर दी, तथा उसके अनुयायियों को कठोर दंड दिए। हिन्दुओं को अच्छे कपड़े पहनने की इजाज़त नहीं थी और न भले आदमियों की तरह रहने और वैभवशाली दीखने की अनुमति थी। उन पर विक्षुब्ध कर देने वाले कर लगाए जाते थे और उनके अध्ययन और ज्ञान के केन्द्र बरबाद किए जाते थे।"[२]

भारतीय हिन्दू जो "यो यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" में विश्वास करता चला आया था, जिसकी भारत भूमि में ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, शैव और वैष्णव साथ-साथ फल फूल रहे थे, ग्रीक, शक, कुशन, हूण आदि अनेक विदेशी जातियाँ आकर जिसकी संस्कृति में घुल मिल गई थीं और समाज का प्रतिष्ठित अंग बन गई थीं, जो धर्म-प्रसार का साधन तार्किक वाद-विवाद के द्वारा किसी को विश्वस्त करना ही जानता था,[३] वह धर्म के इस हिंसात्मक प्रचार को देख कर आश्चर्यान्वित रह गया। मुस्लिम न केवल मैदान के शत्रु थे, वरन् विचार और संस्कृति के भी शत्रु थे। वे न तो पूर्ववर्ती आक्रमणों के समान भारतीयों में घुलने-मिलने को आए थे और न अपने दर्शन और संस्कृति से भारतवासियों को प्रभावित करके और अपने साहित्य और तर्क से उन्हें विश्वास करके अपने में मिलाने का इरादा रखते थे। उनका तो नारा था धर्म-परिवर्तन या मौत। फलस्वरूप अनेक हिन्दू जबरन धर्म परिवर्तन के शिकार हुए होंगे। अनेक ने मृत्यु के भय से और अनेक ने कट-कट कर बोझ के नीचे पिसने के डर से शासक का धर्म, इस्लाम कर स्वीकार कर लिया

१—शि० बा, १६।
२—G. S. Sardesai—New History of the Marathas, Chap I p. 26.
३—Risley—The People of India, chap. V. p. 217.

हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। मलिक काफ़ूर और अमीर खुसरो भी सम्भवतः इसी घटनाचक्र के दास रहे होंगे। किन्तु इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मध्ययुग धर्म का युग था। धर्म मध्ययुगीन व्यक्ति के जीवन और विचार का प्रधान अंग था। इसका प्रमाण यूरोप में मध्ययुग में रोमन कैथलिक चर्च तथा लैटिन क्रिश्चियनिटी के प्रचार और प्रसार के प्रयासों तथा तत्कालीन भावधारा के क्रिश्चियन धर्म से आक्रान्त होने भी मिलता है। मध्ययुग के अध्येता श्री D.H. Taylor लिखते हैं—"Typical mediæval emotion, which was religious cast itself around the Gospel of Christ and theology of the Fathers as studied and pondered on in the mediæval centuries."[1] बीसवीं शती के युवक के लिए धर्म और सम्प्रदाय उतने अधिक आकर्षण नहीं रखते जितने मध्ययुगीन युवक के लिए रखते थे। वह धर्म से ऊपर राष्ट्र और राष्ट्र से भी ऊपर मानवता को महत्त्व देता है, उसके लिए हिन्दू की जगह मुस्लिम या ईसाई नाम रख लेने, गांधी टोपी की जगह तुर्की टोपी पहन लेने, चोटी रखने या न रखने, मंदिर की जगह मस्जिद या गिर्जे में चले जाने, गीता की जगह कुरान या बाइबिल पढ़ने में कोई अंतर नहीं है। इससे वह अपने धर्म या व्यक्तित्व पर कोई आघात होता हुआ नहीं अनुभव करता। आज वह अपनी बुद्धि और ज्ञान की, सहानुभूति और संवेदना की सीमाएं विस्तृत करने के ही लिए अधिक उत्सुक है। इसमें सन्देह नहीं कि यह उदार दृष्टिकोण आधुनिक युग की लोकतांत्रिक विचारधारा का ही फल है।[2] आज के दृष्टिकोण के विपरीत मध्ययुग का प्राण धर्म ही था। राष्ट्रीयता की भावना का उदय तो तब तक हुआ नहीं था; भारत में उसका विकास १६ वीं शती के उत्तरार्ध में होता है। मध्ययुग में भारत जैसे विराट् देश को यदि एक सूत्र में बाँधने वाली कोई भावना थी तो हिन्दू धर्म की ही थी। डाक, तार, रेल-यात्रा सम्बन्धी सुविधाओं के अभाव में वह सम्बन्ध भी बहुत स्वस्थ और संगठित नहीं हो सका। प्रायः व्यक्ति अपने और अपने ही धर्म को देख पाता था। भारत आज के दृष्टिकोण से नहीं सोच पाता था। यही कारण है कि इस्लामी अत्याचार के विरुद्ध ऐसा कोई सुसंगठित आन्दोलन न हो सका जैसा ब्रिटिश राज्य की अतियों के विरुद्ध भारतीय राष्ट्रीयता का आन्दोलन हुआ, जो स्वतंत्रता प्राप्ति तक, लगभग ६२ वर्षों तक अनवरत रूप से जागरूक रहा। मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन को हम भारतीय जनता के हित में उठा हुआ ऐसा ही आन्दोलन कह सकते हैं। अन्तर इतना है कि इसमें देश और राष्ट्र की भावना के स्थान पर जाति और धर्म की भावना प्रेरक थी। किन्तु यह एक महत्त्वपूर्ण सत्य है कि वह एक देशव्यापी सुधार आन्दोलन था और प्रायः मध्यवर्ग और निम्नवर्ग से उठा था। इसमें कोई सन्देह नहीं जान पड़ता कि वह तत्कालीन शासक जाति के अत्याचार की प्रतिक्रिया के रूप में था और भारतीय जनता की नैतिक तथा समाजिक

१—O. H. Taylor—The Mediæval Mind, Chap. I, p. 18.

२—आधुनिक युग की विचारधारा के परिवर्तन का वर्णन करता हुआ स्वेन लिखता है : "The natural, the human and the sensual were given precedence over the ascetical, the supernatural, and the theological."—A History of World Civilization, p. 302.

स्थिति सुधारना उसका प्रधान लक्ष्य था। इस्लामी अत्याचार की भारतीय प्रतिक्रियाओं की परीक्षा करके हम स्पष्टतः इस तथ्य को समझ सकेंगे।

पहले हम उन प्रतिक्रियाओं को लेते हैं जो राजनैतिक क्षेत्र में अवतरित हुईं; किन्तु प्रायः धर्म की पृष्ठभूमि को लेकर चलीं थीं। इस वर्ग में वे विद्रोह और आन्दोलन आते हैं जो मुस्लिम सत्ता के विरुद्ध किसी राजा के नेतृत्व में हिन्दू जनता द्वारा उठाए गए।[१] राजस्थान के राजपूत राजाओं ने लगभग चार सौ वर्षों तक मुस्लिम शासकों से कड़ा लोहा लिया। इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद अनेक हिन्दू राजा विद्रोह में उठ खड़े हुए थे। नासिर-उद्दीन महमूद के राजत्व काल में बलबन ने अनेक विद्रोही हिन्दू राजाओं को पाशविकता से दबाया था। मुहम्मद तुग़लक के विरुद्ध पूरे दक्षिण के हिन्दुओं ने विद्रोह किया था, जिसके सम्बन्ध में लिखते हुए सरदेसाई कहते हैं : "यह ध्यान देने की बात है कि आगे आने वाले औरंगजेब के विरुद्ध शिवाजी के विद्रोह के ही समान मुहम्मद तुग़लक के विद्रोह में होने वाले इस हिन्दू विद्रोह के कारण भी राजनैतिक की अपेक्षा सांस्कृतिक अधिक थे।[२] मध्ययुग की यही प्रवृत्ति आगे चल कर औरंगजेब के राजत्व काल में होने वाले वैरागियों के आन्दोलन, गुरुगोबिन्द सिंह द्वारा नानक साम्प्रदाय में युद्ध प्रवृत्ति के प्रवेश और अकाली आन्दोलन, दुर्गादास और शिवाजी के विद्रोह से प्रमाणित होती है।" शिवाजी के सम्बन्ध में सरदेसाई स्पष्टतः कहते हैं : "इनका प्रमुख लक्ष्य राज्य विस्तार नहीं, वरन् धार्मिक स्वातंत्र्य प्राप्त करना था। वे सम्पूर्ण भारत में हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए सबसे आगे आए होते। दादाजी नरुस प्रभु को अपने एक पत्र (१६४५ ई०) में उन्होंने अपनी राष्ट्रीय योजना को स्पष्टतः 'हिन्दू स्वराज्य' कहा था। इसमें उनका तात्पर्य था कि वे समस्त देश में हिन्दू धर्म का स्वराज्य स्थापित करना चाहते थे। अपने एक दान पत्र में संभाजी शिवाजी को 'हैन्दव धर्म-उद्धारक कहते हैं।'[३] "यह धर्म रक्षक बनने की भावना निश्चित रूप से इस्लाम के सम्पर्क का ही फल थी। प्राचीन काल में उत्तर के भागशिवों और गुप्तों तथा दक्षिण के पल्लव और चोल जैसे अत्यन्त धर्मनिष्ठ और रूढ़ि-प्रिय राजाओं ने भी कभी अपने को जाति रक्षक नहीं कहा था। यद्यपि वे व्यक्तिगत आचार में धर्मनिष्ठ थे, तथापि धर्म का संरक्षण अथवा उसका क्रियात्मक समर्थन उनका कर्तव्य है यह उनकी विचारधारा से अपरिचित दृष्टिकोण था। किन्तु हम्मीर और कुंभा, कृष्णदेवराय और रामराय के लिए तो यह एक प्रमुख कार्य बन गया। इस्लाम के फलस्वरूप धार्मिक विश्वास उनकी नीति का प्रमुख अंग बन गया।"[४] यह कथन सरदार पणिक्कर का है जो पुस्तक के पिछले पृष्ठों में इस मत का प्रतिपादन कर चुके हैं कि मुस्लिम आक्रामक केवल मात्र राजनैतिक मंतव्यों को लेकर भारत में आए, भारत में भारतीय बन कर रहे, उन्होंने हिन्दुओं पर धार्मिक अत्याचार नहीं किए[५]। इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं : (१) मुस्लिमों की धार्मिक कट्टरता को देख कर हिन्दुओं ने

१—Ishwari Prasad—Mediæval India, p. 574.

२—Sardesai—A new history of the Marathas, p. 29.

३—Sardesai—A new history of the Marathas, Vol I. chap. XII, p. 267.

४—K. M. Pannikar—Mediæval India, p. 761.

५—वही, p. 157, 7, 156.

भी धार्मिक कट्टरता अनुकरण के रूप में सीखी तथा (२) मुस्लिम शासकों की धार्मिक असहिष्णुता के प्रति प्रतिशोध भावना हिन्दुओं में जागरित हुई और वे असहिष्णु हो उठे। इस प्रकार मुस्लिम आक्रामकों और शासकों की धार्मिक नीति ने हिन्दू राजाओं में भी धार्मिक चेतना को जगा दिया।

यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि मध्ययुग में भारत में राष्ट्रीयता की भावना का तो अभाव ही था। इसी को लक्ष्य करके कवि भूषण ने कहा था : "आपस ही की फूट ते सारे हिन्दुवान टूटे।" इसीलिए उत्तर और दक्षिण के हिन्दू राजाओं के विद्रोह व्यक्तिगत ही होकर रह गए। यदि वे प्रयास संयुक्त तथा आपसी समझौते पर आधारित होते तो भारत का इतिहास दूसरा होता।

हिन्दुओं की राजनैतिक प्रतिक्रियाओं को देखने के बाद हम उनकी सामाजिक एवं धार्मिक प्रतिक्रियाओं पर दृष्टिपात करेंगे। भारतीय उदारता के प्राचीनतम प्रमाणों का अभाव नहीं है। मनु ने ग्रीक आदि विदेशियों (यवनों) की गणना व्रात्य क्षत्रियों में की थी। मुसलमानों के प्रथम आगमन के बाद भी उस उदारता का सर्वथा अन्त नहीं हो गया था। दक्षिण भारत के विस्तृत राष्ट्रकूट राज्य से अरब लोग पूर्णतया अभिज्ञ थे। उन्होंने वहाँ के राजा का नाम "बल्लहरा" (बल्लभराय) लिखा है। मसौदी (मृत्यु सन् ९५६ ई० के लगभग) लिखता है : "सिन्ध और भारत के राजाओं में से कोई भी मुसलमानों की इज्ज़त बल्लहरा से अधिक नहीं करता। उसके राज्य में इस्लाम की इज्ज़त और रक्षा की जाती है।[१] किन्तु—और यह एक बहुत बड़ा किन्तु है—हम इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकते कि भारतवासियों ने आक्रामकों और तदनन्तर शासकों के रूप में आने वाले इन नवागंतुकों की धर्मान्धता और धार्मिक अत्याचार को सर्वथा अभूतपूर्व पाया था। भारतीय विचारधारा के सम्बन्ध में रिज़ले ने लिखा है : "रहस्यवादी तथा अनुभूतिपूर्ण श्रद्धा के भाव से सम्पन्न होने के कारण तथा महान् दर्शन के गूढ़ उपदेशों पर आधारित होने के कारण हिन्दू धर्म बलात् धर्म परिवर्तन अथवा धर्म के हिंसात्मक प्रचार की प्रवृत्ति से अनभिज्ञ है। वह अपने लक्ष्य की पूर्ति दूसरी रीति से, कुछ अधिक सौम्य ढंग से करता है जिसकी तुलना इस भौतिक जगत् के किसी तत्त्व से करना कठिन है।"[२] ऐसी परम्परा को धारण किए हुए भारतवासी मुसलमान के व्यवहार को देख कर आश्चर्य और क्षोभ से भर गए। राजनैतिक क्षेत्र में वे अपने क्षोभ को अभिव्यक्त करने में विशेष सफल न हो सके। जब तलवार से हिन्दुत्व की रक्षा उन्होंने असम्भव देखी तो वे अपनी संस्कृति के चारों ओर मज़बूत किले बन्दी करने में जुट गए; कट्टरता ने कट्टरता को जन्म दिया, नफरत ने नफरत को। दर्शनीय यह है कि इस प्रतिक्रिया में भारतवासियों का रुख आक्रामक का न होकर आत्मरक्षक का था। "हिन्दू" शब्द का इतिहास यहीं से शुरू होता है। इससे पूर्व कोई भी "हिन्दू" कह कर अपना परिचय नहीं देता था। प्राचीन संस्कृत या पाली ग्रन्थों में इस शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। वेदों में "सप्तसिन्धु" शब्द आता है जो अवेस्ता में उच्चारण-भेद से

१—अ० अ० यूसुफ अली—मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था, तीसरा भाषण, पृ० ५६।

२—Peoples of India, Chap. V, p. 217.

"हस हिन्दु" हो गया। पारसीक गण "सिन्धुवासी" को ही "हिन्दु" कहते थे :[१] अर्थात् "हिन्दु" शब्द व्यक्ति के धार्मिक विश्वास का द्योतक न होकर उसके निवास स्थान की सूचना देता था, जैसे आज हम फ्रांस के रहने वाले को "फ्रांसीसी" और अमरीका के रहने वाले को "अमरीकी" कहते हैं। किन्तु जब इन नवागत विदेशियों से जिनका प्रमुख स्तंभ इस्लाम धर्म था, विभेद करने की समस्या उठी तो "हिन्दू" शब्द अपने धार्मिक लबादे के साथ प्रकट हुआ, और उसके साथ-साथ वेद-बाह्य अत्याचारी विदेशियों को "म्लेच्छ" कहा जाने लगा। आत्म-रक्षा और स्वधर्म-रक्षा की भावना से प्रेरित होकर इस युग के धर्म और शास्त्र के ज्ञाताओं का ध्यान विशेष रूप से सामाजिक और नैतिक व्यवस्था की ओर गया और फलस्वरूप स्मृतियों की अनेक टीकायें और भाष्य बनने लगे। मुसलमानों के आगमन से जिस नई सामाजिक स्थिति का जन्म हुआ था उसका सामना करने के लिए भारतीय समाज व्यवस्था के प्रमुख आधार स्मृति ग्रन्थों के नए-नए भाष्यों की रचना होने लगी।[२] इस युग में नवीन स्मृति ग्रन्थों की रचना तो न हो सकी, टीकायें ही लिखी गईं। नवीं शती से लेकर पंद्रहवीं शती तक स्मृतियों की इतनी अधिक टीकायें और भाष्य बनना उस युग की मनोदशा का परिचायक है। ९ वीं शताब्दी में मेधातिथि तथा देवल ने स्मृति-भाष्य लिखे। दोनों को ही धर्म-परिवर्तन की नवीन समस्या का सामना करना पड़ा। उनके सामने वे अभिजात वर्गीय लोग भी थे जिन्हें दास बना लिया गया था। देवल स्मृति उन लोगों के लिए जिनका बलात् या छल से धर्म परिवर्तन किया गया हो, विस्तृत नियमावली निर्धारित करती है।[३] मेधातिथि ने "धर्म" शब्द की व्याख्या की है। "धर्म" शब्द के बदलते हुए अर्थों से भी इस युग की संकुचित होती हुई मनोवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है। परवर्ती टीकाकार इन्हीं संकुचित अर्थों में "धर्म" शब्द का प्रयोग करते हैं। ११ वीं शताब्दी में गोविन्दराज ने मनुस्मृति की, विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य स्मृति की प्रसिद्ध व्याख्या "मिताक्षरा" की रचना की तथा देवस्वामी ने "स्मृति समुच्चय" की रचना की। १२ वीं शती में कन्नौज में लक्ष्मीधर ने प्राचीन स्मृतियों के आधार पर "कृत्य कला कल्पतरु" नामक निबन्ध ग्रन्थ लिखा। इसी शताब्दी में जीमूतवाहन ने "काल विवेक" और "दायभाग" की रचना की; अपरार्क ने "याज्ञवल्क्यीय धर्मशास्त्र" निबन्ध लिखा; दक्षिण में श्रीधर ने "स्मृत्यार्थसार" की रचना की; अनिरुद्ध ने "हारलता" की रचना की जिसमें शुद्धि की समस्या पर विशेषरूप से विचार किया; बंगाल में राजा बल्लासेन ने "आचार सागर" की रचना की। १३ वीं शताब्दी में देवाननभट्ट ने "स्मृति चंद्रिका" लिखी और हरदत्त ने गृह्यसूत्रों पर टीकायें बनाईं; हेमादि ने अपने प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "चतुर्वर्ग-चिन्तामणि" की रचना की; बंगाल में मनुस्मृति के सर्व प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूक ने अपनी "मन्वर्थ मुक्तावली" लिखी; मिथिला में श्रीदत्त उपाध्याय ने "आचारादर्श" लिखा। १४ वीं शताब्दी में चंडेश्वर ठाकुर

१—इस सूचना के लिये डॉ० उदयनारायण तिवारी की आभारी हूं।

२—A Volume of Studies in Indology, p. 24, Edited by J. H. Katre and P. K. Gode.

३—वही

ने ७ भागों में "स्मृत्ति-रत्नाकर" की रचना की[1]। विजयनगर में माधव ने "कालनिर्णय" नाम से पाराशर स्मृति की टीका लिखी; विश्वेश्वर ने "मदन-पारिजात" नाम से स्मृति की रचना की। १५ वीं शताब्दी में पद्मदत्त भट्ट, विद्यापति उपाध्याय और वाचस्पति मिश्र ने मिथिला में स्मृतियों की टीकायें लिखीं; बंगाल में रघुनन्दन मिश्र ने "व्यवहार तत्त्व" की रचना की।

स्मृतियों के भाष्यों, टीकाओं और निबन्धों की उल्लिखित सूची पूर्ण है यह कहना असम्भव है। अनेक टीकाओं या टीकाकारों के तो उल्लेख मात्र ही किन्हीं अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं; जैसे लक्ष्मीधर ने अपने "कल्पतरु" में "कामधेनु" का उल्लेख किया है, जिसका रचना काल सम्भवतः ११ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध था; "मिताक्षरा" में धार नगरी के राजा भोज के धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ का उल्लेख किया गया है। इसका रचना काल भी ११ वीं शताब्दी माना गया है। जीमूतवाहन ने बंगाल के बालक और जितेन्द्रिय नामक टीकाकारों का उल्लेख किया है। मेधातिथि नवीं शताब्दी में ही आनेवाले युग को देख रहा था और इसीलिए स्मृतियों की गणना करते समय वह भविष्य में भी प्रामाणिक स्मृतियाँ रची जाएंगी ऐसी सम्भावना प्रकट करता है।

इस्लामी आक्रमण के बाद बरसाती मशरूमों की तरह सहसा ढेर के ढेर उचित होने वाले इन स्मृतिकारों और टीकाकारों का लक्ष्य छिपा नहीं है। नई सामाजिक समस्यायें उनके सामने थीं; हिन्दू बलात् मुसलमान बनाये जा रहे थे, उन्हें हिन्दू समाज में वापस लेने न लेने का सवाल था; विदेशियों से, जो विधर्मी भी थे, किस प्रकार का सम्बन्ध रखा जाए यह भी प्रश्न था ; यह सत्य है कि हिन्दू वर्ण-व्यवस्था की नींव बहुत पुरानी थी; किन्तु प्राचीन और सुनिश्चित होने पर भी उसमें उस कट्टरता का अभाव था जो मुस्लिम सम्पर्क के बाद आरम्भ हुई। श्री हरिदत्त वेदालंकार लिखते हैं—

"मध्यकाल के सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी विशेषता प्राचीन वर्ण व्यवस्था का वर्तमान जात-पाँत का रूप ग्रहण करना था।"[2] हिन्दुत्व का जो उदार दायरा था, जिसमें अनेक विदेशी जातियाँ आकर घुलती-मिलती रहीं थीं, अनेक अनुलोम और प्रतिलोम विवाह होते रहे थे, पेशा, खान, पान और विवाह आदि के सम्बन्ध में लचीले बन्धन थे, वह सहसा संकुचित और कठोर होने लगा। भारतीय समाज में मुसलमानों की और उनके द्वारा बलपूर्वक करवाये गए धर्म-परिवर्तन की समस्याओं ने नई परिस्थिति को जन्म दिया। अब परिस्थिति वैसी नहीं थी जब एक ऋषि ने क्षत्रिय कुमारी से विवाह किया था (छांदोग्य उप०) अथवा जब शान्तनु ने एक मल्लाह की पुत्री को पत्नी बना लिया था, अथवा वशिष्ठ ने अक्षमाला और मंदपाल ने शारंगी नामक शूद्र कन्याओं से विवाह किया था, अथवा ब्राह्मण कवि राजशेखर ने (लगभग ९०० ई०) क्षत्रिय कुमारी से विवाह किया था। तब इस प्रकार के विवाहों के बावजूद हिन्दू धर्म अथवा जाति पर कोई आघात नहीं पहुँचता था। जब प्राचीनकाल में अनेक विदेशी आक्रमण होते रहे थे तब भी यह परिस्थिति अवश्य रही होगी कि विदेशी

---

१. चण्डेश्वर ठाकुर के सम्बन्ध में "दानरत्नाकर" का कथन है कि उन्होंने म्लेच्छों की बाढ़ से संसार को बचाया। इस कथन से तत्कालीन स्मृतिकारों का उद्देश्य और दृष्टिकोण और भी स्पष्ट हो जाता है।

२. हरिदत्त वेदालंकार—भारत का सांस्कृतिक इतिहास, ११ वाँ अध्याय, पृ० १७७।

आक्रामक भारतीय कन्या से विवाह करले या भारतीय राजा ग्रीक, सिथियन या हूण कन्या को अपना ले। सच तो यह है कि ऐसा बलात्कार अथवा स्वेच्छा से होता ही रहा होगा। किन्तु तब अन्तर्देशीय, अन्तर्प्रान्तीय अथवा अन्तर्जातीय विवाहों का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं था—हिन्दू धर्म अनाहत, अक्षत था। किन्तु नवीन परिस्थितियों में यह बात नहीं रही। अब जब मुसलमानों ने हिन्दुओं को बलपूर्वक कलमा पढ़वाया अथवा हिन्दू स्त्रियों से बलात् निकाह किया—मुहम्मद बिन कासिम ने दाहर की पुत्रियों को जबरन अपनाना चाहा, अलाउद्दीन ख़िलजी ने देवलदेवी को तथा तुग़लकशाह ने राणा मल्ल भट्टी की पुत्री को बलात् छीना—तब हिन्दू जाति सकते में आगई, उसे अपने धर्म और जाति के लुप्त होने का भय होने लगा। रिज़ले ने स्पष्ट किया है कि "किसी जाति की उन्नति अथवा किसी राष्ट्र के निर्माण में जो तत्त्व सबसे अधिक कार्य करते हैं वे हैं अन्तरविवाह सम्बन्धी नियम तथा परपराएं।"[१] फलतः इस युग के स्मृतिकारों ने अपने समय की समस्याओं को देख कर हिन्दू संगठन की रक्षा की दृष्टि से विवाह के प्रतिबन्धों को कठोर बना दिया। फलतः १३ वीं श० से निबन्धकारों ने असवर्ण विवाह को कलिवर्ज्य कह कर इसकी निन्दा करनी शुरू की। "स्मृति-चन्द्रिका" (१२००-१२२५) तथा हेमाद्रि ने भी इसका विरोध किया। बाद में रघुनन्दन और कमलाकर ने भी इसे कलिकाल से निषिद्ध ठहराया और यह व्यवस्था हिन्दू समाज में सर्वमान्य हो गई।[२] इतना ही नहीं "यह भी ध्यान देने योग्य है कि बाद में हिन्दू विवाह में वर्ण की ही नहीं किन्तु उपजाति की समानता भी आवश्यक समझी जाने लगी।"[३] इसके अतिरिक्त अनेक उपजातियों की सृष्टि हुई। ६०० ई० से १००० तक ब्राह्मण विभिन्न जातियों में नहीं बँटे थे, उनमें शाखा और गोत्र का ही भेद था। ११ वीं शताब्दी से उनमें प्रदेश तथा पेशे के आधार पर भेद किए जाने लगे। इनका अनुकरण क्षत्रियों तथा वैश्यों ने भी किया। उपजातियाँ बनाने और उनके अन्दर शादी करने का नियम संक्रामक रोग की तरह समाज के सब वर्गों में फैल गया। हिन्दू समाज ३०० उपजातियों में बँट गया।"[४]

इस प्रकार धर्मशास्त्रकारों ने जाति-भेद के कठोर नियमों द्वारा हिन्दू जाति और धर्म का किला सुदृढ़ करना चाहा, जिससे इस्लाम उसे भेद न सके। "धर्म परिवर्तन की समस्या के कारण स्मृतियों का प्रायश्चित्त वाला अंश अधिक महत्त्वपूर्ण होता गया। एक ओर जातिगत नियमों को कठोर बना कर आत्मरक्षक भाव से स्वधर्म-त्याग को कठिन बनाया जा रहा था, तो साथ ही दूसरी ओर जिन लोगों को बलात् धर्म परिवर्तन करना पड़ा था उनको वापस लेने के नियम भी बनाने ही थे।[५] सन् १३४० ई० के लगभग हरिहर और बुक्का मुसलमान होने के बाद पुनः हिन्दुत्व में दीक्षित कर लिए गए थे। ऐसे अन्य उदाहरणों की कमी नहीं रही होगी। फलतः उस जमाने की सामाजिक विचारधारा द्विमुखी और कुछ आत्म विरोधी जैसी प्रवृत्तियों से युक्त दिखाई पड़ती है। एक ओर अपनी समाज व्यवस्था की किलेबन्दी करते हुए

---

१. Risley-The People of India, Chap. II, p. 154

२. हरिदत्त वेदालंकार— भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० १७०

३. " " " " " " " "

४. " " " " " " " "

५. K. M. Panikkar—Mediaeval India, पृ० १६६

अपने नियमों को कठोर बनाने की धर्म परिवर्तन के प्रति तीखी प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है, और दूसरी ओर नवोत्पन्न समस्याओं को जिनका मूल शास्त्रकारों मनु आदि को तो ख्याल भी न आया होगा, सुलझाने का प्रयास भी दिखाई पड़ता है। शास्त्रकारों का झुकाव प्रथम की ओर अधिक जान पड़ता है।

१० वीं, ११ वीं शताब्दी से हिन्दू धर्म के नेताओं ने जो शादी-ब्याह, खान-पान और जाति-उपजाति सम्बन्धी नियमों की कड़ाई और कट्टरता बढ़ाई तथा जो तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिस्थिति उत्पन्न हो गई उसका सीधा सम्बन्ध नारी की स्थिति से था, क्योंकि प्रत्येक जाति की शुद्धता का निर्वाह नारी की सुरक्षा पर अवलम्बित है। इस सुरक्षा के जो तत्कालीन उपाय समाज ने सोचे वे गलत भले ही रहे हों, पर वे एक संकट-ग्रस्त जाति के प्रयास थे इसमें सन्देह नहीं। वे प्रयास थे : (१) बाल-विवाह, (२) सती और जौहर की प्रथायें, (३) बालिका वध और (४) पर्दा प्रथा। एक हिन्दू सुन्दरी कन्या पर किसी मेच्छ की आँख पड़े और वह बलात् छीनी जाए और इस प्रकार वह अपने धर्म की घातक बने, इस कलंक से अच्छा यह है कि शीघ्रातिशीघ्र उसके उत्तरदायित्व से मुक्ति ले ली जाए। मनु का "अष्टवर्षा भवेद् गौरी" मूलमंत्र के रूप में समाज पर छा गया। पति की मृत्यु के उपरान्त अरक्षित नारी को लोग जिन्दा जलाने लगे; पुत्री की रक्षा करना अत्यंत कठिन था, अतः उसे पैदा होते ही बताशे के साथ स्वर्ग का पथ दिखाने लगे और अपने घर की स्त्रियों की कुलीनता की रक्षा के लिए, विधर्मियों की कुदृष्टि से बचाने के लिए उन्हें सुदृढ़ दीवारों के पीछे, पर्दे में रखने लगे। पर्दा प्रथा शासक वर्ग की विशेषता भी थी, इसलिए वह बड़ी शीघ्रता से विजित और शासित देश में फैल गई।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने इस्लाम के प्रति भारत में होने वाली सामाजिक प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण किया है। धार्मिक क्षेत्र में भी कुछ महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रियायें हुई। रामानुज, मध्व, निम्बार्क, विष्णुस्वामी, वल्लभ, रामानन्द आदि आचार्यों ने वैदिक मार्ग के कठिन रूप को समयानुकूल न समझ, हिन्दू धर्म के एक सरल, सहज-ग्राह्य, लोकप्रिय और आकर्षक रूप को सामने रखा। वैदिक धर्मगत कर्मकांड के विरोध में सबसे पहले उत्तर वैदिक काल में राजा वसु ने "एकान्तिक धर्म" का प्रतिपादन किया था और उसके बाद उपनिषदों ने यज्ञों का विरोध करके ज्ञानमार्ग का निर्देश किया था। ये दोनों प्रयास जन-आन्दोलन का रूप धारण नहीं कर सके और न उन्होंने धर्म के प्रसंग में सामाजिक वर्गों की बात ही उठाई। वे मुख्यतः दार्शनिकों और आचार्यों के वाद-विवाद मात्र थे और ब्रह्म की सत्ता, आत्मा के रूप आदि का ही दार्शनिक विश्लेषण करते थे। ११-१५ शताब्दियों के बीच विकसित होने वाले भक्ति आन्दोलन ने आचार्यों की दार्शनिक व्याख्याओं के सहारे जन-आन्दोलन का रूप धारण किया। आचार्यों ने भी अपने युग और समाज की माँग को दार्शनिक चिन्तन मात्र में भुलाया नहीं। कठिन समय में इन आचार्यों ने हिन्दू धर्म को जन-ग्राह्य बना कर क्षय का ग्रास होने से बचा लिया। इन आचार्यों में से कई ने अपने विचारों के प्रचारार्थ समस्त भारत की यात्रायें भी कीं। एक बात ध्यान देने की है कि ई० पू० ६ ठी शताब्दी में बौद्ध और जैन आचार्यों ने जो सुधार आन्दोलन परंपरागत ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध उठाए थे, जिन्हें ९वीं शताब्दी में शंकराचार्य के प्रयासों ने भारत भूमि से बहुत कुछ लुप्त कर दिया था, उन आन्दोलनों के

अनेकों तत्त्वों को अपना कर ११-१५ शताब्दियों के मध्य उदित होने वाले आचार्यों ने ब्राह्मण धर्म को एक नूतन रूप प्रदान किया और यह भक्ति आन्दोलन भी सुधार आन्दोलन बन गया। अहिंसा, बाह्याचार का निषेध, जाति-भेद के निराकरण की भावनाओं को प्रमुख रूप से उठा कर वह वैदिक धर्म की परम्परा में रहता हुआ भी एक ओर छठी शताब्दी ई० पूर्व के धर्म सुधार आन्दोलन से सहज सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और दूसरी ओर वैदिक धर्म के गूढ़ ज्ञान को समझने में असमर्थ, समझ कर प्राचीन धार्मिक वातावरण के अभाव में अपने धार्मिक ज्ञान को प्रकट करने में सीमाबद्ध, विदेशी धर्म के दबाव में घुटती हुई भारतीय जनता को त्राण प्रदान करता है। वल्लभाचार्य ने 'कृष्णाश्रय' नामक प्रकरण ग्रन्थ में अपने युग की परिस्थितियों का वर्णन करते हुए कष्ट-कृच्छ्र साधना को असम्भव बताया। इसी प्रकार अन्य आचार्यों तथा भक्त और संतों ने भी परमात्मा की सहजानुभूति, आन्तरिक ज्ञान तथा एकमात्र भावभक्ति का ही प्रचार किया। शासन की ओर से धर्म के सार्वजनिक प्रकाशन पर प्रतिबन्ध लगने का ही यह परिणाम था। इस्लाम-प्रचार के उत्तर में इस युग के भारतीय विचारकों के दो प्रधान अस्त्र थे :—

(१) नालंदा आदि प्राचीन शिक्षा केन्द्रों के विध्वंस के पश्चात् संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की सुविधायें ज्यों-ज्यों कम होती गईं, त्यों-त्यों जनसाधारण उससे दूर होता गया, उसे समझने में असमर्थ होता गया। इस प्रकार धर्म के गूढ़ रहस्यों से परिपूर्ण संस्कृत के ग्रंथों का अध्ययन केवल कुछ आचार्यों तक ही सीमित रहने लगा। धर्म-संघर्ष जनित खतरे को देख कर धर्म-सुधारकों ने अत्यन्त बुद्धिमानी से उपदेश और धर्म प्रचार की भाषा में परिवर्तन आरंभ किया, संस्कृत छोड़ कर जन-भाषा का प्रयोग आरंभ किया। इस प्रक्रिया का आरंभ लगभग १३ वीं शती से माना जा सकता है, जब ज्ञानेश्वर ने संस्कृत को छोड़ कर मराठी में अपने उपदेशों का प्रचार किया। रामानन्द का नाम इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह प्रारंभ में रामानुज के श्री सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे, जाति के ब्राह्मण थे, संस्कृत के पंडित थे, किंतु उनका व्यक्तित्व असाधारण रूप से क्रांतिकारी था। वर्ण-व्यवस्था, पूजाविधि, समाज कल्पना के सम्बन्ध में उनके विचार रूढ़ि-विरोधी थे; अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए उन्होंने हिन्दी का भी प्रयोग किया; उनकी हिन्दी-रचनाएँ गुरुग्रंथ साहब में संग्रहीत हैं। वल्लभाचार्य ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को संस्कृत में ही लिखा; किन्तु "वार्ता" में सूर और वल्लभ के वार्तालाप की भाषा प्रादेशिक बोली अर्थात् ब्रज है। इससे ज्ञात होता है कि वल्लभ-सम्प्रदाय में सत्संग, और गोष्टी की भाषा ब्रज ही रहती होगी। संस्कृत के ज्ञान के अभाव में उसके प्रति उदासीनता का भाव बढ़ता हुआ दिखाई देता है। कबीर ने स्पष्टतः कहा: "संस्कृत है कूप जल भाषा बहता नीर"। एकनाथ ने संस्कृत की परंपरागत प्रतिष्ठा को लेकर प्रश्न उठाया: "क्या कहा ? संस्कृत भाषा ईश्वर की बनाई है ? क्या प्राकृत चोरों की निर्मित भाषा है।"[१] श्रीधर ने कहा : "स्त्रियाँ संस्कृत नहीं समझ पातीं; यह गहरे कुए के मीठे पानी की तरह है। एक कमजोर आदमी जिसके पास बाल्टी और रस्सी नहीं है इसे कैसे पा सकेगा ? अतः वह झील पर जाए तो अपनी प्यास सहज ही बुझा सकेगा। अतः कमजोर जाति की रक्षा करने के लिए ईश्वर

१. भागवत भाष्य, ११वाँ अध्याय।

ने जन प्रचलित भाषा में रचना की है।" इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म के मूल तत्त्वों से जनता को—कमजोर लोगों को—अवगत कराना तत्कालीन विचारकों की चिन्ता का प्रमुख विषय था।

(२) यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस्लाम धर्म को स्वीकार करने वाले लोग अधिकांशतः हिन्दू जाति की निम्नश्रेणियों से आए थे। इसका कारण निस्संदेह यही था कि जजिया (हिन्दू खिराज गुज़ार कहलाते थे) से बचने के लिए ये गरीब लोग इस्लाम को स्वीकार कर लेते होंगे और इस्लाम में प्रवेश करने के बाद हिन्दू धर्म के जाति-भेद से छुटकारा पाकर इस्लाम के बृहत् भ्रातृत्व में स्वीकृत होने का लालच उन्हें सहज ही उस ओर आकर्षित करता होगा।[1] प्रायश्चित्त की व्यवस्था कठोर और महँगी होने के कारण उच्चवर्गों के लिए फिर भी सुलभ रहती होगी, ब्राह्मण धर्माधिकारी और पुरोहित निम्न वर्गों की चिन्ता कम ही करते होंगे। किन्तु अनेक समाज सुधारकों की आँखों से निम्नवर्गों में होने वाले सामूहिक धर्म परिवर्तन का भावी खतरा छिपा न रहा। भारतीय संस्कृति की रक्षा के लक्ष्य को लेकर उन्होंने धर्म के फाटक सब के लिए खोल दिए। वैदिक धर्म के इतिहास में यह बड़ा क्रान्तिकारी कदम था। रामानुज ने शूद्रों के लिए प्रपत्ति मार्ग का निर्देश किया। पंढरपुर में बिठोबा का मन्दिर निम्नतम जातियों को शरण देने लगा।[2] हिन्दू धर्म और जाति के सिर पर लटकती हुई तलवार को देख कर रामानन्द ने उत्तर भारत में प्रत्येक जाति के लिए धर्म का दरवाज़ा खोल दिया और कबीर जुलाहा, रैदास चमार, सैना नाई आदि को धर्म के गूढ़ तत्त्वों का अधिकारी बनाया। नाभादास ने भक्तमाल में उनके सम्बन्ध में कहा है : "बहुत काल वपु धार कै प्रनत जनन को पार दियो,

श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों द्वितीय सेतु जग तरन कियो।"

इस प्रकार इस युग के चिन्तकों और विचारकों ने भारत की सामाजिक स्थिति के प्रति जागरूकता दिखाई तथा परिस्थितियों को सँभालने का उद्योग किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ११ वीं और १५ वीं शती के बीच हिन्दू जाति और हिन्दू धर्म, सम्यक् रूप से भारतीय संस्कृति, अपनी प्राण रक्षा के लिए संघर्ष कर रही थी। इस पथ पर अग्रसर होते हुए उसने कई प्रयोग किए। (१) कट्टरता का जवाब कट्टरता से दिया; (२) अपने धर्म का संशोधित और समयानुकूल रूप उपस्थित किया तथा (३) चिन्तन के उच्चतम शिखर का स्पर्श करके अल्लाह और राम की एकता को समझ कर समस्त संघर्ष का अन्त करने के लिए गंगा-यमुना को एक करने का प्रयास किया। वास्तव में यह तीनों ही प्रयोग भारतीय समाज में लगभग साथ-साथ चल रहे थे। एक ओर धर्मशास्त्रकार थे जो जाति-उपजाति, प्रायश्चित्त आदि की दीवारें जल्दी-जल्दी चुन

१—Rawlinson—India, a short cultural History, chap. XIII, p. 244

२—"It cannot be doubted", writes S. M. Edwards, "that the remarkable movement which centres so largely about the God Vithoba and Pandharpur, embraced persons of various castes and elevated to sainthood representatives of even the lowest castes in Maharashtra." (Introduction, Grant Duff's History, p. lxxiii)

रहे थे; दूसरी ओर आचार्य और भक्त थे जो भगवान के लोकरंजक और लोकरक्षक रूप की अवतारणा करके, सुदामा, अजामिल, शबरी, विभीषण आदि की गाथायें गा-गा कर हिन्दू धर्म के आकर्षक और मर्मस्पर्शी रूप का प्रचार कर रहे थे तथा हिन्दू धर्म से विरक्त होते हुए लोगों के सामने उसका सहज लक्ष्य और रोचक रूप रख रहे थे; तीसरी ओर वे सन्त और महात्मा थे जो अधिक उदार दृष्टिकोण से सम्पन्न थे। वे इस्लाम और हिन्दू दोनों ही धर्मों की महत्ता को स्वीकार करके दोनों को ही सुरक्षित रखना चाहते थे तथा दोनों के लक्ष्य को एक ही पाकर दोनों के विभिन्न दुर्गुणों का परिहार करना चाहते थे। इस वर्ग में गौड़ के हुसेनशाह का नाम आता है, जिन्होंने ईश्वर के पथ पर हिन्दू और मुसलमानों को मिलाने के लिए "सत्यपीर" नामक सम्प्रदाय की स्थापना की थी। रामानन्द का प्रयास भी इससे मिलता-जुलता ही था। रामानन्द के अनुयायी निर्गुणोपासक सन्तों ने इस क्रिया को बहुत आगे बढ़ाने में योग दिया।

इस्लाम के प्रति भारतवर्ष में होने वाली विविध प्रतिक्रियाओं का सीधा सम्बन्ध हिन्दी साहित्य से है, क्योंकि हिन्दी प्रदेश ही आरंभ से अन्त तक इस्लामी शासन का केन्द्र रहा। इस्लाम के प्रति होने वाली उल्लिखित राजनैतिक और सामाजिक प्रतिक्रियाओं की छाया हिन्दी साहित्य पर पड़े बिना न रह सकती थी। यही कारण है कि हम एक ओर कलियुग की घोरता का लम्बा चौड़ा वर्णन करते हुए तथा जाति-व्यवस्था के शास्त्रानुमोदित मार्ग का निर्देशन करते हुए तुलसीदास को देखते हैं, जो कट्टर मर्यादावादी अनन्तानन्द के शिष्य थे, तो दूसरी ओर कृष्ण की रोचक और मनोमुग्धकारी लीलाओं से जनता को मोहित करते हुए सूर आदि को पाते हैं; तथा तीसरी ओर उन निर्गुणोपासक सन्तों को देखते हैं जो अपने विद्रोही स्वभाव के साथ ही अवतरित हुए थे और धर्मों तथा सम्प्रदायों, जातियों तथा वर्गों के बीच की दीवारें ढहा कर हिन्दू तथा मुसलमान, ब्राह्मण तथा शूद्र, सभी को मात्र मानव बना देना चाहते थे। कलाकार को धर्मशास्त्रकार से निस्संदेह अधिक सहृदय, उदार और भावुक होना चाहिए, क्योंकि कला का लक्ष्य बँधी हुई व्यवस्थाओं से कुछ ऊपर उठ कर मानव के उत्तमांश का विकास करना होता है। यही कारण है कि हम उस युग के धर्मशास्त्रों में कट्टरता का स्वर मुखरित होता हुआ पाते हैं और तत्कालीन साहित्य में उदारता, समानता और शांति-प्रचार की भावना का प्राधान्य देखते हैं। काव्य क्षेत्र में तुलसी के मर्यादावादी और प्राचीनतावादी साथी अधिक नहीं मिलते। प्राचुर्य है तो अन्य दो वर्गों के कवियों का।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नामदेव, कबीर, नानक, दादू आदि सन्तों के अभ्युदय का मूल प्रेरणा-स्रोत तत्कालीन भारत की राजनैतिक और सामाजिक स्थिति थी। कट्टरता की जिस दुतरफ़ा आँधी से भारत भूमि प्रमथित तथा विध्वस्त हो रही थी, ईश्वर और अल्लाह के जिस भेद ने जनता को झमेले में डाल कर कहीं का न रखा था, धर्म के नाम पर शासक वर्ग का जो अत्याचार हिन्दू जनता के व्यक्तित्व को पद-दलित कर रहा था, हिन्दू पुरोहित वर्ग की जो जाति-भेद और प्रायाश्चित्त की व्यवस्थायें निम्न वर्गों के कष्टों की वृद्धि कर रहीं थीं, उसी सब के विरुद्ध ये निर्गुणोपासक सन्त विद्रोह का झंडा लेकर खड़े हुए। वे समाज सुधार और धर्म सुधार की चिन्ता से प्रेरित थे और भारतीय समाज को औचित्य का मार्ग सुझाना उनका ध्येय था। एक ओर वे शासक जाति के अत्याचार से जनता को

मुक्त करना चाहते थे, दूसरी ओर हिन्दू समाज के अन्दर ही घुन की तरह खाने वाली कट्टरता की जड़ खोदना चाहते थे, और तीसरी ओर धार्मिक रूढ़ियों के सड़े और दुर्गन्धित अंश को निकाल कर उसे वैज्ञानिक और तार्किक रूप प्रदान करना चाहते थे। उनकी चिन्तन-पद्धति सच्चे अर्थ में प्रगतिशील, वैज्ञानिक और व्यावहारिक थी। विशेषता यह है कि उनका विद्रोहात्मक प्रयास बुद्ध और महावीर की परम्परा का अनुसरण करता हुआ अहिंसात्मक था और उन्होंने व्यक्ति को तर्क से ही विश्वस्त करने की प्रणाली अपनाई थी।

इस प्रकार ये संत भारतीय संस्कृति के रक्षक बन कर उदित हुए। उनका सुधार आंदोलन सबल और देश-व्यापी था। दक्षिण में कपिलर, तद्भ्राता, तिरुवल्लुवर, वेमन, ज्ञानेश्वर, त्रिलोचन, नामदेव, तुकाराम आदि ने इस विद्रोहात्मक वाणी को मुखरित किया तो उत्तर में कबीर, मलूकदास, रैदास (उत्तर प्रदेश), दादू, नरसी (गुजरात), नानक, गरीबदास (पंजाब), सेना (बुन्देलखंड), यारी साहब (दिल्ली), दरिया साहब, धरनीदास (बिहार) सुन्दरदास, गरीबदास, दादूपंथी (राजस्थान), प्रभृति संत कवियों ने उसे अनुगुंजित किया।

यहाँ इस बात की ओर संकेत करना विषयांतर न होगा कि मध्ययुग में हिन्दी को जो अंतर्प्रांतीय काव्य भाषा होने का गौरव प्राप्त हुआ वह बहुत कुछ इसी व्यापक सुधारान्दोलन का फल था। उस युग में ब्रज और अवधी प्रतिष्ठित साहित्यिक भाषायें थीं; संतों की भाषा का रूप शुद्ध ब्रज या शुद्ध अवधी प्रायः न था; ब्रज, अवधी, खड़ीबोली का एक-निष्ठित रूप संतों के बीच प्रचलित था जो विभिन्न प्रान्तों में जाकर वहाँ की प्रान्तीय भाषा की छाप ले लेता था। दर्शनीय यह है कि आसाम के संत शंकरदेव और माधवदेव ने, दक्षिण के त्रिलोचन, नामदेव, गदाधरभट्ट, तुकाराम ने, गुजरात के नरसी मेहता और दादू ने, पंजाब के नानक प्रभृति गुरुओं तथा अन्य कवियों ने हिन्दी में ही अपने विचारों और भावों को पद्यबद्ध किया। इससे स्पष्ट है कि स्वधर्म और स्वसंस्कृति की रक्षा की भावना ने समस्त देश को एक सूत्र में बाँध दिया था। विचारधारा की एकता का सम्मेलन भाषा की एकता से हो गया था।

भक्तिरस—स्वरूप और आवश्यकता

डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित, एम० ए०, पी-एच० डी०, गोरखपुर

शान्त रस की स्वीकृति के अनन्तर विद्वानों ने शास्त्रीय ग्रन्थों में उल्लिखित देवता-विषयक रति भाव को भी रस की अवस्था तक पहुँचने वाला मानकर उसका विवेचन किया है।

स्वरूप

शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, नारद भक्तिसूत्र, भागवत तथा भगवद्गीता आदि ग्रन्थों के आधार पर भक्त का महत्त्व स्थापित करते हुए भक्ति को रसों में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। भगवद्भक्तिचन्द्रिका के रसोल्लास में भक्ति की रस रूप में स्थापना हुई है और कहा गया है कि अनासंग की जननी, पर-अपर के बोध के विपरीत सामरस्य की उपस्थितिकारिणी तथा परम प्रेम रूपा, परमानन्द-दायिनी मधुरा भक्ति को रसिकों ने परा-भक्ति कहा है :—

परत्रानासंगं जनयति रतिर्या नियमतः
परस्मिन्नेवास्मिन समरसतया पश्यत् इमम्।
परप्रेमाढ्येयं भवति परमानन्दमधुरा
परा भक्तिः प्रोक्ता रस इति रसास्वादन चणैः॥

श्रीमद्भगवद्गीता में भी इसी के समान भक्त के लक्षण दिए गए हैं। वह अद्वेष्टा होता है, निर्मम, निरहंकार तथा दुःख एवं सुख में समान रहने वाला, संतुष्ट, सतत योगी, यतात्मा तथा दृढ़-निश्चयी होकर जो मुझमें ही मन तथा बुद्धि लगाए रहता है, वह मेरा भक्त होता है और वह मुझे प्रिय है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानाम् मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुख क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

शास्त्र-विवेचकों—श्री मधुसूदन सरस्वती तथा श्री रूपगोस्वामी - ने भक्त तथा भक्ति की ऐसी महिमा को आधारभूत मानकर कभी भक्ति को ब्रह्मानन्द के समान बता दिया[1] और कभी समाधिजन्य परमानन्द को परमाणु के तुल्य भी नहीं माना।[2]

१—समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वात्—तस्मात्—भक्तियोग : पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वादिति निर्विवादम्। —भगवद्भक्तिरसायन, १ ६

२—ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः।
नेति भक्तिमुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि। —हरिभक्तिरसामृतसिंधु, १।१६-२०

श्री मधुसूदन सरस्वती ने तो एक मात्र भक्ति को ही अन्य रसों के पूर्ण सुखास्पर्शित्व के कारण परिपूर्ण रस माना है, उसकी तुलना में अन्य रस क्षुद्र ज्ञात होते हैं। इतर रस उसके सामने आदित्य के सम्मुख खद्योत के समान प्रतीत होते हैं।[१] उन्होंने भक्ति योग को नव रस मिश्रित माना है। शान्त रस में भक्ति रस का अन्तर्भाव स्वीकरणीय न होने से उसे उन्होंने दसवां रस स्वीकार किया है[२] साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट बता दिया है कि भक्ति भी अन्य रसों के समान ही विभावादि से युक्त होकर चित्ररूपवद् रसत्व को प्राप्त होती है। रस-विचारकों ने देवादि-विषयक रति और अंजित व्यभिचारी को भाव बताया है, किन्तु इस प्रकार की रति अलौकिक आनन्ददायिनी नहीं होती। अलौकिक आनन्ददायिनी रति तो परमानन्दस्वरूप परमात्मा की ही भक्ति होती है, अतः दोनों में भेद होने से इस दूसरे प्रकार की भक्ति को भाव मात्र न कहकर रस ही कहना चाहिए।[३]

मधुसूदन सरस्वती के समान ही रूपगोस्वामी ने भक्ति के परा तथा अपरा नाम से दो भेद किए हैं। इनमें परा श्रेष्ठ है। यह भक्ति कर्म तथा ज्ञान योग दोनों से श्रेष्ठ है। मोक्ष भी इसके सम्मुख हीन ज्ञात होने लगता है, भक्ति-प्राप्त व्यक्ति मोक्ष की कामना भी नहीं करता।[४] हिन्दी में भी कहा गया है—सगुणोपासक मुक्ति न लेहीं। इस प्रकार भक्ति की प्रतिष्ठा करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने उसके स्वरूप तथा विभावादि का वर्णन किया है। भक्ति को वे अन्तःकरण की भगवदाकारता कहते हैं।[५] वैष्णवों के बीच भक्ति को 'नवधा', 'नवविधा' अथवा 'नवलक्षणा' या 'नवसाधना' कहा गया है। भागवत् में इसे 'नवलक्षणा' और अध्यात्म रामायण में इसे 'नवविधा' कहा गया है। इन नामों से इसके नौ प्रकारों अथवा साधनों का बोध कराया जाता है, जो निम्न प्रकार हैं :—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम् पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

अर्थात्, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन ही

१—कान्तादिविषया वा ये रसाभास्तत्र नेदृशम्।
रसत्वं पुष्यते पूर्णसुखास्पर्शित्वकारणात्॥
परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा।—भ० भ० र०, २, ७७-७८।

२—दशमामेति रसतां सनकादेरिवाधिकाम्।—वही। २।७४

३—रसान्तरविभावादिसंकीर्णा भगवद्रतिः।
चित्ररूपवदन्याहम्रसतां प्रतिपद्यते॥
रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथांजितः।
भावः प्रोक्तो रसो नेति यदुक्तं रसकोविदैः॥
देवान्तरेषु जावत्वात् परानन्दाप्रकाशनात्।
तद्योज्यं परमानन्दरूपेण परमात्मनि॥—वही, २।७५-७६

४—ह० भ० र० सिं० पूर्वभाग १, लहरी ११-१३।

५—भजनं अन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिः।
तस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशां मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥ भ० भ० र०, १।३

भक्ति के नौ साधन रूप प्रकार हैं। किन्तु गौड़ीय वैष्णव, भक्ति के शान्ति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य नामक केवल पांच प्रकार मानते हैं। इनमें भी वे मधुर रस को ही प्रमुखता देते हैं। लौकिक शृंगार की काममूला रति ही मधुर रस में भगवद्विषयक होने से प्रेममूला मान ली गई है। एक में पार्थिवता है और दूसरे में अपार्थिवता।

भक्ति का आलम्बन विभाव स्वयं प्रभु ही हैं, तुलसी, चन्दनादि उद्दीपन हैं, हर्षाश्रु तथा नेत्र-विक्रिया अनुभाव हैं। अन्य लोग रति को ही इसका भी स्थायीभाव मानते हैं, किन्तु मधुसूदन सरस्वती के अनुसार चित्त की भगवदाकारता ही इसका स्थायी है।[१] रति को ही स्थायी न मानने का कारण यह है कि वह देवता विषयक या लौकिक शृंगार-परक तो हो सकती है किन्तु अलौकिक रस में प्रयोजनीय नहीं हो सकती।

भक्ति का आरम्भ आत्महीनता के ज्ञान तथा शरणागति के प्रदर्शन से होता है। सबसे पहले मनुष्य संसार की विभिन्न शक्तियों को देखकर उनसे भयभीत हुआ होगा। उनसे अपनी हीनता का अनुभव किया होगा और उन-उन शक्तियों के प्रति उसके हृदय में नम्रता का भाव स्थान पाता चला गया होगा। वह उन वस्तुओं की प्रधानता स्वीकार करता हुआ उनकी शरण में चला गया होगा, किन्तु बुद्धि-व्यापारी मनुष्य की उस रहस्य को भेद कर सत्य का अनुसंधान करने की लालसा जगी रही होगी, वैचित्र्य के प्रति उसकी जिज्ञासा रही होगी। उसी जिज्ञासा और शरणागति के प्रभाव से उसने मूर्तिपूजा का आरम्भ किया होगा, प्रतीकों की कल्पना की होगी और उसकी आराधना करके उसका मन अपने से अधिक शक्तिमान् के प्रति अपने कष्टों का निवेदन करके अमित शान्ति या कम से कम सहारा पाता होगा। अतएव धीरे-धीरे भक्ति एक संस्कार का रूप धारण करती गई होगी। मनुष्य ने जब-तब उस कल्पित शक्ति के साथ अनेक प्रकार के सुख-दुःखादि के आधार पर लौकिक सम्बन्धों के समान ही सम्बन्धों की कल्पना कर ली और इस प्रकार लौकिक दुःखों से त्राण पाने का रास्ता खोज निकाला। किन्तु आरम्भ में शक्ति चाहे लौकिक दुःखों से त्राण पाने का मार्ग हो या और कुछ, इनमें लीन हो जानेवाला व्यक्ति क्रमशः जितना ही उस प्रभु के वैभव और अपने दैन्य में डूबता जाता है, उतना ही विकल होता जाता है, तथापि उसे एक प्रकार का ऐसा अलौकिक सुख अनुभव होता है कि वह उस वियोगाब्धि को भी बार-बार अवगाहन तो करना चाहता है, पर उससे मुक्ति नहीं चाहता। भक्ति में अनुराग की बाढ़ होती है, मुक्ति की युक्ति नहीं। प्रभु के प्रति आदर के साथ प्रेम का भी सम्मिलन हो जाने पर ही भक्ति का जन्म होता है। भक्ति-रस में व्यक्ति उस प्रभु के साथ अनेक नाते निबाहने लगता है, इसी कारण विचारकों ने अन्य रसों का इसी में अन्तर्भाव भी कर दिखाया है।

शान्त तथा भक्ति-रस

पण्डितराज जगन्नाथ अन्य विचारकों के सामने शान्त तथा भक्ति रस की एकता का प्रतिपादन नहीं करते। उनका कथन है कि भक्ति का आधार है अनुराग, जो कि शान्त के आधार वैराग्य के सर्वथा विरुद्ध है। अतएव दोनों में एकता नहीं मानी जा सकती। साथ ही यदि भगवद्रति को स्थायी मानना आरंभ करेंगे तो लोग पुत्रादि-विषया रति को भी मानने के लिए आग्रह करेंगे। फिर कोई भी यह आपत्ति कर सकता है कि जुगुप्सा तथा शोक को स्थायी

१—वही पृ० ४।

न मान कर व्यभिचारी ही क्यों न मान लिया जाए ? इस प्रकार एक वितण्डा खड़ा हो जाएगा, अतएव भगवद्रति को स्थायी न मानना ही उत्तम है।[१]

पण्डितराज का उक्त दूसरा तर्क महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ता है, वैराग्य-अनुराग का अन्तर अवश्य युक्तियुक्त जान पड़ता है। मधुसूदन सरस्वती भी शान्त तथा मोक्ष पुरुषार्थ के योग्य केवल 'अद्रुतचित्त' व्यक्तियों को ही मानते हैं, जब कि भक्ति के लिये 'चित्तद्रुति' ही आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः शान्त रस का मार्ग ज्ञान मार्ग है। वस्तु के सम्बन्ध में नित्य-वस्तु-विवेक तथा मोक्ष-कामना ही शान्त का प्रधान लक्षण है। शान्त में निर्विकारता का महत्त्व है और भक्ति में स्वार्थ-सम्बन्धों को छोड़ कर भी पारलौकिक शक्ति से उसी प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है, वियोग का अनुभव भी उसी तीव्रता के साथ किया जाता है। आत्म ज्ञान शान्त की प्राथमिक आवश्यकता है और जुगुप्सा का सहारा लेकर वह उभार पाता है, किन्तु भक्ति रस के लिये दोनों ही आवश्यक नहीं हैं, जुगुप्सा तो नितान्त अवहेलनीय है। शान्त एक प्रकार से निर्गुण-निराकारोपासना है और भक्ति सगुणोपासना। शान्त ज्ञान-प्रधान होने के कारण उतना प्रबल कार्य-प्रेरक नहीं है, जितना भावना-प्रधान होने के कारण भक्ति है। शान्त में होनेवाली भाव-प्रतीति नियंत्रित और संयमित भाव-प्रतीत है। भक्ति का मार्ग सर्व-सुलभ और सुखाराध्य है। यद्यपि तुलसीदास जी के अनुसार 'ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव सम्भव खेदा।' तथापि विषय-परांमुखता, नित्यानित्य-वस्तु-विवेक, वैराग्य तथा शम-दमादि केवल मात्रा-भेद से ही दोनों में ग्राह्य और उनके साधक हैं। प्रभाव की उत्कटता के सम्बन्ध में भी दोनों में पर्याप्त अन्तर जान पड़ता है। श्रीमद्भागवतकार ने निम्नश्लोकों में भक्त के अनेकानेक अनुभावों का परिगणन किया है। यह अनुभाव शान्त में नहीं पाए जाते:—

एवंव्रतः स्वप्रियानामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायन्त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥ ११। २। ४०
क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥ ११। ३।३२

इसी प्रकार के श्लोक रत्नावली तथा ब्रह्मतर्क आदि में भी उपलब्ध होते हैं। इनके आधार पर भक्ति को १-पक्व कल्पा, २-पक्व भक्तियोग तथा ३-अपक्वा भक्ति, यह तीन अवस्थाएँ मानी जाती हैं। जिसमें साधारणतः उन्मादादि दृग्गोचर हों वह पक्व कल्पा, जिसमें विशेष रूप से ग्रह-ग्रस्त सा व्यक्तित्व जान पड़े वह पक्व भक्तियोग तथा जिसमें भक्ति-कार्य हासादि स्पष्ट नहीं रहते, वहाँ अपक्वा भक्ति मानी जाती है। अतः भक्ति निश्चय ही शान्त से भिन्न है।

१—न चासौ शान्तरेऽन्तर्भावमर्हति। अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात्। उच्यते—भक्तेः देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्तेः। भारतादिवचनानामेव रसभावत्वादिव्यवस्थापकत्वेन, स्वातन्त्र्ययोगात्। अन्यथापुत्रादिविषयाया अपि रतेः स्थायिभावत्वं कुतो न स्यात्? न स्याद्वा कुतः शुद्धभावत्वं जुगुप्साशोकादीनाम् इत्यखिलदर्शनव्याकुली स्यात्। रसानां नवत्व गणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत, इति यथा शास्त्रमेव ज्याय:।—रस गंगाधर, पृ० ४५-४६।

अभिनवगुप्त ने अन्य रसों को चार पुरुषार्थों के आधार पर उपयोगी मान कर केवल नौ रसों को ही स्वीकार किया और शेष को भाव कह कर उनका किसी न किसी नौमें से एक रस में अन्तर्भाव कर दिया।[१] भक्ति का भाग्य चक्र भी उन्हीं गौण रस-भावों के साथ घूमा और वह भाव मात्र मान ली गई। भक्ति का अन्तर्भाव उन्होंने धृति, मति, स्मृति तथा उत्साह में कर लेना उचित समझा और उसे शान्त के अन्तर्गत डाल दिया।[२] इन्हीं का अनुगमन करते हुए भोज, धनंजय तथा मम्मट आदि ने उसे रसों के बीच से अर्द्धचन्द्र दे दिया।

भक्ति-रस का विरोध : संस्कृत तथा मराठी लेखक

अन्तर्भाव का पक्ष लेते हुए आधुनिक मराठी विद्वान् श्री प्रो० मा० दा० आलतेकर तथा श्री कृ० कोल्हटकर ने इसे क्रमशः शृंगार तथा अद्भुत रस में समाविष्ट मान लिया।[३] यद्यपि मूल स्थित रति भाव तथा मधुरा भक्ति का स्वरूप इसे शृंगार का ही दूसरा रूप सिद्ध करता हुआ जान पड़ता है, किन्तु शृंगार तथा भक्ति के विकास पर दृष्टिपात करने ही दोनों की पृथकता का ज्ञान हो सकता है। शृंगार में संयोग की दशा लौकिक विभावादि को लेकर ही सम्पन्न होती है, किन्तु भक्ति में लौकिक आधार के स्थान पर काल्पनिक अथवा अलौकिक आधार ही प्रमुख होता है। लौकिकता रहती है तो उपचेतन में ही। दूसरे, शृंगार समवयस्क में होता है, किन्तु भक्ति में भेद बना रहता है। तीसरे, शृंगार अन्योन्याश्रित है, किन्तु भक्ति रस एकावलम्बी है। कहा जा सकता है कि विप्रलम्भ शृंगार से यह दशा मिलती है, किन्तु वियोगी को प्रेमी की ओर से भी प्रेम का संकेत मिलता है, उसे पूर्व-प्रेम अथवा सम्मिलन का स्मरण बना रहता है और भविष्य में मिलन की पूर्ण आशा होती है, इसके विपरीत भक्त को प्रभु की ओर से साक्षात् रूप से कोई संकेत नहीं मिलता, अतः उसका आत्म विश्वास ही वहाँ अधिक सजग रहता है। तथापि आत्म विश्वास सदा दीनता और कृपाकांक्षा से मिश्रित रहता है, जब कि वियोगी न तो प्रेमी की तुलना में दीन होता है और न कृपा की भीख माँगता है। वह प्रेम को अपना अधिकार मानता है और यह प्रेम मान करने पर टूट भी जाता है, किन्तु भक्त प्रभु के संकेत पर चलता है और उसकी दया के दान के लिये प्राण देकर भी उसी ओर लगा रहता है। निश्चय ही यह स्थिति शृंगारान्तर्गत स्थितियों से कम से कम परिमाण में तो भिन्न है ही। अन्य लक्षणों की भिन्नता के कारण भक्ति को शृंगार से पृथक् स्वीकार करना ही चाहिए।

इसी प्रकार अद्भुत रस में भी इसे समाविष्ट नहीं मानना चाहिए, क्योंकि अद्भुत में किसी वस्तु अथवा घटना के आकस्मात् घटित होने से आश्चर्य होता है, उस घटना की असाधारणता ही हमें चकित करती है और उस समय अन्य कोई भाव हमारे मन में नहीं आता। इसके विपरीत भक्ति में आलम्बन ज्ञात रहता है और उसकी भिन्न-भिन्न लीलाओं का वर्णन

१०—एते नवैव रसाः पुमर्थोपयोगित्वेन रंजनाधिक्येन वा इयतामेव उपदेश्यत्वात्।—अ० भा०, १, पृ० ३४१।

२—अतएव ईश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहानुप्रविष्टे अन्यथेवांगमिति न तयोः पृथग्रसत्वेन गणनम्।—वही, पृ० ३४०।

३—रस-विमर्श, मराठी, पृ०२६२।

जान-बूझ कर किया जाता है। उन लीलाओं का वर्णन भक्त के हृदय में भक्ति का आवेश ही उत्पन्न करता है, आश्चर्य नहीं। कारण यह है कि भक्त के हृदय में प्रभु के प्रति सदैव अनुराग विद्यमान रहता है और उसी अनुराग से सिंचित करके वह उस अद्भुत का वर्णन करता है। अद्भुत अनुराग का संचारी मात्र होकर आता है। उदाहरणतः, सूरदास द्वारा रचित 'चरन गहे अंगुठा मुख मेलत' छंद में प्रभु की लीला का वर्णन उनके प्रति अनुराग तथा उनकी कृपा का विस्तार प्रदर्शित करने के लिए किया गया है, न कि अद्भुत की स्वयंसिद्धि के लिए।

प्रो० द० सी० पंगु ने भक्ति-रस पर आक्षेप करते हुए कहा है कि निर्जीव मूर्ति के प्रति निवेदन होने के कारण वह रस के समान उत्कट नहीं हो सकता, अतः उसे भाव मात्र मानना चाहिए[1] किन्तु पूर्वोद्धृत श्रीमद्भागवत् के श्लोक इस आपत्ति का खण्डन करने में पूर्णतया प्रमाण सिद्ध होते हैं। अतएव इस सम्बन्ध में अधिक कुछ नहीं कहना है।

प्रो० रा० श्री जोग ने भक्ति-रस पर दो आक्षेप किए हैं। (१) भक्ति मूल भावना नहीं है और (२) वह व्यापक नहीं है।[2] हमारा विचार है कि जब तक स्वयं मनोविज्ञान-वेत्ता ही मूल-प्रवृत्ति की संख्या निर्धारित न कर दें या इस विषय पर एकमत न हो जाएं तब तक इस सम्बन्ध में तर्क उपस्थित करना युक्ति-युक्त नहीं। यों मनोविज्ञान के सभी सिद्धान्त रस-सिद्धान्त पर पूर्णतया लागू भी नहीं किए जा सकते। भक्ति मूल भावना भले ही न हो, किन्तु उसका सम्बन्ध भारतीय धर्म भावना से अवश्य जुड़ा हुआ है, अतः उसका भी हमारे मन में एक संस्कार बन चुका है। अपने यहाँ के धार्मिक ग्रन्थों या काव्यों के द्वारा जिस सुदृढ़ परम्परा का निर्माण हो चुका है, उसे सहज ही तर्क की ठोकर से नहीं ठुकराया जा सकता। विदेशों में भी कष्ट सहन करके सूली पर चढ़ाने वाले मंसूर और ईसाओं की कमी नहीं रही है। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सभी रस समान रूप से व्यापक-प्रभाव नहीं डालते या डालते हैं, इस प्रश्न को न भी उठाया जाए तो भी भक्ति-रस की प्रभविष्णुता में सन्देह नहीं किया जा सकता। हमारे विचार से यह शृंगार के समान ही प्रभावकारी है। चैतन्य आदि भक्तों की दशा किसे अविदित है और तुलसी या सूर आदि के भक्ति भरे पदों में भला किसका मन नहीं डूबता। भक्ति भक्त की करुण दशा, विह्वल दशा आदि का ऐसा सजीव चित्र उपस्थित करती है कि मन अविलम्ब द्रवित होता है और जो द्रुत द्रवीभूत होने वाले हैं वे तो भक्ति के पदों की एकाध पंक्ति सुनने से ही रो-हंस पड़ते हैं।

रा० हिंगणेकर ने भक्ति को विक्रियाहीन कह कर इसे रस की सीमा से च्युत सिद्ध करने की असफल चेष्टा की है।[3] पूर्वोक्त अनुभाव इस साध्य को असाध्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। हिंगणेकर आदि भक्ति के देश-भक्ति, पितृ-भक्ति, पुत्र-भक्ति अनेकानेक भेदों की आशंका से घबरा कर इसे रस मानना उचित नहीं समझते। किन्तु, पुत्र-भक्ति को वात्सल्य माना जा चुका है और देश-भक्ति अथवा पितृ-भक्ति को हम वीर, करुण आदि रसों के अन्तर्भूत मानते हैं। अतः डरने का कोई

भेद

१—रस विमर्श, पृ० २६३।

२—वही, पृ० २६१।

३—वही, पृ० २६१

कारण हमें नहीं जान पड़ता, साथ ही अनेकानेक भेदों के कारण ही तिरस्कार करना है तो सबसे पहले शृंगार का ही तिरस्कार करना होगा, जो हिंगणेकर आदि को भी मान्य न होगा।

मराठी लेखकों में श्री शिवराम पंत ने देश-भक्ति को रस मान कर 'देशाभिमान' को उसका स्थायीभाव माना है।[१] इसमें सन्देह नहीं कि आज के वातावरण में इस रस की भी अवतारणा हो गई मालूम होती है। प्रगतिवादी अमृतराय भी इसे सामूहिक भाव तो मानते ही हैं।[२] किन्तु हमारी धारणा है कि देशाभिमान एक ऐसा भाव नहीं है जो उत्साह, अमर्षादि से पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व रखता हो। जिस प्रकार भक्ति शृंगार आदि से पृथक् सर्वथा भिन्न शील की अवतारणा करने में समर्थ है, उस प्रकार देश-भक्ति उत्साह आदि से पृथक् हो कर नवीन शील की उद्भावना नहीं कर पाती अभिमान तो व्यक्ति को आत्मसम्मान का भी होता है, व्यक्तिगत वस्तु का भी होता है, राज्य और पाण्डित्य का भी होता है। इसी प्रकार वीरत्व का भी या शक्ति का भी अभिमान होता है। जिस प्रकार देश पर आक्रमण देख कर हम क्षुब्ध होते हैं, उसी प्रकार पाण्डित्य या वीरत्व पर आपत्ति आते देख या किसी को ललकारते पा हमारा अभिमान जाग उठता है। तब क्या इन सबको पृथक्-पृथक् रस मान लिया जाए? हमारी समझ से हमें देश का कैसा भी अभिमान हो उसकी रक्षा के लिये हमें उत्साह, क्रोध आदि का ही सहारा लेना पड़ता है। इसीलिये किसी-किसी ने सत्याग्रह-वीर की भी कल्पना की है। हमारे आचार-विचार, हमारे संस्कारों की एकता, धर्म और संस्कृति आदि ही देश और देशाभिमान का स्वरूप निश्चित करते हैं। हम इन माध्यमों की रक्षा के द्वारा ही देश की रक्षा करते हुए वस्तुतः आत्मरक्षा करते हैं। अतः आत्मरक्षा ही प्रधान विषय है, उसमें देश के गौरव का बखान, उसकी करुण गाथा, उसका हमारे ऊपर ऋण आदि सभी बातें योग देकर उस भाव को प्रबल बनाती हैं। अतः रक्षावृत्ति पर ध्यान दें तो देश स्वयं किसी नवीन या स्वतन्त्र भाव का उद्बोधक नहीं है, इसीलिये वसुधैव-कुटुम्बकम् का सिद्धान्त प्रचलित है। अभिप्राय यह कि देशभक्ति की कविताएँ हमें उत्साह आदि से ही भरती हैं और देश की आपत्तियों के अपसारण के रूप में आत्मरक्षा के लिये प्रस्तुत प्रयत्न करती हैं। अतः उसे वीर रस के अन्तर्गत मान लेना चाहिए, करुण भी वहाँ संचारी ही होकर संचरण करता है।

इसी प्रकार पितृ-भक्ति भी दयावीर, धर्मवीर अथवा करुण के अन्तर्गत आ जाती है। कैशोर अवस्था तक बच्चे का माता-पिता आदि के प्रति आकर्षण अर्जित तथा स्वार्थजनित होता है। तदुपरान्त उसे कर्त्तव्य या धर्म-बुद्धि घेर लेती है और हम श्रवणकुमार जैसे चरित्रों की गाथा सुन कर इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसी के समान माता-पिता आदि की सेवा हमारा धर्म है, कर्त्तव्य है। इसी के समान हमारे मन में सेवा के लिये उत्साह होना चाहिए। अथवा राम की आज्ञापालन वृत्ति को देख कर भी हम यही सोचते हैं, कि ऐसा शील होना चाहिए। अतः इसे पृथक् रस न मान कर वीर के भेदों में ही स्थान देना चाहिए।

१—जीवन आणि साहित्य. पृ० ४५।

साधारणीकरण : एक दृष्टि

श्री बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान' एम० ए०, आचार्य, लखीमपुर (खीरी)

काव्य में (१) भाव (२) विभाव और (३) अनुभाव की उपस्थिति होती है जिनका प्रमाता (४) रसिक है। इन चारों के साधारण करने का कार्य विवेचनीय है।

भाव

कोई भी भावात्मक सत्ता व्यक्त (प्रकट) रूप लेने के लिए व्यक्ति (पुरुष) की अपेक्षा करती है, अर्थात् भाव व्यक्ति में ही प्रकट हो कर ज्ञेय हो पाते हैं। अतः व्यक्ति का लौकिक महत्त्व सर्वमान्य है। परन्तु भाव का स्वरूप वही नहीं है जिसे हम व्यक्ति की सीमा में बद्ध अतएव विकृत पाते हैं। अपि तु उसका एक सामान्य रूप—साधारण अस्तित्व—भी है जो व्यक्ति-सत्ता से परे रह कर वैयक्तिक भावाभिव्यक्ति का मूलाधार है। इसी सामान्य किंवा विश्व रूप भाव को लज्जा, पुष्टि आदि के रूप में देवी मान कर मार्कण्डेय अथ च देवी भागवत में स्तुति का विषय बनाया गया है :—

"लज्जा पुष्टिस्तथा तुष्टिस्त्वं शान्तिः क्षान्तिरेव च ।"

"या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ।।" इत्यादि ।

यही व्यापक भाव-स्वरूप सामान्य है—अधिष्ठानभूत है, जो व्यक्तियों में व्यक्त रूप लेने के पूर्व और अनन्तर वासना रूप से नित्य स्थित रहता और अमर तत्त्व कहलाने का अधिकारी होता है। उक्त उद्धरण में 'सर्वभूतेषु' से उसकी व्यापकता पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है।

वासना रूप में स्थित यह सर्वसाधारण—'सर्व भूतेषु संस्थित' भाव अनुभव में सदैव नहीं आता। जब व्यक्ति संसार के अविरल विषयों के राग-द्वेष से उपरक्त होता है, तब जो भी भाव उसमें व्यक्त रूप लेता है वह देश-काल-पात्र की उपरञ्जना लेकर असाधारण, विशिष्ट या वैयक्तिक होकर अनन्त रूपों में "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" की दशा ग्रहण कर लेता है।

प्रतिभा-सम्पन्न कवि की वाणी में यह सामर्थ्य होती है कि उसके द्वारा प्रतीत होने वाले भाव वैयक्तिकता से परे सामान्य हो कर आते हैं, अर्थात्, काव्य व्यक्ति-सीमा से उठा कर भाव को अवैयक्तिक या साधारण रूप दे देता है। यही साधारणीकरण है। जिसे हम लोक-सीमा में बद्ध परिमित पाते हैं, वही भाव सीमातीत हो उच्चतम स्तर पर रसिकों के अनुभव का विषय बनता है। उस उच्च भूमिका में भाव सभी सहृदयों में एक समान उदित हो कर प्रकाश फैलाता है, जिससे वे सब स्वयं को भूल कर आनन्दित होते हैं।

भावों के दो वर्ग हैं। जो रस प्रतीतिकाल की मर्यादा को पूर्णतया व्यक्त कर लेते हैं वे *स्थायी भाव* हैं। उनकी स्थायिता सर्वात्मना व्यक्ति-सापेक्ष न हो कर रस-सापेक्ष है, अतः मनोविज्ञान के वर्ग विभाजन से इसका मूलगत भेद स्वाभाविक है। वे स्थायी इस-लिए भी हैं कि अन्य भाव इन की अपेक्षा अस्थायी हैं। वे इन्हीं में आते जाते रहते हैं, जैसे, समुद्र में तरंग। ये स्थायी कहे जाने वाले भाव भी यदि अन्य स्थायी भाव के क्षेत्र में क्षण भर के लिए व्यक्त हो उठें तो सञ्चारी ही कहे जाएंगे। स्थायी का एक अर्थ 'सम-रस' भी है, अर्थात् जो विपरीत दशाएँ पाकर भी यथावत् बना रहे उसे भी स्थायी कहा जाता है। हमारे स्थायी भाव भी विरुद्ध किंवा अविरुद्ध सञ्चारी भावों की अभिव्यक्ति से अपनी समरसता या सातत्य नहीं छोड़ते, अपि तु अविच्छिन्न-प्रवाह बने रहते हैं :—

"विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः॥"

दशरूपक

सञ्चारी या व्यभिचारी—ये भाव स्थायी भाव में क्षण भर के लिए झलक दिखा कर उसे पुष्ट कर लुप्त हो जाते हैं—

"स्थायिन्युन्मग्न-निर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।"

दशरूपक

ये दोनो प्रकार के भाव सामान्य रूप में सहृदय मात्र के हृदय में समान भाव से उदित हो उठते हैं।

अनुभाव

'अनुगता भावम्', 'अनुभावयन्ति भावम्' इन व्युत्पत्तियों के आधार पर अनुभाव लोक-गत उन कार्यों की साहित्यिक संज्ञा है जो भाव की उद्रिक्त सत्ता के कारण उत्पन्न होते और भाव की स्थिति का अनुभव कराते हुए रसिक की वासना को अभि-व्यक्त कर आस्वादनीय बनाते हैं। इन के चार प्रकार हैं:—

(क) आङ्गिक, (ख) वाचिक, (ग) सात्त्विक, (घ) आहार्य; उदाहरणतः, किसी में शत्रु के प्रति उत्पन्न क्रोध के कारण जो (क) ओंठ चबाना, (ख) कटुवचन कहना, (घ) रोमाञ्चित होना, (घ) तलवार उठाना आदि चेष्टाएँ दीखती हैं वे क्रोध भाव की अनुगत होती हुई उसके अस्तित्व का अनुभव कराने वाली और साथ ही काव्यास्वाद काल में सहृदय-गत क्रोध स्थायी को आस्वाद योग्य रूप में अभिव्यक्त करने वाली होने से अनुभाव कही जाती हैं।

ये चेष्टारूप क्रियाएँ भी भावों के समान ही व्यक्ति विशेष में व्यक्त-रूप लेने से विशिष्ट हो जाती हैं, पर उन का एक सामान्य रूप भी है। वे प्राणिमात्र की भावाभिव्यक्ति के साधन हैं। चूँकि सामान्य या अवैयक्तिक रूप वर्णनीय नहीं होता, अतएव काव्य में वे विशिष्ट व्यक्ति से सम्बद्ध ही दिखलाए जाते हैं पर उन का साधारण रूप ही रसिकों के हृदय में उद्बुद्ध होता है, व्यक्ति-सीमा से परिच्छिन्न नहीं।

वैयक्तिकता ही लौकिकता है और व्यक्ति रहित साधारणता ही अलौकिकता। व्यक्ति-सम्बन्ध साहित्य के साधारणीकरण का रहस्य है। यही लोक की अपेक्षा काव्य की विशेष बात

है कि व्यक्ति-सम्बद्ध रूप में वर्णित होकर भी वे अव्यक्तिगत रूप में उपस्थापित होते हैं और यही असाधारण का साधारण करना साधारणीकरण कहा जाता है। इस प्रकार साधारणीकृत रूप में उद्‌बुद्ध होकर साहित्यिक संज्ञा पाने वाले अनुभाव भाव की चर्वणा का कारण बनते और सहृदयों को आनन्दित होने में योग देते हैं।

लोक में जो भाव के कारण होते है वे ही साहित्य में विभाव कहलाते हैं, क्योंकि काव्य में पहुँच कर वे रसिक-हृदय में स्थित भाव की वासना को विशिष्ट रूप में भावित अर्थात् आस्वाद के योग्य बना कर व्यक्त करते हैं। उनके दो व्यावहारिक

विभाव प्रकार हैं—(१) आलम्बन और (२) उद्दीपन।

उद्दीपन विभावों के मोटे तौर पर दो भेद कर सकते हैं :—

(क) आलम्बन-गत चेष्टा आदि, जो आश्रय-गत भाव की दीप्ति के लौकिक कारण हैं, पर काव्य में आकर सहृदय की वासना को व्यक्त कर आस्वादनीय बनाने के कारण विभाव कहलाते हैं।

(ख) बाह्य देश-कालादि, जिन के कारण उक्त रीति से ही आश्रय-गत भाव दीप्त और रसिक-गत वासना विभावित होती है।

दोनों प्रकार के उद्दीपन विभावों का साधारण रूप होता ही है। उसे केवल व्यक्ति-सीमा के परिच्छेद का राहित्य चाहिए, सो काव्य में मिल जाता है और साधारणीकृत रूप फलीभूत होता है।

अलम्बन विभाव प्रायः व्यक्ति सीमा से आबद्ध ही मिलते हैं। जुगुप्सा आदि कुछ भावों के आलम्बनों को छोड़ कर रति आदि के आलम्बन व्यक्ति ही होते हैं। कम से कम लोक के उदाहरण से रति, शोक, क्रोध आदि के कारणों का सामान्य रूप समझ पाना सर्वथा कठिन लगता है। एक ही व्यक्ति आश्रय भेद से रति और क्रोध दोनों का कारण हो सकता है। राम सीता की रति के आलम्बन हैं, तो ईर्ष्या-तिरस्कार-कषायित-चित्ता शूर्पणखा के क्रोध के आलम्बन हैं। ऐसी दशा में आलम्बन का ही साधारणीकरण दुःसाधतम कार्य है, जिसे काव्य में स्वतः साध्य माना गया है।

आलम्बन के साधारणीकरण का आशय यह है कि भाव का जनक कारण यदि सीता है तो वह अपना 'सीतात्व' छोड़ कर नारी मात्र का प्रतीक बन जाएगी और यदि राम है तो 'रामत्व' के त्याग द्वारा नर मात्र का स्थानीय बन जाएगा। हम लोक में भी सामान्य के लिए विशेष का प्रयोग देखते हैं, "जैसे, अमुक कार्य तो किसी भगीरथ से ही संभाव्य है।" यहाँ भगीरथ शब्द 'अविरत उत्साह से सम्पन्न पुरुष मात्र' का बोधक है। "कितनी द्रुपदा की लाज लुटी।" आदि काव्य पंक्तियों में तो 'द्रौपदी' निरीह निराश्रित स्त्री मात्र के लिए गृहीत है। यह आलंकारिक शैली अवश्य है और ऐसे ही स्थलों में आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित कहा है। इसी वक्रोक्ति को भामह ने अतिशयोक्ति नाम दिया और कहा है—

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥"

'विभाव्यते' शब्द का एक अर्थ साधारणीकरण भी होता है।

अस्तु, आलम्बन व्यक्ति रूप में लौकिक भावोदय का कारण है पर काव्य में विभाव संज्ञा पाने के लिए उसे व्यक्तिता की परिधि छोड़ कर साधारण बन जाना पड़ता है। यही काव्य की अपनी विशेषता है।

इसी प्रसङ्ग में आश्रय पर भी विचार कर लेना चाहिए। आश्रय को नाट्य-शास्त्रीय प्रसङ्ग में अनुकार्य कहा गया है। उस आश्रय के अस्तित्व-शून्य होने से तथा रस-प्रकरण में तद्गत भाव के ही उपयोगी होने से प्राचीन आचार्यों ने उसे महत्त्व नहीं दिया। भट्टनायक ने तो निराश्रय रति की ही भावना स्वीकृत की है और अभिनवगुप्तपाद ने तो रसिकाश्रित भाव की व्यञ्जना मानी है। अर्वाचीन आचार्यों के लिए आश्रय भी विवेच्य बन गया और तभी पण्डितराज जगन्नाथ को हास्य रस में आश्रय की समस्या ने उलझन में डाला और उन्हें दो ही सुझाव मिले (१) आश्रय की कल्पना और (२) स्वकीय कान्ता विषयक पद्य में जैसे रसिक स्वयम् आश्रय होता है उसी प्रकार रसिक ही आश्रय रहे तो भी कोई क्षति नहीं। आचार्य विश्वनाथ को रसिक और आश्रय में तादात्म्य के अतिरिक्त कोई मार्ग न सूझा। आश्रय को मान कर उसे यदि विभाव का ही एक प्रकार स्वीकार करें तो आलम्बन के समान आश्रय का भी साधारणीकरण समझ लेना चाहिए। हास्य, बीभत्स आदि में जहाँ आश्रय अनुपात्त है वहाँ कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

रसिकों का साधारणी करण

रसिक जन ही अपनी वैयक्तिक सीमाओं से ऊपर व्यापक चैतन्य के रूप में साधारणीकृत होकर रसास्वाद करने योग्य बन पाते हैं।

"प्रमुष्ट-परिमित-प्रमातृत्त्वादि-निज-धर्मेण प्रमात्रा"

कह कर पण्डितराज ने; और

"तत्काल-विगलित-परिमित-प्रमातृभाव-वशोन्मिषित-वेद्यान्तर-सम्पर्क-शून्यापरिमित-भावेन प्रमात्रा"

कह कर अभिनवगुप्तपादानुवादी मम्मटाचार्य ने इसी रसिक-गत साधारणीकरण का स्पष्ट वर्णन कर दिया है। अभिप्राय यह कि विभावादि को साधारणीकृत रूप में पा कर रसिक भी अपना परिमित भाव अनायास ही छोड़ बैठता है और अपरिमितत्त्व या व्यक्ति-सीमा-राहित्य को पा लेता है।

रसिकों के साधारणीकरण के प्रमाण रसिक ही हैं, क्योंकि वे ही सब समान रूप से रस-काल में उस निःसीमता का अनुभव करते हैं अतः उस अनिर्वचनीय दशा के परस्पर संवाद भागी हैं।

"सकल-सहृदय-संवाद-भाषा साधारण्येन"

से काव्यप्रकाशकार का इसी ओर संकेत है। यहाँ संवाद का अर्थ आनुरूप्य है; अर्थात तत्क्षण एक सहृदय की जो अनुभूति होती है, उसी के अनुरूप दूसरे की भी। अतः सभी रसिक उच्चतर चैतन्य की उस भूमिका पर आरूढ़ हो जाते हैं जहाँ लोक-गत प्रमेयों के दर्शन-स्पर्शन असम्भव हो उठता है। तभी 'वेद्यान्तर-संस्पर्श-शून्य' 'अपरिमितभाव' आ पाते हैं। उस दशा में चैतन्य लोकोपाधियों का परिच्छेद स्वतः छोड़ देता है और एकमात्र भाव की वासना से, जो एकाकी और साधारणीकृत रूप में व्यक्त होती है, उपहित रहता है।

उस दशा में (१) विभावादि (२) वासना और (३) चेतना की त्रिपुटी एक अथ च अखण्ड रूप ले लेती है, फलतः उनका पृथक् अवबोध हो ही नहीं सकता। कुछ आचार्य तो विभावादि का पुट रस-दशा के लिए अनिवार्य नहीं मानते। वे तो चेतना और भाव की द्विपुटी को ही अपरिच्छिन्न रूप में व्यक्त कर स्वतः पृथक् हो जाने वाले साधनों के रूप में विभावादि को स्वीकृत करते हैं। जिस प्रकार योगी समाधि में सूक्ष्म एवम् अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति द्वारा ब्रह्मानन्द लेता है उसी प्रकार रसिक सूक्ष्म वासना की वृत्ति से (स्वात्म-मात्र-विश्रान्त हो कर) चिद्रूप आनन्द ग्रहण करता है। जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ का वचन है—

"भग्नावरण चिदेव रसः।" (रसगङ्गाधर)। विभावादि का इतना ही काम है कि वे उपाधि रूप से चैतन्य के आस पास स्थित अनन्त मोहादि के अन्धतमस को, जो आवरण बन कर चित्प्रकाश को रोके या तिरोहित रखता है, भग्न कर उस चैतन्य को जो स्वयं रस रूप किंवा परमानन्द रूप है निरावरण कर देते हैं। यह आवरण-भङ्ग ही तो चर्वणा या रसास्वाद है।

अस्तु, रसिक की साधारणीकृत अवस्था सर्वथा व्यवहार्य है, पर उसे रसिक ही समझ सकते हैं; रसिकम्मन्य, चतुरम्मन्य, चेतना-भार-वाही अरसिक नहीं।

"सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठ-कुड्याश्म-सन्निभाः॥"

यह रस दशा लौकिक-ज्ञान-सीमा से परे तो है ही, योगियों की प्रतीति से भी विलक्षण है। उसका अन्तर्भाव अन्य प्रतीतियों में असम्भव है। अतएव आचार्यों ने इसे ब्रह्मास्वाद-सहोदर कहा है, और साथ ही अलौकिक भी कहा है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि रसानुभूति का यह प्रसाद लौकिक अनुभवों की पृष्ठभूमि पर ही खड़ा होता है। परन्तु है वह अलौकिक क्योंकि लौकिक अनुभव साधन-मात्र हैं। साध्यरूप रस क्षणभर के लिए रसिक को लोक सीमा से निकाल लेता है। अभिनवगुप्तपाद का भी यही आशय है।

"लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यहनुमानेऽभ्यास-पाटववताम्"

कह कर मम्मट ने रसिकों के लिए लौकिक ज्ञान में अभ्यास और पटुता प्राप्त करना अनिवार्य माना है। जहाँ तक भावों का सम्बन्ध है उनका एक पक्ष लौकिक है। अभिनयादि में वही लाए जाकर अलौकिक वासना की अभिव्यक्ति करते हैं। स्पष्ट ही, आश्रय-गत स्थायी मूलतः लौकिक हैं—चित्त-वृत्ति विशेष के अर्थ में सर्वथा लौकिक हैं। रसिक गत अलौकिक वासना का उद्बोधक होने के कारण काव्य का भाव, भावक होकर भावित करने का काम करता है, अतएव अब उसका अर्थ 'भावयन्तीति वासयन्तीति भावाः' हो जाता है। यही तो भाव का अलौकिक पक्ष है। रसिक का स्थायी भाव पूर्णतः अलौकिक रह कर ही रसनीय होता है। वही स्थायी, उसी रसिक में रस-काल से अतिरिक्त काल में यदि लौकिक कारणों से उद्बुद्ध होगा तो लौकिक ही कहा जाएगा।

साधारणीकरण और भट्टनायक

साधारणीकरण तथा रसास्वाद के विषय में भट्टनायक के समक्ष दो प्रश्न थे :— (१) असाधारण विभावादि के साधारण बन जाने का यह कार्य मुक्तकों में सरल है :—

"पाती पर लिखत न बनत कहत सनेस लजात।
कहिहै सब तेरौ हियौ मेरें हिय की बात ॥" बिहारी।

यहाँ आश्रय रूप नायिका, आलम्बन विभाव रूप नायक, पाती लिखना और उसमें असमर्थता प्रकट करना आदि अनुभाव, दैन्य मति आदि सञ्चारी भाव किसी असाधारण के होकर भी निर्दिष्ट व्यक्ति विशेष का नाम नहीं ले पाते, अतः स्वत. साधारणीभूत होते हैं। परन्तु रामायण या कामायनी आदि प्रबन्धों में, जहाँ व्यक्तिसम्बन्ध रूप में ही विभावादि का चित्रण होता है, साधारणीकरण कैसे सम्भव है? साथ ही 'साधारणीकरण' शब्द का पूर्ण सार्थक्य भी तभी हो सकता है जब विशिष्ट से संबद्ध होकर भी विभावादि को अविशिष्ट बनाया जाए। यह कार्य काव्य से किस प्रकार हो जाता है? साधारण रूप लेकर वे विभावदि आनन्द रूप चिति को निरावरण कर रसिक को आनन्दमय संविद् की दशा तक कैसे पहुँचा देते हैं?

उक्त प्रश्नों के समाधानार्थ उन्होंने काव्य में दो व्यापार माने हैं। लोक में शब्द की अभिधा और लक्षणा वृत्तियाँ हैं। काव्य में उनके साथ ही रस प्रतीति के लिए दो अन्य (१) भावकत्व और (२) भोजकत्व व्यापार होते हैं।

भावकत्व से विभावादि के साधारणीकरण का कार्य होता है। वस्तुतः कारण कार्य और सहकारी, साधारणीकृत हो कर ही विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव कहलाते हैं। भावकत्व द्वारा ही वे रसिक-गत स्थायी का विभावन, अनुभावन और सञ्चारण करते हैं। विभावना, अनुभावना तथा सञ्चारणा को एक शब्द में भावना या भावकत्व कहते हैं।

अनेक स्थल ऐसे भी होते हैं जहाँ विभावादि साधारणीकृत होकर भाव को भावित तो करते हैं, फिर भी रसास्वाद नहीं होता, जैसे, बिहारी के उक्त दोहे में विवेचना के समय साधारणीकरण तो उपलब्ध है, पर रस नहीं। रसास्वाद में विवेचना ही बाधक है। अतः आस्वाद-कोटि साधारणीकरण से सर्वथा पृथक् है।

भट्टनायक को यही मान्य है कि जिस प्रकार भी मीमांसकों के मत से क्रिया शब्द से उक्त भावना (भावकत्व) अपूर्व का जनन करती है। अपूर्व भोग-पर्यन्त स्थित रह कर स्वर्ग को भावित कर देता है जिसका आस्वाद यजमान को होता है। ठीक उसी प्रकार काव्य का भावना व्यापार भी साधारणीकरण का जनन करता है जो भोग-पर्यन्त स्थिर रह कर रसिक को रस-भोग कराता है।

यह रस-भोग दूसरे भोजकत्व व्यापार से होता है। जिस प्रकार सांख्य में भोजिका प्रकृति भोक्ता पुरुष को स्वनिष्ठ क्रिया द्वारा पुरुषार्थ का भोग कराती है, उसी प्रकार भोजक काव्य भोक्ता रसिक को स्वनिष्ठ भोजना द्वारा रस का भोग कराता है।

भावना व्यापार मानने में भट्टनायक मीमांसा से और भोजकत्व मानने में सांख्य से सहायता लेते हैं।

भावना के तीन अंश होते हैं (१) साधन, (२) साध्य और (३) इतिकर्तव्यता। मीमांसकों की भावना शब्दार्थ है। उसका साधन योगादि, साध्य स्वर्गादि और इतिकर्तव्यता प्रयोगादि कर्म होते हैं। उसी प्रकार काव्य-गत भावना में साधनविभावादि, साध्य स्थायी और

इतिकर्तव्यता अलंकारौचित्यादि-निर्वाह हैं। इसी भावना से भावित स्थायी आस्वाद या भोग की योग्यता लेता है और आगे चल कर भोजकत्व रूप द्वितीय व्यापार से रसिकों के आस्वाद का विषय बनता है।

जिस प्रकार भावनाजन्य स्वर्ग की पहले से किसी में स्थिति नहीं होती। वह तो भावना से उत्पन्न होकर यजमान के भोग का विषय बनता और तब सुख रूप से यजमान में ही रहता है उसी प्रकार भावना जन्य या भाव्य स्थायी भी कहीं रहता नहीं। तत्काल विभावादि से भावित होकर रस रूप लेता और रसिक में रस रूप से ही भोग काल में स्थित रहता है। स्थायी भाव, अनुकार्य या अनुकारक (नट) में रहते हुए आस्वाद्य नहीं हो सकते, क्योंकि रसिक का उनसे क्या सम्बन्ध ? रसिक में स्थित स्थायी भाव भी रस रूप नहीं लेता, क्योंकि लज्जादि के उदय से आस्वाद असम्भव है। अतएव निरवच्छिन्न, निरुपाधि किंवा निराश्रय स्थायी ही, भोग का विषय है।

"न तादस्थ्येन नात्मगतत्त्वेन"

से उनका यही अभिप्राय है।

भट्टनायक के मत में कुछ अरुचियाँ हैं—

(१) वे स्थायी भाव को आकाशस्थ मानते हैं। व्यक्त रूप लेने के लिए उसकी कहीं न कहीं अवस्थिति पहले से अपेक्षित है। विभावादि द्वारा स्थायी भाव के भावित होने का अर्थ यदि अपूर्व भाव की उत्पत्ति है, तब तो भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद पुनर्जीवित हो गया जो सर्वथा अमान्य है। यदि उसका अर्थ प्रकाशन मात्र है, तब भावना = प्रकशना = द्योतना = व्यंजना जैसा कुछ आशय हुआ पर भट्टनायक ने 'नाभिव्यज्यते' कह कर व्यंजना का अनादर कर डाला है।

साधारणीकरण और अभिनवगुप्तपाद

(२) भोजकत्व के भी दो अर्थ होंगे। (क) काव्य का भोजकत्व केवल रसिक के हृदय के द्रुति-विस्तार-विकास रूप चमत्कार का जनक साधन मात्र है। (ख) रसिक स्वतः ऐसी वासना रूप शक्ति से सम्पन्न है जिसे भोजकत्व कह सकते हैं और वह काव्य की नहीं रसिक की अपनी वस्तु है। प्रथम अर्थ लेकर ही काव्य को भोजक माना जा सकता है और भोजकत्व का अर्थ हुआ द्रुत्यादि का, जो सहृदय में रहती हैं, उद्बोधन = द्योतन = व्यंजन और फलस्वरूप यहाँ भी 'नाभिव्यज्यते' की सङ्गति नहीं बैठती।

(४) निर्मूलक दो वृत्तियों की कल्पना में व्यर्थ का गौरव है।

उक्त अनुपपत्तियों का समाधान अभिनवगुप्त के मत में इस प्रकार है।

(१) रसिक में विद्यामान स्थायी भावरूप वासना ही विभावादि द्वारा भावित किंवा द्योतित होकर रसिक के आस्वाद का विषय बन जाता है। यदि अविद्यमान रति की उत्पत्ति मानें तो भी किस में उत्पत्ति होती है यह प्रश्न स्वाभाविक है। अतः अविद्यमान रति का सिद्धान्त अमान्य है।

(२) भावकत्व से भावित होने का अर्थ अपूर्व स्वर्गादि की उत्पत्ति के समान अविद्यमान रति आदि की उत्पत्ति नहीं ले सकते। प्रत्युत, रसिक में ही विद्यमान स्थायी की व्यंजना हो जाती है। पहले से अव्यक्त, सुप्त पड़ी हुई वासना को निर्विशेष, निरवच्छेद रूप में व्यक्त करने का काम ही काव्य द्वारा होता है।

(३) भोजकत्व का जितना काव्य व्यापार पक्ष है वह उद्‌बोधन मात्र है। यदि पूर्णतः भोजक रूप में काव्य को लें तो हृदयहीन जनों को भी वह क्यों नहीं आस्वाद दे देता ? द्रुत्यादि रूप भोग जो काव्यकृत है केवल चमत्कार है—

"रस्यमानतोदित-चमत्कारानतिरिक्तत्त्वाद् भोगस्पेति ।"

ध्वन्यालोक लोचन २ । ४

यह चमत्कार तो रसिक में ही होता है, इस में शब्द क्या कर सकता है ? उद्‌बोधन अवश्य कर सकता है। रही भोग के आस्वाद-पक्ष की बात, सो उसमें रसिक स्वतन्त्र है। रसिक भी वह तभी है जब रस-भोग की क्षमता या व्यापार अपने में रखता हो। प्रत्यक्ष है कि भोग व्यापार रसिक में है। काव्य में उद्‌बोधन = द्योतन = व्यञ्जन व्यापार ही हो सकता है। सारांश यह कि रसास्वाद तो रसिक का काम है। काव्य तो स्थायी भाव की उपस्थापना इस रूप में करता है कि वह आस्वादनीय हो सके। स्थायी भाव जब पहले से ही रसिक में विद्यमान है तो उसकी भी व्यंजना ही अभीष्ट है।

(४) अस्तु, सिद्ध हो गया कि भावकत्व तथा भोजकत्व दोनों वृत्तियों का कार्य व्यंजना व्यापार से ही साध्य है अतः दोनों के स्थान पर व्यंजना ही मान्य है। रही साधारणीकरण की बात; सो काव्य में साधारणीकृत कार्य-कारण-सहकारी ही आते और विभावादि संज्ञा पाते हैं। यह साधारणीकरण भी व्यंजना का ही काम है, जो रस-प्रसङ्ग में ही नहीं, नीरस स्थलों में भी व्यवहार्य है। जैसे—

"रे गन्धी ! मति-अन्ध तू, अतर देखावत काहि ॥" बिहारी।

यहाँ 'गन्धी' व्यक्ति विशेष का बोधक नहीं अपि तु किसी भी गुणवान् के अर्थ में प्रयुक्त है। यह साधारणीकृत अर्थ व्यंजना की ही वस्तु है क्योंकि भट्टनायक की भावना तो रस-मात्र के प्रसङ्गों में आती है।

भट्टनायक का भोजकत्व सांख्यानुसारी है। अतएव उन्होंने रसिक रूप पुरुष की व्यक्तिता मान्य रक्खी है। सांख्य के अनन्त पुरुष भोक्ता होते हैं और भोग में उनका पार्थक्य स्वयं सिद्ध है। परन्तु अभिनवगुप्तपाद ने शैव (या वेदान्त) दर्शन के अनुसार चिति का एकत्व माना है, अतएव रसिक का भी अपरिमित भाव = साधारण्य स्वीकार किया है।

रस जैसी वस्तु पूर्वतः सिद्ध तो है नहीं कि काव्य उसका भोग कराए। वह तो रस उतनी ही देर है जितनी देर आस्वादित हो। यह आस्वादन सर्वथा रसिक की वस्तु है। काव्य सहृदयस्थ भाव को व्यक्त भर कर सकता है, अतः वह व्यंजक है। हरीतकी द्वारा जल-गत माधुर्य की व्यंजना होती है। माधुर्य का भोग तो पुरुष का काम है। पुरुष ने जल के साथ हरीतकी खाई और उसे जल के माधुर्य का भोग हुआ। हरीतकी न तो जल में माधुर्य भावित करती है और न ही पुरुष को उसका भोग कराती है। माधुर्य और भोग दोनों ही क्रमशः जल और पुरुष में स्थित हैं जिनकी व्यंजना हरीतकी द्वारा होती है।

यदि कहें कि व्यंजक के अर्थ में ही 'भोजक' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग मान कर आधुनिक समीक्षकों का मन रख लिया जाए, तो कोई बड़ी आपत्ति नहीं; पर लाक्षणिक पद

का यहाँ लक्ष्यार्थ तो 'व्यंजक' ही होगा। फिर क्यों न भोजकत्व के स्थान पर सीधे 'व्यंजना' का प्रयोग करें ?

साधारणीकरण का अर्थ तादात्म्य नहीं

कुछ लोग साधारणीकरण का उक्त अर्थ न समझ कर सहृदय और किसी अन्य के तादात्म्य या अभेदाध्यवसाय को ही साधारणीकरण मानते हुए मनगढ़न्त कर चले हैं। कुछ अन्य प्रकार के भ्रम भी देखने में आए हैं। कतिपय भ्रान्तियों का उल्लेख यहाँ अभीष्ट है:—

(१) आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में कहा है—

"व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः ॥ ३ । ६
तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः ।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ॥ ३ ॥ १०

आशय है कि रसिक और आश्रय (अनुकार्य रामादि) का तादात्म्य हो जाता है और इस तादात्म्य का कारण है विभावादि का साधारणीकरण। नव्यों के नाम पर पण्डितराज ने इसी का उल्लेख किया है। परन्तु साधारणीकरण विभावादि का होता है इसमें उन्हें कुछ कहना नहीं।

(२) आचार्य विश्वनाथ के आधार पर यह मान लिया गया कि आश्रय के साथ तादात्म्य और आलम्बन का साधारणीकरण होता है। आलम्बन के साधारणीकरण का आशय यह समझाया गया कि लोक-हृदय अर्थात् सब के हृदय के भाव का जो आलम्बन हो वही साधारणीकृत माना जाए और उसी को कवि अपने काव्य में चित्रित करे। तो क्या सीता आदि को सामान्य नायिका के समान सभी की रति का आलम्बन बनना पड़ेगा ? इसका समाधान इस प्रकार किया गया कि सीता के स्थान पर सहृदय अपनी प्रेमिका को रख लेता है और उक्त अनाचार से बच जाता है। यदि किसी अविवाहित नवयुवक के कोई प्रेमिका ही न हुई तो कल्पित प्रेमिका ने सीता की भूमिका ले ली और साधारणीकरण हो गया। स्पष्ट है कि इस साधारणीकरण का अर्थ अरोपित तादात्म्य के अतिरिक्त कुछ नहीं। अतः वे बालक और बालिकाएँ जो लौकिक रति से अनभिज्ञ हैं रसास्वाद के अधिकारी न होंगे। श्रीरामचन्द्र जी ने साधारणीकरण रूप यज्ञ की पूर्णता के लिए सीता के स्थान पर कल्पित काष्ठ प्रतिमा स्थापित कर ली।

कहना न होगा कि इस अर्थ में साधारणीकरण मानने पर सीता-गत राम की रति पुरुषों, तथा राम-गत सीता की रति स्त्रियों द्वारा रसनीय हो सकेगी। परन्तु साधारणीकृत रति तो स्त्री-पुरुष-विषयत्व का त्याग कर सामान्य रति वासना रह जाती है, जिसकी अवस्थिति रसिक में ही है, अन्यत्र कहीं बाहर नहीं। ध्यान रहे—रसिक अपनी ही वासना रूप रति का आस्वाद करता है। वह वासना व्यक्ति-प्रभृति सीमाओं से अपरिच्छिन्न है।

(३) कुछ आधुनिकतम विद्वान् उक्त-तादात्म्य प्रधान साधारणीकरण में अविरल दोष देख कर कवि के साथ सहृदय के साधारणीकरण (या तादात्म्य ?) का उपदेश देने लगे और इस अनुसन्धान की मौलिकता पर गर्व करते हुए प्राचीन आचार्यों की समीक्षा में दत्तचित्त हुए। ये दोषज्ञ कवि को उचित महत्त्व न देकर सहृदय पर अनावश्यक बल देते हैं।

यह साधारणीकरण भी तो तादात्म्य के अतिरिक्त और क्या है? यह सब तादात्म्य का इन्द्रजाल खड़ा कर आचार्य विश्वनाथ ने दृष्टिबन्ध कर दिया है।

परन्तु हमें समझना चाहिए कि जिस प्रकार सभी सहृदय समान रूप से एक ही उच्च भूमिका पर प्रतिष्ठित हो रसास्वाद करते हैं उसी प्रकार कवि भी उसी उच्च भूमिका पर से रस-सृष्टि करता है। रस-ग्राहकत्व की दृष्टि से कवि भी रसिक ही है। कवि तो वह शब्दार्थ-योजना के अभिप्राय से कहा जाता है। कवि के अन्य सहृदय-संवाद-भागी, या अन्य सहृदयों के कवि संवाद भागी होने का अर्थ साधारणीकरण नहीं है। वह तो इस प्रकार की अपव्याख्याओं से बहुत दूर है।

सर्वथा स्वाभाविक साधारणीकरण शास्त्र-परम्परा से व्याख्याओं के राजमार्ग पर चलता हुआ अभिनवगुप्तपाद की प्रतिभा द्वारा पूर्ण सुसज्जित हो निरन्तर उसी रूप में मान्य है।

मराठी, बंगला, गुजराती और हिंदी में चाणक्य-चन्द्रगुप्त कथा

श्री श्री० ना० बनहट्टी, पुण्यपुर (पूना)

सम्राट चन्द्रगुप्त और चाणक्य की कथा एक ऐसा विषय है जिसके आधार पर लिखे हुए कई उपन्यास और नाटक उत्तर भारतीय भाषाओं में पाए जाते हैं। बँगला, हिन्दी, मराठी और गुजराती, इन चार भाषाओं में चन्द्रगुप्त और चाणक्य के वृत्तान्त पर लिखी हुई कुछ कृतियों का संक्षिप्त समीक्षण करना और उनकी विशेषताओं को प्रकट करना इस निबंध का उद्देश्य है।

ग्रीक इतिहासकारों के अनुसार सम्राट् चन्द्रगुप्त और ग्रीक विजेता अलेक्ज़ांडर समकालीन थे। इस कारण हमें ग्रीक इतिहासकारों के वृत्तान्तों में चन्द्रगुप्त और तत्कालीन परिस्थिति के संबंध में कुछ सूचनाएँ मिलती हैं। इसके अलावा हमें उस काल की जानकारी हिन्दू पुराणों और मुद्राराक्षस नाटक जैसे साहित्य ग्रन्थों, महावंश और अट्ठकथा जैसे बौद्ध ग्रन्थों तथा कुछ जैन ग्रन्थों से प्राप्त होती है।

विवेच्य साहित्यकारों में से किसी ने भी जैन ग्रन्थों से मिलने वाले वृत्तांतों का उपयोग नहीं किया। शेष दोनों भारतीय स्रोतों से प्राप्त हुई हक़ीक़तें बेमालूम मिश्रित करके सभी साहित्यकारों ने अपनी-अपनी कलाकृतियों में अपने-अपने ढंग के अनुसार दोहराई हैं। परन्तु इस तरह का मेलजोल ग्रीक उद्गमों और भारतीय उद्गमों से प्राप्त हुई बातों का हुआ है ऐसा नहीं प्रतीत होता, वरन् ग्रीक इतिहास से प्राप्त हुई हक़ीक़तें भारतीय कथानक के ऊपर अध्यारोपित की हुई हैं या उससे जोड़ी हुई हैं। इसमें और भी एक बात ध्यान देने लायक है। वह यह कि मराठी और गुजराती साहित्यकारों ने ग्रीक इतिहास से मिलने वाले वृत्तान्त का बहुत ही थोड़ा उपयोग किया है और बँगला और हिन्दी साहित्यकारों ने उसका अधिकतर परिमाण में उपयोग किया है।

ग्रन्थों का समीक्षण प्रारंभ करने के पूर्व जिस कथा के तथा जिन प्रमुख व्यक्तियों के आधार पर साहित्यकारों ने अपनी-अपनी कलापूर्ण इमारतें रची हैं उनका थोड़ा सा उल्लेख करना उचित होगा। मुख्य केन्द्रीय कथा इस प्रकार है : मगध देश के 'नन्द' नाम वाले राजा और राज-पुत्रों का कुटिल नीति-पटु चाणक्य ब्राह्मण का सहारा लेकर चन्द्रगुप्त नामक राज-पुत्र ने समूल नाश किया। उसके बाद चन्द्रगुप्त मगध का सम्राट् बन गया और भारी दिग्विजय करके उसने अपना साम्राज्य उत्तर में हिन्दुकुश पर्वत से लेकर दक्षिण में मैसूर

तक बढ़ाया। भारतीय उद्गमों से जो सर्व संमत हक़ीक़त प्राप्त होती है वह सिर्फ इतनी ही है। इस कथा का बाक़ी जो विस्तार है वह प्राचीन भारतीय ग्रंथों में मुख्तलिफ बताया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि साहित्यकारों ने अपनी कृतियों में कथानक का जो आधार बनाया है वह बिलकुल भिन्न स्वरूप का हो गया है। विविधता की स्वच्छन्द दौड़ हम यहाँ देख सकते हैं।

चाणक्य और चन्द्रगुप्त द्वारा मगध का जो राजा मारा गया उसका कुल-नाम 'नन्द' था सही, लेकिन उसके व्यक्तिगत नाम के बारे में मतभेद है। पुराणों में उसका नाम दिया है महापद्म। कहीं कहीं वह नाम 'महानन्द' पाया जाता है। कथासरित्सागर में योगनन्द है और बौद्ध ग्रन्थों में धननन्द। मारे गए नन्दों की संख्या नौ बहुत से ग्रन्थों में बताई गई है। नौ संख्या का ब्योरा एक मुख्य राजा नन्द और उसके आठ पुत्र, ऐसा बहुतेरे स्थानों में मिलता है। परंतु मुद्राराक्षस नाटक का टीकाकार ढुंढि लिखता है कि ये नौ लोग नन्द वंश के राजा सर्वार्थसिद्धि के पुत्र, अर्थात् परस्पर भाई थे।

प्राचीन ग्रंथों में जो कथाएँ मिलती हैं उससे यह व्यक्त होता है कि नन्द और उसके पुत्र बड़े अन्यायी, उच्छृंखल और उपद्रवकारी थे। उनके अमात्यों के विभिन्न ग्रन्थों में शकटार, वररुचि (कात्यायन), वक्रनास और राक्षस, ये चार नाम मिलते हैं। पारम्परिक दन्तकथा के अनुसार यह वररुचि, अपर नाम कात्यायन और पाणिनि की अष्टाध्यायी का वार्तिककार जो व्याकरण शास्त्र के मुनित्रयों में एक है, दोनों एक ही व्यक्ति माने जाते हैं। क्रोधी और अन्यायी नन्द ने मन्त्री शकटार को वर्षों तक अन्ध कूप में बन्दी बना रखा था; उसके सात पुत्र भी उसके साथ बन्दी कर दिए गए थे, जो सब एक के बाद एक भूख के मारे मर गए। शकटार को छोड़ने के बाद नन्द ने वररुचि को बन्दी बनाया। शकटार ने अपने छुटकारे के बाद चाणक्य से मित्रता स्थापित की और उसको नन्द का विरोधी बना कर उससे नन्दों का नाश कराया। ऐसी बहुत सी कथाएँ बौद्ध ग्रन्थों में और कथासरित्सागर जैसे संस्कृत ग्रन्थों में पाई जाती हैं। उनमें परस्पर विसगति भी बहुत है। अमात्य राक्षस की नन्दों के प्रति दृढ़ निष्ठा मुद्राराक्षस नाटक के द्वारा सुविख्यात है।

चन्द्रगुप्त के चरित्र के संबंध में तो सभी बातें गूढ़ और संदिग्ध हैं। जो कथाएँ मिलती हैं वे परस्पर विसगति से भरी हुई हैं। अधिकतर स्थानों में यह पाया जाता है कि चन्द्रगुप्त मुरा नामक स्त्री से उत्पन्न हुआ राजा नन्द का पुत्र था। व्युत्पत्ति भी दी जाती है कि 'मुरा' शब्द से ही चन्द्रगुप्त का कुल-नाम मौर्य बना है। मुरा वृषलीया दासी या शूद्रा थी। यहाँ तक बताया गया है कि वह नाइन थी। सापत्न भाइयों की स्पर्धा से चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र छोड़ना पड़ा। बाद में उसका चाणक्य से संबंध हुआ जो कि नन्द के किए हुए अपमान का नन्द वंश के ध्वंस के रूप में घोर प्रतिशोध लेना चाहता था। चन्द्रगुप्त ने चाणक्य को अपना गुरु किया और इन दोनों ने हर तरह का कपट और साहस करके नन्दों का समूल नाश किया।

मुद्राराक्षस का टीकाकार ढुण्ढि कहता है कि चन्द्रगुप्त नन्द राजा सर्वार्थसिद्धि के पुत्र मौर्य का लड़का, अर्थात् नन्द का नाती था। मुद्राराक्षस में राजा पर्वतेश्वर और उसके पुत्र

मलयकेतु का भी नाम पाया जाया है जो नन्दों के ख़िलाफ़ चन्द्रगुप्त को मदद करने के बहाने पाटलिपुत्र आए थे।

बाबू जयशंकर प्रसाद जी का अभिप्राय है कि ये सब कथाएँ ग़लत हैं। मुरा से 'मौर्य' शब्द नहीं बन सकता। बौद्ध ग्रन्थों के और दूसरे कुछ वचनों के आधार पर प्रसाद जी ने यह निर्धारित किया है कि उच्च क्षत्रियों का मौर्य नाम का एक प्राचीन कुल था। नन्द वंश और मौर्य वंश भिन्न हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य वंश में पैदा हुआ था और नन्द का उसके या उसके पिता के ऊपर रोष होने से उसको पाटलिपुत्र छोड़ना पड़ा था। चन्द्रगुप्त की माता का 'मुरा' नाम था, इसका कोई ठीक प्रमाण नहीं है।

चाणक्य का व्यक्तित्व तो और भी रहस्यपूर्ण है। बौद्ध लोग उसे तक्षशिला निवासी ब्राह्मण कहते हैं। प्रसाद जी स्वयं अनुमान करते हैं कि चाणक्य तक्षशिला से अवश्य संबद्ध था, लेकिन वह मगध का रहने वाला ब्राह्मण था। वह पाटलिपुत्र से अध्ययन के लिए तक्षशिला गया होगा, जहाँ का विद्यापीठ उस काल में भारत भर में सुविख्यात था। अध्ययन समाप्त होने के बाद कुछ आश्रय मांगने के लिए वह नन्द की राज-सभा में आया होगा। सभी वृत्तान्तों से यह बात स्पष्ट है कि नन्दों के संमुख आने पर नन्दों ने उसका घोर अपमान किया, जिससे क्रोधाविष्ट होकर उसने नन्दों का समूल ध्वंस करने की प्रतिज्ञा की। प्राचीन ग्रन्थों में यह बतलाया गया है कि चाणक्य प्रखर प्रतिभावान, कूटनीति-निपुण वैदिक-धर्माभिमानी ब्राह्मण था और नन्दों का नाश तथा चन्द्रगुप्त का मगध-राज्यारोहण उसी की प्रतिभा और परिश्रम का फल था। चन्द्रगुप्त से चाणक्य का संबंध कब और कैसे हो गया यह भी एक गूढ प्रश्न है।

भारतीय उद्गमों से प्राप्त हुई सामग्री का निरूपण करने के बाद ग्रीक इतिहास लेखकों से जो हकीक़तें मिलती हैं उनका भी संक्षेप में उल्लेख करना चाहिए। ई० स० पूर्व ३२६ में अलेक्ज़ांडर का भारतवर्ष पर आक्रमण हुआ था। तक्षशिला के राजा आम्भी को द्रव्य के लालच से अपने पक्ष में मिला कर तक्षशिला को उसने परिचालन का आस्थान (base of operations) बनाया था। ग्रीक लेखक कहते हैं कि तक्षशिला में ही अलेक्ज़ांडर की चन्द्रगुप्त से भेंट हुई थी। वहाँ से सिन्धुनद पार करके वितस्ता के तीर पर उसने पोरस को पराभूत किया और उसे अपना मांडलिक बना कर उसका राज्य लौटा दिया। आगे चल कर क्रमशः वितस्ता, चन्द्रभागा, इरावती नदियों के प्रदेश को जीत करता हुआ सिकन्दर विपाशा तट तक आया। इस भाग में पार्वत्य जातियों से और मालव-क्षुद्रक गणराज्यों से युद्ध करने में उसे बड़ी हानि उठानी पड़ी। युद्ध के सख्त आघातों से उसकी फ़ौज हैरान हो गई और उसमें असंतोष फैल गया। इस वजह से उसने भारत से लौटने का निश्चय किया और वह काबुल की ओर चला गया। ई० स० पूर्व ३२३ में बैबिलन में उसकी मृत्यु हो गई।

ग्रीक-भारतीय सम्बन्ध का यह पहला अध्याय समाप्त हो गया। दूसरा अध्याय शुरू होता है लगभग सत्रह वर्षों के बाद। अलेक्ज़ांडर का एक सेनापति सिल्यूकस और दूसरा सरदार अँटिगोनस था। इन दोनो में बड़ी स्पर्धा थी। बहुत सी लड़ाइयों के बाद उन के बीच सन्धि हुई। अँटिगोनस को सीरिया इत्यादि प्रदेश मिला और बैबिलन के आसपास के प्रदेश का सिल्यूकस क्षत्रप या अधिपति हुआ। यह घटना ई० पू० ३११ में हुई। सिल्यूकस को

भारत पर आक्रमण करने की बड़ी प्यास थी। बीच के प्रदेशों की जीत करके उसने ई० पू० ३०६ में भारत पर आक्रमण किया। सम्राट चन्द्रगुप्त ने उसका मुकाबला किया। सिन्धु के इस पार दोनों सेनाओं में घोर संग्राम हुआ और उसमें चन्द्रगुप्त की विजय हुई। हिन्दुकुश पर्वत तक सब प्रदेश जो आज अफगानिस्तान कहलाता है सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त को दिया और अपनी सुन्दरी कन्या चन्द्रगुप्त को विवाह में दे दी। सम्राट् चन्द्रगुप्त के उत्कर्ष का यह उच्चतम बिन्दु माना जा सकता है।

भारतीय लेखकों का अनुमान है कि अलेक्ज़ांडर से पराभूत हुआ पंचनद का नरेश पोरस और मुद्राराक्षस तथा अन्यान्य भारतीय ग्रन्थों में उल्लिखत पर्वतेश एक ही थे।

जिस सामग्री के आधार पर हमारे साहित्यकारों ने अपनी-अपनी कल्पना शक्ति का जाल फैलाया है वह मुख़्तसर इतनी ही है। उनकी प्रतिभा के दो तरह के व्यापार दिखाई देते हैं। एक है वरण (selection) और दूसरा निर्माण (creation)। आधारभूत हक़ीक़तों से अपनी धारणा के अनुसार व्यक्ति और प्रसंगों का अपनी कला-कृति में समावेश यह एक बात है तथा काल्पनिक व्यक्ति और प्रसंगों की सृष्टि दूसरी बात है। इन दोनों शक्तियों का उपयोग करके दोनों के मिश्रण से कला-कृति का जो अद्भुत गठन साहित्यकारों ने किया है उसका अवलोकन हमें करना है। इस गठन में हर एक साहित्यकार की जो दृष्टि प्रतीत होती है उसका भी निरीक्षण करना जरूरी है। साधारण तौर पर यह कहना ठीक होगा कि हमारे साहित्यकारों ने राष्ट्रीय दृष्टि का पूर्णरूप से अवलंबन किया है। कुछ कला-कृतियों में धार्मिक और सामाजिक दृष्टि की भी झलक दिखाई देती है। इन दृष्टियों का आधार स्वरूप ऐतिहासिक दृष्टि अवश्य है, मगर हमें एक आध उदाहरण ऐसा भी मिलेगा जहाँ ऐतिहासिक दृष्टि दुर्बल हो गई है।

जिन कला-कृतियों का समीक्षण हम यहाँ करने वाले हैं उनमें काल-क्रम के अनुसार पहला है मराठी उपन्यास 'चन्द्रगुप्त'। यह मराठी के श्रेष्ठ उपन्यासकार हरिनारायण आपटे का लिखा हुआ है। उनके 'करमणूक' नाम के साप्ताहिक पत्र में यह १६०२ से १६०४ तक क्रमशः प्रकाशित हुआ था। काल-क्रम से दूसरा है द्विजेन्द्रलाल रॉय कृत बँगला नाटक 'चन्द्र-गुप्त' जो १६१० में मिनर्वा थिएटर में प्रथम रंगमंच पर आया था। तीसरा क्रमांक नरसिंह चिंतामण केलकर के मराठी नाटक का है। इसका भी नाम 'चन्द्रगुप्त' है और इसका प्रथम प्रयोग ई० सन् १६१३ में हुआ था। इसके बाद हम लेंगे श्री कन्हैयालाल मुन्शी का गुजराती उपन्यास 'भगवान कौटिल्य'। यह सन् १६२७ में प्रकाशित हुआ था। आख़िर में हम विचार करेंगे जयशंकर 'प्रसाद' के हिन्दी में लिखे हुए 'चन्द्रगुप्त' नाटक का जो सन् १६३१ में प्रकाशित हुआ।

आपटे जी का उपन्यास 'चन्द्रगुप्त' पढ़ कर हमें उनका अद्भुत रचना-कौशल, व्यक्ति निर्माण की जादूगरी, वरण-शक्ति का अन्युत्तम उपयोग और विशाल राष्ट्रीय दृष्टि का प्रत्यय होता है। बौद्ध ग्रन्थों का अनुकरण कर उन्होंने मगध के राजा का नाम धनानन्द रखा है। उसका चित्र है तो बिलकुल ठीक, लेकिन उसको सुस्पष्ट और गहरी लकीरों से न खींच कर उसे एक मध्यम श्रेणी का पात्र बनाया गया है। धनानन्द एक विलास-प्रिय पर-प्रत्ययनेय

बुद्धि राजा है। राज्य शासन का भार महाकर्तृत्वशाली अमात्य राक्षस के कंधों पर सौंप कर वह निश्चिंत होकर सुखोपभोग में मग्न हुआ है। वह दुष्ट और नीच तो नहीं है, लेकिन ऐसी उच्च कोटि का पुरुष भी नहीं है जिसकी क्रूर हत्या पर वाचकों की सहानुभूति का स्रोत उसी की ओर बहे। ईप्सित परिणाम की दृष्टि से यह ठीक नहीं होता। पाठकों का ध्यान चाणक्य के षड्यन्त्र और उसके राजकीय तथा राष्ट्रीय परिणामों पर ही केन्द्रित करना कला की दृष्टि से अवश्य ठीक है और लेखक ने वही किया है।

इसी कारण चन्द्रगुप्त को भी लेखक ने पृष्ठभूमि में रखा है। वह सुन्दर, शूर, तेजस्वी लड़का है। इन गुणों का प्रत्यय दिलाने की कोशिश लेखक ने जरूर की है, लेकिन वह अपने महान गुरु का सच्चा चेला है, बस इतना ही स्थान कथानक में उसका रखा है।

चन्द्रगुप्त की माँ और धनानन्द की बुपली, अपमानिता और परित्यक्ता, पत्नी मुरा, धनानन्द द्वारा अपमानित, महातेजस्वी और दीर्घ-द्वेषी ब्राह्मण चाणक्य तथा नन्दों का अचल निष्ठावान स्वामि-भक्ति की पराकाष्ठा करने वाला अमात्य राक्षस—ये तीन व्यक्ति इस बौद्धिक चमत्कृतिपूर्ण कथानक में प्रमुख हैं। इन्हीं पर लेखक ने अपना कौशल केन्द्रित किया है। उपन्यास के पूर्वार्ध में मुरा और उसके सहायक चाणक्य का प्राधान्य है। उत्तरार्ध में सब नजरा बदल जाता है। अचल निष्ठावान राक्षस और उसका मुकाबला करने वाले कुटिल नीतिज्ञ चाणक्य का प्राधान्य हो जाता है।

चन्द्रगुप्त की माता के नाते मुरा का नाम प्राचीन आधार ग्रन्थों में भी मिलता है। लेकिन मुरा का अद्भुत चरित्र-चित्रण पूर्णरूप में लेखक की ही करतूत है। अपने अपमान और पुत्र के अकारण वध का बदला लेने की इच्छा करने वाली मुरा साधारण स्त्री नहीं है। उसका निश्चय पक्का है, साहस उग्र है और कपट बेमालूम है। धनानन्द को फन्दे में पकड़ने के लिए वह जिस धूर्तता से मायाविनी बनती है वह अतुलनीय है। यह सब होते हुए भी अन्त में उसका कोमल भाव जाग्रत होता है और फन्दे में फँसा हुआ विश्वास-चित्त धनानन्द जब कराल मृत्यु की ओर खींचा जाता है तब अनुताप की असह्य चुभन से वह अपनी बलि देती है। आपटेजी की कला यहाँ उत्कर्ष का चरम बिंदु प्राप्त करती है।

चाणक्य के कपट-प्रयोग इतनी चतुरता से दिखाए गए हैं कि पाठक आश्चर्य-चकित हो जाता है। हर तरह की फ़रेबी चालों से वह जब राक्षस को घेरता है तब नाटकीय व्यंग्य के अनेक उत्कृष्ट प्रसंग पैदा होते हैं। लेकिन चाणक्य केवल चालाक आदमी नहीं है। वह एक दृढ़ निश्चयी, स्वार्थ-शून्य, निरीह, ध्येयवादी महान् ब्राह्मण है। यवनों को परास्त करने के लिए उसने मगध को शक्तिशाली बनाया और उसके लिए विलास-मग्न, ध्येय-शून्य नन्द राजाओं को हटाना ही अपना लक्ष्य बनाया। इस राष्ट्रीय दृष्टि से प्रभावित होने से उसे यही प्रतीत होता है कि प्रज्ञा विक्रम, श्रद्धालु राक्षस ही मगध का महामन्त्री होने योग्य है। राक्षस का मन वश करने में सफलता पाकर वह स्वयं पीछे हट जाता है। चाणक्य के चरित्र का यह उदात्त पर्यवसान उसके कपटपूर्ण साधनों पर पर्दा डाल देता है।

चाणक्य के कपट-प्रयोगों की रचना करने में आपटेजी को मुद्राराक्षस नाटक से कुछ

थोड़ी सी अप्रत्यक्ष सूचनाएँ अवश्य मिली होंगी। लेकिन उसके चारित्र की गठन सम्पूर्णतया आपटेजी की ही कृति है। अमात्य राक्षस की नन्दों के प्रति अतुल निष्ठा तथा उसके प्रज्ञा, भक्ति आदि गुण मुद्राराक्षस नाटक में प्रतीत होते हैं। उन गुणों को लेकर उनमें देशभक्ति और राष्ट्रीय दृष्टि मिला कर आपटेजी ने अपना राक्षस गढ़ा है।

तो आपटेजी के इस उपन्यास से हमें क्या प्रतीत होता है? कथानक का अंदरूनी अंश केवल वैयक्तिक सम्बन्धों द्वारा निर्मित होने पर भी उसके ऊपर राष्ट्रीय-स्वातन्त्र्य के जाग्रत भाव इसमें भरे गए हैं। ऐतिहासिक दृष्टि तो बुनियाद में है ही। दो ढाई हजार वर्षों के पूर्व का यह हिंदुस्तान है ऐसा आभास पैदा करने में लेखक सफल हुए हैं। धार्मिक विचार या दृष्टिकोण इसमें नहीं है। लेकिन तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति—पौराणिक हिन्दू धर्म की लोक-मान्यता और राज-मान्यता तथा दूसरी ओर बौद्ध धर्म के अभ्युदय की अवस्था ठीक चित्रित की गई है।

धार्मिक या जातीय विचार एवं दृष्टिकोण द्विजेन्द्रलाल रॉय के चन्द्रगुप्त नाटक में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होते हैं। उसमें चाणक्य ब्राह्मणत्व का नितान्त अभिमानी चित्रित किया गया है। चाणक्य अपनी हीन स्थिति में जलता हुआ कहता है—"आज ब्राह्मण ताइ मृषिकेर मत एक अंधकार गर्त थेके अन्य अन्धकार गर्ते सेंधोबार जन्य माथा नीचु करे चले छे। लज्जा ओ नाइ। एक दिन जार पदाघात चिह्न स्वयं नारायण सगर्वे बक्षे धारण करितेन—आज से उपवीत सार ब्राह्मण मुष्टि भिक्षार जन्य लालायित। ओः कि अधःपतन।" आगे चलकर वह प्रतिशोध लेने की बात कहता है—"एइ अविश्वासी बौद्धयुग धरे फेले छे। ...एइजन्या आसछे। जाबे...ब्राह्मणेर प्रभुत्व जेते बसेछे—जाबे। रक्षा करते पारो ना। तबू प्रलयेर पूर्वे एइ कलिर ब्राह्मण एक बार द्वादश सूर्येर मत आकाश पृडिये दिए चले जाबे।"

उसके कहने का मतलब यह है कि ब्राह्मण जाति पूर्व युग में अत्यन्त तेजस्वी, सम्मानित और गौरवान्वित थी। आज वह अत्यन्त पद-दलित, मुष्टि-भिक्षा के लिए लाचार बन गई है। बौद्ध धर्म की बाढ़ आ रही है। वह श्रद्धा को उखाड़ देगी। ब्राह्मण का प्रभुत्व अब नष्ट होने वाला है। तो भी प्रलय होने के पूर्व यह कलियुग का ब्राह्मण आखिर में अपने दाहक तेज का प्रभाव दिखाकर ही लुप्त होगा।

चाणक्य जिस तरह जितना ब्राह्मणत्व का प्रखर अभिमानी, इतर वर्णों को तुच्छ करने वाला है, वैसे ही मगध का राजा नन्द उतना ही क्षत्रियों का अभिमानी है। वह ब्राह्मण चाणक्य का घोर अपमान करता है। दूसरी ओर अपनी सापत्न माता मुरा को हर दम शूद्राणी कह कर उसका हृदय विह्वल करता है।

इसका तात्पर्य शायद यह दिखाना हो सकता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये दोनों वर्ण गर्वोद्धत होकर एक दूसरे से स्पर्धा करते थे और उस काल में दोनों गिरे जाने लगे थे। इन दोनों के अतिरिक्त जो मिश्र स्वरूप बहुजन समाज था उससे समाज के नेता ऊपर आने लगे थे। मुरा का पुत्र चन्द्रगुप्त और पार्वतीय जाति का अधिपति चन्द्रकेतु शायद इसके उदाहरण स्वरूप माने जा सकते हैं। चंद्रगुप्त एक जगह कहता है—"शूद्राणी! शूद्र मानूष नहे! तार कि क्षत्रियेर मत हस्त-पाद नाइ? मस्तिष्क नाइ? हृदय नाइ? एत घृणा!

उत्तम ! देखाबो एक बार शू द्रेर कत शक्ति ! देखाबो जे से मानूष।" मगर यह बात नाटक में उतनी स्पष्ट नहीं हुई है जितनी चाणक्य और नन्द की गर्वोद्धता स्पष्ट हो गई है।

नाटक की दूसरी विशेषता यह है कि उसमें भारतीय ग्रन्थों से प्राप्त हुई कथाओं और ग्रीक इतिहासकारों द्वारा बतलाई हुई हक़ीक़तों का समप्रमाण समावेश किया गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन दोनों का नीर-क्षीरवत् मेल नहीं हुआ है, तिल-तण्डुलवत् मिश्रण है। दोनों कथाएँ साथ-साथ चलती हैं; अन्त में उनका संयोग होता है। संयोग इस प्रकार दिखलाया है कि सिकन्दर के क्षत्रप सिल्यूकस की कन्या हेलन और चन्द्रगुप्त का विवाह हो जाता है।

नाटक का कथानक दीर्घ-सूत्री और दो-धागावाही होने पर भी नाट्यपूर्ण प्रसंगों से और उत्कट भावों से भरा हुआ है। प्रायः सभी भूमिकाओं के स्वभावाङ्कन में नाटककार सफल हुए हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियों में चन्द्रगुप्त का चरित्र-चित्रण विशेष रूप से लक्षणीय है। उदारता, सौजन्य और स्नेह से भरा हुआ, वह पराक्रमी भावनाशाली युवक है। जवानी की उत्कटता, सरलता और अस्थिरता उसमें है। ज़िंदगी भर जिसने उसकी और उसकी माँ का तिरस्कार किया उस नन्द को भी वह मारना नहीं चाहता, बल्कि भाई के नाते हृदय से लगाना चाहता है। ऐसी उदारता उसमें है। वह चाणक्य के ऊपर चिढ़ता है यही उसकी सरलता का एक सबूत है।

और सब व्यक्ति लक्षणीय होते हुए भी चाणक्य सर्वोपरि है। यह गूढ़ शक्ति का उपासक, ब्राह्मणत्व का प्रखर अभिमानी, अद्वितीय प्रतिभाशाली, दुर्दान्त निश्चयी, भावना-शून्य रुक्ष व्यक्ति जब अपनी खोई हुई कन्या को पाकर स्नेहार्द्र हो जाता है, तब चन्द्रगुप्त के साथ हम भी साश्रुनयन होकर कहने लगते हैं—"एत शुष्क आवरणेर भितर एतखानि हृदय!" एक प्रकार आपटेजी के चाणक्य से भी रॉयजी का चाणक्य हमारा हृदय प्रभावित करता है, विद्ध करता है।

आपटेजी का उपन्यास और रॉयजी का नाटक—दोनों कलाकृतियाँ अतीव सुंदर हैं। फिर भी एक दूसरी से कितनी दूर है! महाराष्ट्र और बंगाल में जितना अंतर है उतना शायद इन दोनों कृतियों में भी है। आपटे के 'चंद्रगुप्त' में राष्ट्रीय दृष्टि और भारतीय स्वतंत्रता का भाव, सुस्पष्ट हैं। रॉय के 'चंद्रगुप्त' में ये तत्त्व इतने सुस्पष्ट नहीं हैं। उसमें, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, सामाजिक दृष्टि और भिन्न-भिन्न वर्ण या जातियों का स्पर्धा-भाव अधिक सुस्पष्ट और प्रधान है। भारतीय संस्कृति की कुछ विशेषताएँ—जैसे कि शत्रु के प्रति उदारता और क्षमा-भाव, अन्य धर्मों और सभ्यताओं के प्रति बन्धु-भाव—इस नाटक में सूचित की गई हैं। ग्रीक और भारतीय सभ्यताओं का प्रेम-संयोग दिखलाने का लक्ष्य तो सुस्पष्ट ही है। एक ओर चाणक्य-प्रभावित चंद्रगुप्त का जीवन-प्रवाह, दूसरी ओर सिल्यूकस के आधार से बहता हुआ हेलन का जीवन-प्रवाह जब एक हो जाता है, तब इन दोनों का विवाह दोनों सभ्यताओं के मिलाप का प्रतीक साबित होता है, जैसा कि हेलन स्वयं कहती है—"एइ विवाहे एकटा चिरन्तन वात्या थेमे गेल। एइ विवाहे दुइ सुदूरवासी आर्य जाति आज परस्पर के आलिंगन कर्बे।...एइ विवाहे दुइ सभ्यतार मध्ये एकटा महा व्ययधान भेंगे गेल।...दुइ महादेश

आपटे जी ने मुद्राराक्षस का यथासंभव उपयोग किया है, तो गॉयजी ने मुद्राराक्षस की उपेक्षा की है। इधर अमात्य राक्षस, राजा पर्वतेश और उसका पुत्र मलयकेतु हैं ही नहीं। राजा नन्द को चन्द्रगुप्त का छोटा सापत्न भाई बनाया गया है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त का गुरु शिष्य भाव कैसे उत्पन्न हुआ, इसका कोई विवरण नहीं है।

तीसरा ग्रंथ जो हम देखना चाहते हैं वह है नरसिंह चिंतामण केलकर का नाटक 'चन्द्रगुप्त'। इसका कथानक इतिहास से और प्राचीन ग्रंथों से प्राप्त हुए वृत्तांतों से कुछ संबंध नहीं रखता। काल्पनिक कथाओं में रूढ हुआ प्रेम का त्रिकोण (love triangle) इसमें दिखाई देता है। नाटक के कथानक की रूपरेखा इस प्रकार है : कुसुमपुर (पाटिलपुत्र) की लड़ाई में नन्द-कुल के सब पुरुष मारे गए, केवल एक हरनन्द स्त्री का वेष लेकर वहाँ से भाग गया। उसका वध करने की और नन्दकुल का संपूर्ण निःपात करने की प्रतिज्ञा चन्द्रगुप्त अपने गुरु चाणक्य के सामने करता है। नन्दों का एकनिष्ठ अभिमानी चन्दनदास नामक एक वृद्ध नागरिक था। उसका पुत्र माधव हरनन्द को स्त्री वेष में चन्दनदास के घर में रखता है। इसी घर में चन्दनदास का आश्रय लेकर चन्द्रगुप्त बचपन से रहता था। चन्दनदास की पुत्री तारिणी और चन्द्रगुप्त में, एकत्र सहवास के कारण, परस्पर प्रेम-भाव पैदा हो गया। चाणक्य के सामने प्रतिज्ञा करने के बाद चन्द्रगुप्त शिकार करने के बहाने राज-प्रासाद से निकलता है और तारिणी से मिलने के लिए वेश बदल कर चन्दनदास के घर जाता है। उधर स्त्री-वेषधारी हरनन्द तारिणी के साथ गुप्त रूप से प्रेम करने लगा था। इस प्रेम के त्रिकोण में कुछ चमत्कृतिपूर्ण घटनाओं के बाद हरनन्द को ढूँढने के लिए चन्दनदास के घर पर चन्द्रगुप्त की सेना का हमला होने के डर से हरनन्द जिसका स्त्री वेष अब खुल जाता है तारिणी को साथ में लेकर भाग जाने का प्रयत्न करता है। आखिर हमला होता है। उस समय बाल्य काल के रक्षा-बन्धन और कुछ प्रत्ययकारी साधनों के द्वारा चाणक्य के सामने यह साबित होता है कि चन्द्रगुप्त नन्द राजा का जन्म से परित्यक्त पुत्र है। इसका नतीजा यह निकलता है कि नन्द-कुल का समूल ध्वंस करने की चाणक्य से की गई चन्द्रगुप्त की प्रतिज्ञा सफल होना संभव नहीं है। इससे हरनन्द भी बचता है। वह तारिणी को अपनी भगिनी मान लेता है और सम्राट् चन्द्रगुप्त तारिणी से विवाह-बद्ध हो जाता है।

नाटक में ऐतिहासिक वातावरण का अभाव है। कथानक और चरित्र साधारण तौर पर प्रेम रोमांस में जैसे होते हैं वैसे ही हैं। चन्द्रगुप्त और तारिणी का परस्पर प्रेम जिस विश्वासपूर्ण वातावरण में उत्पन्न हुआ था वह चन्द्रगुप्त के नन्दों का शत्रु और मगध का सम्राट् बनने पर नहीं रहा और हरनन्द के तारिणी के घर में आने से उसमें और भी बाधा पड़ गई। इसकी वजह से नाटक में चमत्कार पैदा हो गया है। चमत्कृतिपूर्ण सुसंगत घटनाओं का एक मनोरंजक खेल रंगमंच पर दिखलाना ही लेखक का उद्देश्य जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त कोई विशेष दृष्टिकोण, विचार या उच्चतर जीवन की झलक सूचित करने या दिखलाने का उद्देश्य प्रतीत नहीं होता।

गुजराती उपन्यास 'भगवान कौटिल्य' जिसे हम अब समीक्षण के लिए ले रहे हैं, श्री कन्हैयालाल मुंशी की सर्जना-क्षम कल्पना-शक्ति का उत्तम उदाहरण है।

पुराणों में और मुद्राराक्षस नाटक की टीका में दिए हुए वृत्तान्तों का भरसक उपयोग मुंशीजी ने किया है, पाश्चात्य इतिहासकारों के लेखों का नहीं। शैशुनाग वंश के राजा महानन्दी को उसकी शूद्रा स्त्री के पुत्र उग्रसेन ने मार डाला और उग्रसेन महापद्म नन्द नाम धारण करके मगध देश के सिंहासन पर आरूढ हुआ। महानन्दी की महारानी सुभगा उस समय गर्भवती थी। उसने प्रसूत होने पर अपने बच्चे को महापद्म नन्द के भय के मारे मुरा नामक दासी के हाथ में सौंपा। मुरा द्वारा पाले हुए इस राज-पुत्र, कुमारगुप्त का नाती था चन्द्रगुप्त, जो मगध के सम्राट् हिरण्यगुप्त की सेना में एक उच्चाधिकारी हो गया था। हिरण्यगुप्त शूद्र-जात महापद्म नन्द का पौत्र था।

चूँकि चन्द्रगुप्त के पितामह कुमारगुप्त को मुरा दासी ने अपने पुत्र के समान पाला था और वह अपने को मौर्य कहलाने लगा था, यह कल्पना रूढ हो गई और चन्द्रगुप्त भी ऐसा समझने लगा कि उसका वंश दासी पुत्रों का है, क्षत्रियों का नहीं। असली बात तो उल्टी थी। सम्राट् हिरण्यगुप्त सचमुच शूद्रा स्त्री के वंश में पैदा हुआ था और चन्द्रगुप्त शुद्ध क्षत्रिय कुलोत्पन्न था।

इस बुनियाद के आधार पर मुंशीजी ने अपना कथानक रचा है। उन्होंने हिरण्यगुप्त को नितान्त धन-लोभी, शास्त्र-विद्या-धर्म आदि का द्वेष्टा दिखलाया है। उसका अमात्य वक्रनास, जिसका नाम मुद्राराक्षस के टीकाकार दुण्ढि से लिया है अत्यन्त वक्र, कुटिल नीति-पटु और क्रूर दिखलाया गया है। वही हिरण्यगुप्त का निकटवर्ती परामर्शदाता है। हिरण्यगुप्त और वक्रनास ब्राह्मणों के बड़े द्वेषी थे। उन्हीं के कारण मगध में ब्राह्मणों का अपमान होता था, उन पर बड़ा जुल्म होता था। हिरण्यगुप्त का अन्तःपुराध्यक्ष सेनाजित कहता है: "नंदो शूद्रहता, ब्राह्मणोना द्वेषी हता, भद्राक्ष जेवा अरण्यवासिओना कालहता, आवा पाखंडी ओनी विद्याना शत्रु हता। वेदने वर्णाश्रम, मोक्षने तपश्चर्याने ते तिरस्कारता। व्यासने उद्दालकने याज्ञवल्क्यने तेमणे विसराव्या हता। तेमनी सन्ताना स्रष्टा ने पोतेज हता।"

महा विद्वान् और शील-संपन्न ब्राह्मण आचार्य शकटाल शुरू में हिरण्यगुप्त का अमात्य था। परंतु वक्रनास ने उसको निकलवा कर उसकी आँखें फुड़वा डाली थीं। विष्णुगुप्त या चाणक्य जो तक्षशिला का रहने वाला था शकटाल का ही शिष्य था। विष्णुगुप्त चाणक्य जब शकटाल से मिलने के लिए पाटलिपुत्र में आता है तब ब्राह्मण होने से उसका राजपुरुषों के द्वारा अपमान किया जाता है। वह शकटाल के यहाँ जा कर अपनी दैवी प्रतिभा के प्रभाव से राज्य-क्रान्ति का बड़ा व्यूह खड़ा करता है। चन्द्रगुप्त को, जिसे हिरण्यगुप्त ने कैद कर कोठरी में बन्द करवाया था चाणक्य छुड़ाता है। आखिर में विष्णुगुप्त जिसमें रहता था उस शकटाल के आश्रम को आग लगवा कर विष्णुगुप्त चाणक्य को जला कर मारने का हिरण्यगुप्त और वक्रनास का प्रयत्न जब असफल होता है तब हिरण्यगुप्त चाणक्य की जटा खींच कर उसको घोड़े से गिराने का प्रयत्न करता है। उसी वक्त विष्णुगुप्त चाणक्य हिरण्यगुप्त के और सब नन्दों के नाश की प्रतिज्ञा करता है। कथानक का पर्यवसान नैमिषारण्य के उदात्त और पवित्र वातावरण में, जहाँ महत्त्व के सब पात्र इकट्ठा होते हैं और चाणक्य तपश्चर्या करने बैठता है, होता है, लेखक ने यह नहीं बतालाया कि चाणक्य हिरण्यगुप्त का नाश कब, किस तरह करता है। इस अधूरेपन से पाठक के मन में समाधान नहीं होता।

इस उपन्यास में अपने अभिप्राय के अनुसार ऐतिहासिक वातावरण निर्माण करने का लेखक का पूरा प्रयत्न प्रतीत होता है। परम्परागत ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा मगध में बहुत कुछ गिरी हुई थी और बौद्ध तथा जैन धर्मों का उदय हो रहा था। नन्द सम्राट् ब्राह्मण से द्वेष करते थे। फिर भी चाणक्य जैसे आदरणीय ब्राह्मण के प्रति सब लोगों के मन में पूज्य भाव मौजूद था। विष्णुगुप्त चाणक्य की भूमिका को लेखक ने इतना ऊँचा उठाया है कि वह देवर्षि या ब्रह्मर्षि जैसा प्रतीत होता है। आपटेजी का चाणक्य महान् नीति-पटु और कर्तृत्वशाली होते हुए भी पूर्ण रूप से मनुष्य ही है। द्विजेन्द्रलालराय का चाणक्य गूढ़ शक्ति का उपासक साधारण मानव से कुछ कदम ऊपर है। मुंशीजी का चाणक्य तो और भी ऊपर चढ़ा है, जैसे कि वह एक देवता बन गया हो।

सेनाजित नामक हिरण्यगुप्त का अन्तःपुराध्यक्ष इस उपन्यास का नायक है और आचार्य शकटाल की पुत्री गौरी नायिका है। इन दोनों की प्रेम कहानी अनेक उच्चावच प्रसंगों में से आगे चलती हुई आखिर नैमिषारण्य में, जहाँ सेनाजित बकनाम की आज्ञा से चाणक्य को मारने के लिए उसका पीछा करते करते गया था दोनों के मिलन के रूप में फलित होती है। क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण स्त्री, इन दोनों की विवाह संबंध से एकता दिखलाने का उद्देश्य इसमें प्रतीत होता है।

केलकरजी का 'चन्द्रगुप्त' हमने देख लिया। उसके विपरीत है जयशंकर 'प्रसाद' जी के नाटक 'चन्द्रगुप्त' का स्वरूप। हम अब उसे विचारार्थ ले रहे हैं। प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त-कालीन इतिहास का गहरा अध्ययन किया था और सब पहलुओं का साधक-बाधक विचार करके उनके बारे में अपना अभिप्राय पक्का कर लिया था। इस वजह से उनका नाटक अत्यंत वैशिष्ट्यपूर्ण हो गया है। यह कहना प्रायः ग़लत नहीं होगा कि यह नाटक नाट्य-निर्मिति के लिए नहीं, इतिहास-दर्शन के लिए रचा गया है। पुराने ग्रन्थों में जो उल्लेख मिलते हैं प्रामाणिकता की कसौटी पर उनकी जाँच करके जो बातें अविश्वासनीय प्रतीत हुईं उनको उन्होंने अलग रखा है। इस प्रकार कला की दृष्टि से स्वीकरणीय बातें भी उन्हें छोड़नी पड़ी हैं।

प्रसादजी ने विचारपूर्वक तय कर लिया कि मौर्य शब्द मुरा से व्युत्पन्न हो नहीं सकता, मुरा नाम की कोई शूद्र स्त्री चन्द्रगुप्त की माँ नहीं थी और मौर्य कुल एक उच्च क्षत्रियों का प्राचीन कुल था, जिसमें चन्द्रगुप्त पैदा हुआ। इस निश्चय के अनुसार उन्होंने अपने नाटक में मुरा को पात्र नहीं बनाया। हमने देखा है कि मुरा की भूमिका की आयोजना कर के आपटेजी ने और कुछ हद तक रायजी ने, अपनी कला-कृति की सौंदर्य-वृद्धि हासिल की है।

दूसरी बात है चाणक्य की। हम देख आए हैं कि आपटेजी का चाणक्य नितान्त कपटी है। कपट और धोखा, इनके सिवा वह एक पैर भी आगे नहीं बढ़ता। रायजी का चाणक्य इतना कपटपूर्ण नहीं है, वह कठोर है, तीव्र है। प्रसादजी के चाणक्य ने राक्षस को नन्द के हाथ से बन्दी करवाने के लिए एक बार कपट-प्रयोग किया अवश्य है, पर वह एक प्रशान्त, धीर-गंभीर, दया-दाक्षिण्ययुक्त महानुभाव नेता जैसा प्रतीत होता है। कुटिलता उसका स्वभाव-धर्म नहीं है। तक्षशिला के विद्यापीठ में वह एक अध्यापक था। यवनों के

आक्रमण से उसके राष्ट्र-भक्त हृदय को गहरी चोट लगी थी। भारतवर्ष के एकता साधन के लिए वह प्राणपण से कोशिश करता है। मगध से नन्द जैसे अत्याचारी क्रूर राजा को हटाकर चन्द्रगुप्त जैसे श्रेष्ठ क्षत्रिय की स्थापना करना उसकी समग्र आयोजना का मुख्य अंश है। वह पर्वतेश्वर को अपने कार्य में सहायक बनाता है और मालव और क्षुद्रक गणों की एकता स्थापित करके उन्हें सिकन्दर के खिलाफ लड़ने को प्रस्तुत करता है।

भारतीय कथा के साथ-साथ ग्रीकों का इतिहास भी प्रसादजी ने नाटकीय दृश्यों के रूप में दोहराया है। द्विजेन्द्रलालराय ने सिकन्दर के आक्रमण की केवल छोटी सी झलक आरम्भ में दिखाई। प्रसादजी ने सिकन्दर का आक्रमण विस्तार से दोहराया है और उसी तरह सत्रह वर्षों बाद हुए सिल्यूकस के आक्रमण को भी। नाटक का पर्यवसान सिल्यूकस की कन्या जिसका नाम प्रसादजी ने कार्नेलिया रखा है और चन्द्रगुप्त के विवाह में होता है। इसमें रायजी ने ग्रीक और भारतीय सभ्यताओं के संयोग का जो निष्कर्ष दिखलाया है प्रसाद जी ने उसका अनुसरण नहीं किया।

यह कहने की जरूरत नहीं कि ऐतिहासिकता प्रसादजी के नाटकों में ठीक रूप में अवतीर्ण हुई है। इतिहास का यथातथ्य स्वरूपाविष्करण करना तो उनका उद्देश्य ही है। धर्म विषयक और जाति विषयक विचार और दृष्टिकोण भी उस काल के संदर्भ में प्रसादजी ने व्यक्त किए हैं। मगध का राजा नन्द जारज शूद्र है, वह बौद्ध-धर्मानुयायी बन गया है। वह ब्राह्मणों का कटोर शत्रु है। उसका एक मन्त्री राक्षस, जो कला-प्रिय विद्वान् है, बौद्ध हो गया और उसे भी ब्राह्मण से नफरत है। दूसरी ओर चाणक्य जैसे मनस्वी, मेधावी ब्राह्मण बौद्धों का अनादर करते हुए दिखलाए गए हैं। नन्द के सामने चाणक्य कहता है—"जिस दिन ब्राह्मण का अन्त होगा, उसी दिन आर्यावर्त का ध्वंस होगा।.....क्योंकि राष्ट्र का शुभचिन्तन ब्राह्मण ही कर सकते हैं। एक जीव की हत्या से डरने वाले तपस्वी बौद्ध, सिर पर मँडराने वाली विपत्तियों से आर्यावर्त की रक्षा करने में असमर्थ प्रमाणित होंगे।"

इन व्यक्तियों की जो प्रवृत्तियाँ दिखाई गई हैं उनसे उस काल के समाज का एक स्थूल चित्र हमारी दृष्टि के सामने खड़ा होता है। समाज में ब्राह्मणों और क्षत्रियों में ऐक्य था। बाकी निम्न जातियों का समाज बौद्ध बन रहा था। उनके मन में ब्राह्मण-क्षत्रियों के प्रति आदर नहीं था, बल्कि तिरस्कार था। राजकीय दृष्टि से शूद्र नन्दों के शासन से ब्राह्मण-क्षत्रियों का शासन प्रगतिशील और नीति-न्याययुक्त होगा यह संभावना लेखक ने प्रदर्शित की है। इसके अतिरिक्त तक्षशिला के राजकुमार आम्भी की विद्रोही प्रवृत्ति, मालव-शुद्रक गणों का लोकतन्त्री कारोबार इत्यादि बातें दिखलाकर प्रसादजी ने तत्कालीन राजकीय परिस्थिति का ठीक चित्र खींचा है। उनकी राष्ट्रीय दृष्टि तो पंक्ति-पंक्ति में प्रतीत होती है। उनका चाणक्य राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के भावों की गढ़ी हुई मूर्ति है।

तत्कालीन भारतवर्ष का इतिहास जितना ज्ञात हुआ है और अनुमित हो सकता है उतना सब नाटकीय दृश्यों के रूप में आविष्कृत करने के प्रयास में नाटक का कथानक अति विस्तृत, जटिल और विशृंखल बन गया है। नाट्य वस्तु के अंतर्गत संघर्ष की तान वाचक-प्रेक्षकों के मन खींचने में कामयाब नहीं होती। काल्पनिक अंशों से जड़े हुए ऐतिहासिक दृश्यों की यह एक मालिका है। रंगमंच पर वह कितनी सफलता हासिल कर सकती है यह सोचने की बात है।

यहाँ विभिन्न भारतीय भाषाओं में एक ही विषय पर रची हुई कला-कृतियों का एक स्थूल तुलनात्मक समीक्षण उपस्थित किया गया है। इनमें किसी को ऊंच-नीच या भला-बुरा ठहराने का उद्देश्य तनिक भी अपेक्षित नहीं है। यह बतलाना कि प्राचीन उल्लेखों के लेशमात्र आधार पर विभिन्न भाषाओं के कलाकारों ने आज से २२५० वर्ष पूर्व के भारत का चित्र किस-किस तरह खींचा है इस प्रयास का प्रमुख उद्देश्य है। तुलना श्रेष्ठता-कनिष्ठता दिखलाने के लिए नहीं, वरन् केवल पद्धति, विचार और दृष्टिकोण आदि की भिन्नता तथा सामंजस्य दिखलाने के लिए की गई है। अपेक्षा यही है कि उसमें सामंजस्य और एकता के भाव बढ़ें। चन्द्रगुप्त और चाणक्य को बंग के या काशी के लेखक जितना आत्मीय मानते हैं उतना ही गुजराती और मराठी लेखक मानते हैं। उनकी कथा में इन लेखकों ने जो रंग भरे हैं वे कितने विविध, सुन्दर और चमकीले हैं और उस विविधता में भी राष्ट्रीय दृष्टि, भारतीय स्वतंत्रता की आकांक्षा और भारतीय सभ्यता का गौरव कैसा प्रतीत होता है यह दिखलाने के लिए यह अल्प और नम्र प्रयत्न प्रस्तुत किया गया है।

पद्माकर का वीर काव्य

प्रो० भारतेन्दु मिन्हा, एम० ए०, बी० टी०, एल-एल० बी०, बड़ौदा

'हिम्मतबहादुर विरुदावली' पद्माकर की प्रामाणिक रचना है। ग्रन्थ-समाप्ति पर कवि ने स्वयं लिखा है, 'इति कवि पद्माकरविरचिता नृप हिम्मत बहादुरस्य विरुदावली समाप्ता'। प्रस्तुत अध्ययन के लिये पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित "पद्माकर पंचामृत" का पाठ आधार मान लिया गया है। रचना-काल का निर्देश ग्रंथ में नहीं है। इसमें वर्णित युद्ध संवत् १८४६ में हुआ था (छंद २२)। कहा जाता है कि पद्माकर उस समय हिम्मतबहादुर के ही यहाँ थे (पंचामृत, आमुख, पृष्ठ ६)। उन्हीं के आश्रय में उनके कीर्त्ति-गान के लिये 'विरुदावली' की रचना हुई। पद्माकर का हिम्मतबहादुर के आश्रय में संवत् १८४६ से १८५५ तक रहना माना जाता है (पंचा०, आमुख, पृ० ६)। छः वर्ष के इस आश्रय-काल में 'विरुदावली' का रचना-काल कौन सा है यह अन्तरंग या बहिरंग प्रमाण के अभाव में निश्चित् रूप से नहीं कहा जा सकता।

डा० उदयनारायण तिवारी ने 'वीरकाव्य' में लिखा है, 'इसमें हिम्मतबहादुर के अनेक युद्धों का वर्णन है, इसी में सुगरा निवासी नोने अर्जुनसिंह के साथ बनगाँव (बुन्देलखण्ड) में हुए युद्ध का भी वर्णन है" (पृ० ४४७, प्रथम संस्करण)। इस वाक्य से सहसा यह भ्रान्ति होती है कि जिस प्रकार पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज के अनेक युद्धों का विस्तृत वर्णन है, उसी प्रकार का वर्णन इस काव्य में भी है। परन्तु विरुदावली पढ़ने पर पता चलता है कि वास्तव में ऐसा नहीं है। इसमें अनेक युद्धों का नहीं, प्रत्युत एक ही युद्ध का वर्णन है, जो "सुगरा निवासी नोने अर्जुनसिंह के साथ बनगाँव (बुन्देलखण्ड) में" हुआ था, केवल दो छन्दों में (छंद १५,१६) ही सूचित कर दिया गया है कि हिम्मतबहादुर ने दिग्विजय के उद्देश्य से चढ़ाइयाँ कीं, शत्रुओं के प्रान्तों में धूम मचा दी। गुजरात से लगाकर बुन्देलखण्ड तक के राजाओं को वे जीतते आए। यहाँ सबसे पहले दतिया को दबाया और उससे मन माना राज-कर वसूल किया, फिर राजा छत्रसाल के मुल्क में फैले हुए प्रबल शत्रु समूह को दबाया (छंद १६)। इसी क्षेत्र में इस प्रबल शत्रु समूह के अन्तर्गत एक शासक अर्जुन था, जो बादशाहों से भी नहीं डरता था, जिसने कई राजाओं को लूट लिया था और बहुतों को मार मार कर भगा दिया था (छंद १७)। इसी अर्जुन पर विशेष रूप से अति कुपित होकर, (व्यंयार्थ, सात्विक रोष से प्रेरित होकर) राजा हिम्मतबहादुर ने अटल पग रोप कर चढ़ाई की। चढ़ाई के रास्ते में पड़ने वाले स्थानों को जीत कर अपनी फौजों में बाँट दिया

(छं १८)। इस क्रम से दिग्विजय करता हुआ अत्यन्त विकट नृपति हिम्मतबहादुर अर्जुन के अड्डे के निकट पहुँचा, उसने केन नदी के तट पर डेरा डाला और तब उस स्थान पर सब ओर युद्ध की तैयारी से सम्बन्धित उतावली और कार्य-व्यस्तता प्रकट हुई (छं० १८)। इसके बाद अर्जुन से जो युद्ध हुआ उसी का वर्णन विरुदावली में पाया जाता है।

पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र का विचार है कि प्रबन्ध काव्य के विषय में विशेषतः वीर काव्य के विषय में ऐसे ही चरित-नायकों की आवश्यकता होती है जिनके प्रति जनता की भावना पहले भी कुछ बँधी हो (आमुख, पृ० २०)। उनकी राय है कि वीर कविता का नायक हिम्मतबहादुर ऐसे साधारण लोगों को नहीं बनाना चाहिए जिनके प्रति जनता का कोई भाव ही न हो (आमुख, पृ० २०)। इस विचारधारा में कवि की आत्मानुभूति और भाव-प्रेषणीयता की शक्ति के साथ उचित न्याय नहीं किया गया। चरित-नायक का लोक-प्रसिद्ध होना वाचकों में भाव के साधारणीकृत होने में केवल उत्कर्ष-साधक है, विधायक नहीं। रामचरित स्वयं ही तब तक काव्य नहीं बन सकता, जब तक कि कवि स्वयं राम के प्रति भावुक, आत्मानुभूति की सचाई से सम्पन्न और भाव-प्रेषणीयता की शक्ति में समर्थ न हो। हिम्मतबहादुर की लोक-ख्याति चाहे जैसी भी रही हो, पद्माकर को उनकी वीरता के प्रति श्रद्धा थी। उसकी वीरता का कवि ने प्रत्यक्ष अनुभव किया था और यही कारण है कि जब कवि की प्रतिभा भाव-वहन में सशक्त, चुटीली पदावली में उस वीरता का सजीव चित्रण करती है तो वाचक रस-मग्न हुए बिना नहीं रहता। अर्जुन के प्रति भी कवि के ऐसे ही भाव हैं। इन दोनों शत्रुओं की व्यक्तिगत वीरता के वर्णन रचना के मार्मिक स्थल हैं।

डा० उदयनारायण तिवारी ने विरुदावली का पाँच सर्गों में विभाजित होना बताया है (वी० का०, पृ० ४५०)। पर वास्तव में वह छः सर्गों में विभाजित है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में एक छप्पय और एक हरिगीतिका छन्द है। हरिगीतिका की निम्नलिखित दो पंक्तियाँ सब सर्गान्तों में सामान्य है :—

पृथु रित्ति नित्त सुबित्तदै, जग जित्ति कित्ति अनूप की।
बर बरजिये विरुदावली हिम्मतबहादुर भूप की॥

सर्गान्त सूचित करने वाले ऐसे छन्द-युग्म कुल छः हैं—१-२, ४५-४६, ६१-६२, ७६-७७, १८०-१८१ और २१०-२११। प्रत्येक सर्ग में एक ही प्रकार के और अन्य सर्गों में प्रयुक्त छन्दों से भिन्न छन्दों का प्रयोग है। इस प्रकार पहले में छप्पय, दूसरे में हाकल, तीसरे में डिल्ला, चौथे में भुजंग-प्रयात, पाँचवे में हरिगीतिका और छठवें में त्रिभंगी छन्दों का प्रयोग है। अतएव सर्गों का विभाजन निर्धारित करने में पद्माकर की इस पद्धित का ध्यान रखना होगा कि एक सर्ग में एक ही प्रकार के छन्द का प्रयोग होता है और फिर सर्गान्त की सूचना छप्पय-हरिगीतिका युग्म से दी जाती है। डा० तिवारी लिखते हैं कि चौथा सर्ग सबसे बड़ा है, इसमें एकसौ उन्नीस छन्द हैं (वीर का० प० ४५)। यह विस्तार छन्द ६३ से छन्द १८१ तक है। पर छन्द ६३ से छंद ७५ तक भुजंग-प्रयात और छंद ७८ से छंद १७९ तक हरिगीतिका छंद प्रयुक्त हैं। छंद ७६,७७ सर्गान्त सूचक छप्पय-हरिगीतिका-युग्म है। अतः वास्तव में यह विस्तार दो सर्गों में विभक्त है, छन्द ६३ से छन्द ७५ तक चौथा और छन्द ७८ से छन्द १७९ तक पाँचवां।

कथानक की एक संक्षिप्त रूपरेखा :

पहले सर्ग में मंगलाचरण (छं० १) है। दूसरे में हिम्मतबहादुर की प्रशंसा (छं० २ से १४), दिग्विजय की सूचना और अर्जुन पर चढ़ाई करने का कारण (छं० १५ से १६), ज्योतिषी-परामर्श (छं० २० से २४), और अर्जुन के सहायक राजपूतों के पराक्रम का उल्लेख (छं० २७ से ४२,) है। हिम्मतबहादुर की चढ़ाई की सूचना से सर्ग का अन्त होता है। तीसरे सर्ग में हिम्मतबहादुर की सेना के हाथियों (छं० ४७ से ५१), घोड़ों (छं० ५२ से ५६), और पैदल सेना (छं० ५७ से ६१) का वर्णन है। सर्गान्त में तोपखाने के एक साथ छूटने, (छं० ६१) की सूचना है। चौथे सर्ग में तोपखाने की मार और उसके आतंक का वर्णन है। पांचवाँ सर्ग दोनों दलों की गोलियों, बानों, बर्छियों की बौछारों से प्रारंभ होता है (छं० ८०, ८२, ८३)। सघन वन के मध्य, दुर्गम पर्वतों से घिरे हुए और कठिन भूमि पर स्थित अर्जुन के आश्रय-स्थल अजयगढ़ पर धावा करने का नायकत्व हिम्मतबहादुर ने स्वयं किया (छं० ८४)। किले और पहाड़ों के मोर्चों से आने वाली शत्रुओं के शस्त्रों की मार और मार्ग में शत्रु-सेना के छापामार दस्तों से मुठभेड़, ऐसी तिहरी मार खाता हुआ भी जब हिम्मतबहादुर बिना रुके बढ़ता ही गया, तब अर्जुन का अनेक तोपों का तोपख़ाना एक साथ ही दग़ उठा (छं० ८६), आक्रमणकारियों की भारी जन-हानि हुई, हाथी-घोड़े भयभीत हो गए, सेना में खलबली मच गई (छं० ८७)। दिन थोड़ा रह गया था, अपना डेरा दूर था, सामने शत्रु का तोपखाना आग बरसा रहा था। वीरों ने देखा, मंजिल लबेबाम रह गई है; इस समय पैर पीछे हटाना निश्चित् हार है और जीत तो प्राणों की बाजी पर खेले गए केवल एक अन्तिम धावे का प्रश्न बन कर रह गई है। विकट भटों ने हुंकार भरी, "झपट कर पमार को पकड़ो, किले से निकालो या किले में घुस पड़ो, मरो या मारो" (छं० ८८)। उनके जी होम कर किए गए संगठित आक्रमण ने किले की रक्षक सेना को हिला दिया (छं० ८९, ९०)। रक्षकों को व्याकुल देख अर्जुन हाथी पर सवार हो, बान कमान ले, स्वयं मोर्चे पर आ डटा। सेना का भय रूपी अन्धकार अर्जुन सूर्य के आते ही नष्ट हो गया (छं० ९१)। अर्जुन को एक सहायक ने सलाह दी, किले से बाहर निकल कर शत्रु सेना से भिड़ना इस समय ठीक नहीं; अभी तो चाहे जो हो कोट की खोट से बाहर मत निकलिए; तोपख़ाना आगे करके, धीरज धर कर, शत्रुओं की चोट से बचते हुए यहीं मौका ताकिए; जब आक्रमणकारियों का उत्साह मन्द पड़ जाए तब उन पर टूट पड़िए (छं० ९३)। अर्जुन क्रोध से बोला, तन की ओट करने के लिए मैंने कभी ढाल तक आड़ी नहीं की; क्या आज किले की आड़ में छिप जाऊँ ? तीस कोस कराल भूमि पार करके साहसी हिम्मतबहादुर मुझसे हथियारों से भेंट करने आया है, "रणधीर वीर पमार से भिड़ कर यश लूटूं" यह उसकी इच्छा है (छं० ९५,)। मुझे तो यही उचित है कि हर्ष से आगे बढ़ कर हथियारों से उसकी अगवानी करूँ (छं० ९६)। अर्जुन ने मृत्यु को अटल और शरीर को निज आयु द्वारा रक्षित बता कर (छं० १०३) सैनिकों के मन से मृत्यु-भय भगाया और उनका उत्साह बढ़ाया (छं० ९७-से ११०)। हथियारों से लैस और हाथी पर बैठा हुआ जब वह रण में उतरा तो शत्रु-दल की प्रबलता देख कर उत्साह से फूल उठा। वह मूंछें मरोड़ने लगा, गर्व से ऐंठने लगा, उसकी सुदृढ़ भुजाएँ और कलाइयाँ फड़कने लगीं, रणोल्लास और शत्रु-तिरस्कार से हँसते हुए अपने हाथी को हूल कर वह साथियों समेत घमासान में उतर पड़ा (छं० ११३)। उसके आक्रमण से शत्रु सेना में हाहाकार मच गया (छं० ११४, ११५, ११६)। उसे समर में आया देख

अनूपगिरि हर्षित हुआ और चुने हुए वीरों को साथ ले स्वयं उस पर झपटा (छं० ११६)। उसके उद्दंड भुजदण्ड उमड़ कर फड़कने लगे, उसका शरीर फूल कर तिगुना हो गया। चित्त में उत्साह चौगुना चढ़ा, साहस सौगुना हो गया। शत्रु को देख वह "लखगुना" लाल हो गया और भिड़ने को लपका (छं० ११७), ललाई की अधिकता उमड़ कर उसकी आँखों में झलकने लगी, मानो वीर रस शरीर को सराबोर कर आँखों से उफन रहा हो (छं० ११८)। परन्तु उसके स्वामि-भक्त अंग रक्षकों ने उसे रोका और स्वयं अर्जुन पर आक्रमण किया (छं० १२१ से १२६)। इन वीरों ने बड़ा घमासान युद्ध किया। इनके अनुभवों और मारकाट का बड़ा ही रोमांचकारी और सजीव चित्रण कवि ने किया है। इन लोगों ने अनेक प्रबल शत्रु मार गिराए, मानो अर्जुन-अजिर की छतों से अनेक कंचन कलश ढहा दिए हों (छं० १४७)। परन्तु वीरवर अर्जुन ने एक एक करके इन सब का काम तमाम कर दिया (छं १२६ से १७३)। तब हिम्मतबहादुर घोड़ा कुदाता हुआ और शत्रुओं पर बर्छी की विकट मार करता हुआ आगे झपटा (छं० १७४) उसके मन से आगे तन चला गया और घोड़ा तन से भी आगे हो गया। मन, तन, तुरंग में गति की तीव्रता की होड़ मच गई। उसके घोड़े कन्हैया की फुर्ती उस समय देखते ही बनी (छं० १७५)। कन्हैया ने कूदकर अर्जुन के हाथी के कन्धे पर अपने अगले टाप जमा दिए। तभी अनूपगिरि ने बर्छी का वार किया। वह घोर शक्ति हाथी के कुंभ को फोड़ कर, महावत के शरीर को वेध कर, हौदे को तोड़ कर और अर्जुन को रक्त रंजित कर दूर जा गिरी (छं० १७६)। अर्जुन का हाथी झपटा, झुका और झुक कर झूम गया। वीर अर्जुन हौदे से कूद कर हाथी की गर्दन पर आ बैठा और तमक कर तलवार के हाथ चलाने लगा (छं० १७७)। हिम्मतबहादुर भी तलवार से लड़ने लगा। अर्जुन के वीरों ने उसे घेर लिया; वह उन पर भयंकर काट करने लगा (छं० १७८)। उसके हर एक वार से वीरों के सिर कट कर धड़ कट जाते थे और धड़ कट कर घोड़े कट जाते थे (छं० १७९)। इधर से अनूपगिरि के वीरों ने भी उमड़ कर अर्जुन के वीरों को घेर लिया। लड़ाई का यह अन्तिम और सबसे प्रबल दौर शुरू होते होते पाँचवें सर्ग का अन्त हो जाता है। छठवें सर्ग में मार-काट और वीरता का चर्मोत्कर्ष विकटतम मुठभेड़ में दिखाया गया है। सेनाएँ एक दूसरे से गुंथ गई हैं, हाथापाई, कुश्ती और छुरेबाजी तक होने लगी है। रण-बांकुरा अर्जुन हाथी के कन्धे पर बैठा, भालों के सागर में तैरता, तीरों के जालों से निकलता घमासान में धँसता हथियारों को मार से कहर ढा रहा है। अनूपगिरि एक बार फिर सुभटों के सागर को तैर कर अर्जुन से जा भिड़ता है, दोनों में भयंकर तलवार बाजी होती है। अन्त में अनूपगिरि अर्जुन का सिर काट डालता है (छं० २०७)। विजयी हिम्मतबहादुर की सदा काली कपाली द्वारा रक्षा होने का आशीर्वाद देकर कवि भी ग्रन्थ समाप्त करता है (छं० २२१)।

चरित्र चित्रण

सहायकों सहित अनूपगिरि और अर्जुन का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक और सजीव हुआ है। दोनों वीर हैं और वीरता के गुण ग्राहक हैं, फिर चाहे वह वीरता शत्रु की ही क्यों न हो। वे आत्मरक्षा के लिये तन्त्र-मन्त्र पर विश्वास करते हैं। हिम्मतबहादुर ज्योतिषी से सलाह ले कर युद्ध प्रारंभ करता है। अर्जुन मृत्यु को अटल और शरीर को निज आयु द्वारा रक्षित मानता है। हिम्मतबहादुर के इष्टदेव का संकेत रचना में छः बार मिलता है। इनमें

से पाँच स्थलों पर यह संकेत 'हर', (महादेव) की ओर है, यथा, सिवभजन सांत सुजान है (छं० १४), यह सुनि मुदित मुख पाइके डंका दियौ सिव ब्याह के (छं० २४) हर हर हरषि भाखत (छं० ७७), 'तहँ हरषि हर हर हरषि हर हर, हरषि हर हर करि पिल्यौ' (छं० १२०), और 'रिपु रुंड धरा को, अरपत ताको, हरहि हरा को, मुंड दियौ' (छं० २०७), परन्तु छठवें स्थल पर लिखा है, 'हय दाथि कन्हैया, सुमिरि कन्हैया, सु गज कन्हैया पर पहुँच्यौ' (छं० २०६)। 'हर' सम्बन्धी कथनों में अनुप्रास और वीप्सा का चमत्कार है और 'कन्हैया' में यमक का, इन उक्तियों का कारण शब्दालंकारों का मोह है या तथ्य निरूपण की सचाई, इसका निर्णय करना सरल नहीं, तथापि संख्या की अधिकता से इष्टदेवत्व 'हर' पर ही आरोपित होता है। कन्हैया का उल्लेख यमक की उमंग में किया गया जान पड़ता है। ग्रन्थारम्भ में कवि प्रार्थना करता है: 'विजय देहु जदुबंस मनि' (छं० १), और ग्रन्थ-समाप्ति पर आशीर्वाद देता है' 'काली कपाली निस दिना, नित नृपति की रक्षा करैं' (छं० २११) परन्तु 'जदुबंस मनि' और 'काली कपाली' कवि के उपास्य जान पड़ते हैं, हिम्मतबहादुर के नहीं, दोनों प्रधान शत्रुओं के सहायक वीर, स्वामिभक्त और रणकुशल हैं। अनूपगिरि का प्रधान अंग रक्षक और उसकी चुनी हुई जुझार सेना के हरौल का वीर नायक कायस्थ मान्धाता दानी, गुणग्राहक कर्त्तव्यपरायण और स्वामी का अत्यन्त विश्वासपात्र भी है (छं० १२१, १२२, १३३)। जिस उत्साह से कवि ने इस पात्र का गुण-गान किया है उससे अनुमान होता है कि वास्तविक जीवन में कवि का इस व्यक्ति और इसके पिता सबसुखराय से अवश्य अच्छा सम्बन्ध रहा होगा।

प्रबन्ध-विन्यास

सूची गिनाने, जानकारी दिखाने या ऊहापोह करने की प्रवृत्ति से राजपूतों, तोप-तलवारों आदि के वर्णनों या अर्जुन के सैन्योद्बोधन में जो अनावश्यक विस्तार आ गया है उससे प्रबन्ध विन्यास में शिथिलता आ गई है। परन्तु साथ ही उत्साह की तीव्रता की व्यंजना में क्रम का निर्वाह अच्छा होने से उसमें कलात्मकता भी आ गई है। युद्ध की तैयारी, सेना-वर्णन से प्रारम्भ हो कर उत्साह की तीव्रता, लड़ाई की मुठभेड़ों में क्रमशः बढ़ती हुई अर्जुन और हिम्मतबहादुर की भिड़ंत में चमोत्कर्ष को पहुँचती है, अर्जुन की मृत्यु के बाद तुरंत ही ग्रन्थ की समाप्ति हो जाने से घनीभूत उत्साह का एक ओजस्वी आवेश पाठक के हृदय को देर तक प्रभावित किए रहता है।

रस-विवेचन

इस ग्रंथ में आलंबन में वीरता का उत्कर्ष चित्रित करने से आश्रय-गत उत्साह की व्यंजना पुष्ट हुई है। शत्रु की प्रबलता के कारण इस उत्साह का उन्मेष स्वाभाविक जान पड़ता है। यदि आलंबन उत्कर्ष-हीन चित्रित होता तो आश्रय में उत्साह का घटाटोप व्यंजित करना कृत्रिम और आडंबर-मात्र होता। उद्दीपन के अंतर्गत कठिन मोर्चों, शत्रु की करारी मारों और स्वपक्ष की तज्जन्य व्याकुलता तथा शत्रु-सेना पर अपने एवं स्वसेना पर शत्रु के आतंक का चित्रण भी इसी प्रकार वीरोन्मेष की यथार्थता का साधक है। अर्जुन और अनूपगिरि क्रमशः आलंबन और आश्रय हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार आलंबन की

चेष्टाएँ 'हाव' कहलाती हैं। प्रस्तुत रचना में आलंबन-विधान मुख्यतया हावों की योजना द्वारा हुआ है। वास्तव में शृंगार-रस में जिस प्रकार रूप-वर्णन द्वारा आलंबन-विधान का अवकाश रहता है, उस प्रकार वीर-रस में नहीं। आलंबन के हाव भी प्रारंभ में तो स्थायी भाव उत्साह को उद्बुद्ध करते हैं और फिर बाद में इस उद्बुद्ध भाव को प्रदीप्त करते हैं। इस द्वितीय सोपान में वे उद्दीपन विभाव के अंतर्गत आ जाते हैं। हावों के इन दोनों सोपानों की इस ग्रंथ में सुंदर योजना हुई है। अध्ययन के लिये, रचना में वर्णित अनुभावों को हम चार विभागों में बाँट सकते हैं; वीरोक्ति, रणप्रवेश, काट और मरण। वीरोक्ति में चार प्रकार के कथन मिलते हैं—गर्वोक्ति (छं० ६४), सैन्योद्बोधन (छं० ६६ से ११०, ११५), स्वामी के प्रति कृतज्ञता-प्रकाश (छं० १२२-१२३-१२४-१३६) और स्वधर्म-निश्चय (छं० १२२-१३६)। वीरतासूचक आंतरिक अनुभूति मानसिक अनुभाव कहलाएगी। ऐसी आंतरिक अनुभूति की सहज शारीरिक अभिव्यक्ति सात्विक-अनुभाव होगी। वीरतापूर्ण सप्रयास शारीरिक चेष्टाएँ कायिक अनुभाव होंगी। वीरवेष धारण करना आहार्य अनुभाव होगा। घमासान में पैठते समय 'हरषि' आदि आंतरिक अनुभूतियाँ मानसिक अनुभाव हैं। उत्साह से आँखें लाल होना, शरीर फूलना, भुजदंड फड़कना आदि सात्विक अनुभाव हैं। वीरोक्ति, मार-काट और वीरता-पूर्वक वार करते हुए मरना कायिक अनुभाव हैं। कवच पहनना, तलवारें बाँधना विभिन्न प्रकार के अनेक अस्त्र-शस्त्र साथ में लेना आदि आहार्य अनुभाव हैं। इन सभी प्रकार के अनुभावों का उपयुक्त स्थलों पर मूर्ति-विधान हुआ है। वास्तव में अनुभावों की कुशल योजना रस-परिपाक में विशेष सहायक हुई है। संचारियों में (६४-१२६-१६४), (६४), (१४४), (६७ से ११०), (१६४), (१७५), (१३७-१३६) अमर्ष, गर्व, धृति, मति, तर्क, स्मृति, औत्सुक्य, और हर्ष की व्यंजना हुई है। रस-सामग्री के समुचित निर्वाह से वीरों की मार-काट संबंधी मार्मिक स्थलों पर सम्यक् रस-निष्पत्ति होती है। इसमें सहायक अन्य उपकरण उपयुक्त-नाद-पूर्ण वर्ण-योजना, रसानुकूल गति तथा लय वाले छंदों का प्रयोग और ओज गुण का समावेश है।

राजस्थान के चारण और क्षत्रिय : पारस्परिक संबंध

प्रो० मोहनलाल जिज्ञासु, एम० ए०, एल-एल० बी०, श्री महाराज कुमार कॉलेज, जोधपुर

राजस्थानी साहित्य के हृदयंगम करने के लिए चारण और क्षत्रिय जाति की घनिष्ठता का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है। राजस्थान की चारण जाति अपनी महानता, कर्त्तव्य-परायणता, वदान्यता, साहित्य-प्रेम और सत्यता के लिए चिरकाल से प्रख्यात है तथा क्षत्रिय जाति अपनी वीरता, मातृभूमि-प्रेम, प्रतिशोध की भावना, स्वामिभक्ति और दृढ़ता के लिए पृथक् अस्तित्व रखती है। जहाँ क्षत्रियों ने प्राणों की आहुति देकर प्रान्त की स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाए रखा, वहाँ चारणों ने अपनी ओजस्विनी वाणी से प्रशस्तियाँ गाकर राजस्थानी-साहित्य के भण्डार को समृद्ध बनाया है। क्षत्रिय वीर-वीरांगनाओं के साथ कदम से कदम मिलाते हुए चारण-बन्धुओं ने उनका सुख-दुख में समान रूप से साथ दिया है। चारण और क्षत्रिय दोनों ही राजस्थान की विश्ववन्द्य आत्माएं हैं। एक साहित्य की आधार-शिला है तो दूसरी राष्ट्र तथा संस्कृति की अखंड ज्योति। चारण यदि क्षत्रिय का कण्ठ-स्वर है तो क्षत्रिय चारण की भुजा! इन दोनों जातियों के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को देखकर कहना ही पड़ेगा कि अन्य जातियों में ऐसा घनिष्ठ सम्पर्क दुष्प्राप्य है। हर्ष का विषय है कि चारण और क्षत्रिय जाति में कभी भी परस्पर विरोध नहीं हुआ। फलतः इनकी पारम्परिक मित्रता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। संक्षेप में, दोनों ही एक दूसरे के हमजोली हैं।

वैदिक, रामायण-महाभारत, जैन-बौद्ध और पुराण-काल में चारण देव-पुरुषों का ही स्तुति-गान करते थे। जीविकोपार्जन के लिए उस समय यह जाति उत्तर-भारत में पशु-व्यापार करती थी और बड़ी धनाढ्य थी।[१] कालान्तर में, विधर्मियों के आक्रमण होने पर अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान और सिन्ध आदि प्रान्तों के हिन्दू या तो धर्म-परिवर्तन कर वहीं बैठे रहे अथवा विभिन्न वर्णों और जातियों में विभाजित होकर भारत में आकर बस गए। क्षत्रिय जाति ने अपने बाहु-बल से बाह्य आक्रमणकारियों को परास्त कर काठियावाड़, कच्छ, राजस्थान आदि प्रान्तों में अपने विस्तृत राज्य स्थापित किए। परिवर्तित परिस्थितियों में पड़ कर तथा क्षत्रिय जाति के देवोपम सौंदर्य, शील और शक्ति से प्रभावित होकर चारण जाति ने

१—Gazetteer of Rajasthan

उनका स्तुति-गान करना आरम्भ किया। साथ ही क्षत्रिय जाति ने भी इन स्तुति-पाठकों को अपनी कुल-कीर्ति के लिए एक अमूल्य निधि समझकर गले लगाया। चारण और क्षत्रिय जाति का यह सम्बन्ध महाराज पृथु के शासन-काल से आरम्भ होता है।

क्षत्रिय जाति पर ब्राह्मणों का प्रभाव और अधिकार भी परम्परा से था। उपदेशक के रूप में उन्होंने समय-समय पर क्षत्रियों को सदुपदेश दिए हैं। भौतिक ऐश्वर्य, सम्पत्ति एवं सुख की लालसा से प्रत्येक व्यक्ति सत्तारूढ़ जाति से स्वभावतः अपना सम्बन्ध जोड़ता आया है। इस सिद्धान्त के अनुसार जब महाराज पृथु के पश्चात् शासक जाति (क्षत्रिय) से चारणों ने सम्बन्ध जोड़ना आरम्भ किया, तब ब्राह्मण और चारण जाति की वृत्ति को लेकर एक वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ।[१] अन्त में उस वाद-विवाद का निपटारा आपस में या व्यवहार से इस प्रकार हुआ कि ब्राह्मण तो परम्परा की तरह क्षत्रियों के इहलोक और परलोक-विषयक धर्म-कार्य, यज्ञ, विवाह, जन्म मृत्यु के कर्म, कथा, पुण्य लेने और पूजन करने के ठेकेदार बने रहे और युद्ध के साथी चारणों ने उनके न्याय, राजनीति तथा जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में भाग लेते हुए वीर-धर्म की शिक्षा देने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया। कविता और इतिहास के माध्यम द्वारा उसने क्षत्रिय जाति के सम्मुख वीर-धर्म का आदर्श रूप स्थिर किया तथा कर्तव्य-पथ पर चलाकर उसे लोक-कल्याण में लगाया। चारण क्षत्रिय जाति को ऐतिहासिक प्रसंगों की सहायता से मौखिक शिक्षा दिया करता था और काव्य के द्वारा उनके कार्यों की आलोचना करता था। साथ ही जन्म, राज्याभिषेक, विवाह आदि के उपयुक्त अवसर देखकर वह आवश्यकतानुसार सत्याग्रह की नीति अपनाकर (धरना देकर) अपने मनोवांछित कार्य को पूर्ण करा लेता था। क्षत्रिय जाति के साथ रहने से उसका संस्कृत-ज्ञान तो नष्ट हो गया, इसलिए उसकी समझ में आने वाली लोकभाषा में कविता कर उपदेश देना आरम्भ किया। इससे न केवल राजस्थानी-साहित्य का सूत्रपात हुआ, प्रत्युत क्षत्रिय जाति की कुल-कीर्त्ति भी सुरक्षित बनी रही। राज्य-सत्ता को अपने अनुकूल करने में ब्राह्मणों की अपेक्षा चारणों को अनेक जन्मजात सुविधाएं भी प्राप्त थीं। ब्राह्मण-वर्ग समस्त जातियों का धर्मोपदेशक माना जाता था, एतदर्थ ये लोग सभी के गुरु हुए, यहाँ तक कि चारणों ने भी गाँवों में सहस्रों बीघे भूमि-दान देकर उनकी पूजा की; किन्तु चारण एक मात्र क्षत्रियों का ही गुरु बना रहा। धर्म-भीरु होने के कारण ब्राह्मण क्षत्रिय जाति को आपत्ति-काल अथवा युद्ध के समय शारीरिक सहायता देने में असमर्थ रहा। खान-पान के भेद ने उन्हें समीप आने से रोका। छुआछूत के युग में तो यह और भी बाधक हुआ। इसके विपरीत चारण क्षत्रियों के ही एक मात्र याचक बनकर रहे, इसलिए क्षत्रिय समझने लगे कि इनका पालन-पोषण हमारी जाति पर ही निर्भर है। इन अनेकानेक कारणों से चारण-जाति ही शनैः शनैः क्षत्रिय जाति के सन्निकट आ सकी।

जिस प्रकार राज्याश्रित चारण-कवियों ने अपने आश्रयदाता क्षत्रिय नरेशों के कुल-गौरव को सुनहरे अक्षरों में लिपिबद्ध किया है, उसी प्रकार उन्होंने जीवन तथा जगत् के नाना क्षेत्रों में भी उनकी अमूल्य सेवा की है। शताब्दियों से क्षत्रिय जाति चारण जाति के

१—सूर्यमल्ल मिश्रण, वंशभास्कर, द्वितीय भाग, पृष्ठ ११६४-६६।

श्रद्धा से दबी हुई है। जब राजा पांडु ने मृत्यु के समय अपनी कुंती और अपने पुत्र युधिष्ठिरादिकों को चारणों के अधीन किया तब चारणों ने उन्हें अपनी संरक्षता में रखकर हस्तिनापुर सकुशल पहुँचा दिया। राजस्थान के छः सौ वर्ष पूर्व के इतिहास में तो ऐसी न जाने कितनी घटनाएं छिपी पड़ी हैं, जिनसे चारण-जाति की सेवा, त्याग, न्याय, शासन-पटुता, वीरता, काव्य-प्रतिभा आदि का परिचय प्राप्त होता है। सच बात तो यह है कि क्षत्रिय जाति से पृथक् उनके गुणों का कोई विशेष मूल्य नहीं ठहरता। वंशभास्कर की भूमिका में कृष्णसिंह बीदा ने इन गुणों पर प्रकाश डाला है।[१] निष्कर्ष यह है कि चारणों ने क्षत्रिय नरेशों के राज्य-दरबारों में रहकर न्याय और राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने में पर्याप्त सहायता पहुँचाई है, पारिवारिक और आंतरिक विषमता को मिटाने में पूर्ण दिलचस्पी ली है तथा विपत्ति और युद्ध के समय उपस्थित होकर अपने प्राणों तक का विसर्जन किया है। ध्यान देने की बात यह है कि जब कोई क्षत्रिय अपने बन्धु-बान्धवों के अपराध से अथवा राजा-महाराजाओं के अन्याय से अथवा बलात्कार से बचने के लिए चारण के घर आश्रय ग्रहण करता तब उसे कोई नहीं छेड़ता था। चारण और क्षत्रियों की पंचायत ऐसी स्थिति में उचित न्याय करती थी। युद्ध का निमन्त्रण मिलते ही क्षत्रिय अपनी बहू-बेटियों तथा स्त्रियों को चारणों के घर छोड़ देते थे, जहाँ उनकी उचित देख-भाल की जाती थी।[२] चारणों ने क्षत्रियों के साथ कभी विश्वास-घात नहीं किया, कभी भी उनके अहित की बात नहीं सोची। आपत्ति काल में समस्त पारिवारिक सम्पदा चारणों के हवाले कर दी जाती थी। चारणों ने अपनी सम्पदा के समान इसकी रक्षा की और आपत्ति के हटते ही ज्यों की त्यों लौटा दी। जब-जब क्षत्रियों में द्वेष और विरोध उठ खड़े हुए और मरने-मारने का समय आ उपस्थित हुआ, तब-तब चारणों ने मध्यस्थ बन कर संकट का निवारण किया। यवन आक्रमणकारियों को परास्त करने के लिए चारणों ने क्षत्रिय जाति में अपूर्व साहस का संचार किया, यहाँ तक कि कायरों को भी वीर बना कर रण-स्थल में ला खड़ा किया और आवश्यकतानुसार स्वयं अग्रज बनकर शत्रुओं से मुठभेड़ की तथा वीर-मृत्यु से आलिंगन किया।[३] चारण और क्षत्रिय जाति के इस घनिष्ट सम्बन्ध को देखकर विदेशी इतिहासकारों ने ठीक ही कहा है कि राजपूत जाति को मुसलमानों के समय में चार सौ वर्षों तक उसके कवियों ने पतन से रोक दिया।[४] और तो और, स्वतन्त्र भारत में राष्ट्र को सब कुछ सौंप देने पर भी इन दोनों में से जब कोई एक दूसरे को कठिनाई में देखता है तो उसकी आँखें भर आती हैं। इस प्रकार चारण और क्षत्रिय को हम एक आत्मा दो शरीर के रूप में देख सकते हैं।

१—पृथ्वीमल्ल मिश्रण, वंशभास्कर, तृतीय भाग, पृ० ६२-७२।

२—(क) Indian Castes by Wilson, 2nd. edition, pp. 181-185.

(ख) Tribes and Castes of India by Sherring, 3rd. edition pp. 53-54.

(ग) Tod—Rajasthan, 2nd. edition, pp. 641-32.

३—चारण मरण परावो चहरै, चारण मरण न पाई चूक।

४—Vincent Smith—Ancient India.

चारण जाति ने क्षत्रिय जाति की सेवा कर क्या पाया ? इस व्यवहारिक प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व यह ध्यान में रखना चाहिए कि चारण पुरस्कार के रूप में दान अवश्य ग्रहण करता था, किन्तु पुण्य के रूप में किसी वस्तु को स्वीकार करना वह अपने सिद्धान्तों के प्रतिकूल समझता था। यथार्थ में क्षत्रिय नरेशों के राज्याश्रित कवि-राजाओं की कविता का पुरस्कार भौतिक ऐश्वर्य ही था। क्षत्रियों को चारणों के पालन-पोषण का उतना ही ध्यान था जितना अपनी कीर्त्ति-प्रचार कराने का, इसलिए उनके पुरस्कार भी राज्योचित ही कहे जाएंगे। उनके पास बड़े-बड़े राज्य थे, इसलिए उन्होंने प्रसन्न होकर चारण कवियों को अपने राज्य की आय के अनुसार बड़े-बड़े मान-सम्मान दिए हैं। यदि इनकी सूची बनाई जाए तो एक छोटा-मोटा ग्रन्थ बन सकता है। वंशभास्कर की भूमिका में प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन काल तक के दान-सम्मानों का ब्यौरा दिया गया है।[1] दान-सम्मान देने की परिपाटी प्राचीन काल से ही चली आ रही है। यूनान के बादशाह सिकन्दर ने जब भारत पर आक्रमण किया, तब लाहौर में अनेक क्षत्रिय नरेश उससे युद्ध करने के लिए एकत्रित हुए। उनमें साँभरनरेश चौहान मानिक्य राज भी था, जिसने चारणों को भूमि-दान देकर राजा बना दिया था। उसके साथ तीस पौराणिक चारण भी थे।[2] मजे की बात यह है कि ये दान-सम्मान अन्य वर्णों के सदृश जीवन-पर्यन्त न होकर वंश-परम्परागत होते हैं। इसी प्रकार चारणों को दी हुई भूमि राज्य-कर के बिना उदक दी हुई होती है। जो गाँव दिए गए हैं, उनके दान-पत्र लिखने का यह ढंग है कि 'अमुक राजा के वचन से अमुक ग्राम अमुक चारण को उदक (शाँसण) आघाट (आगोतर, अगले जन्म के लिए) दान कर दिया गया।' 'उदकदत्त' अथवा 'उदकदत्तदान' से तात्पर्य यह है कि 'मैं तुम्हारे अर्थ इसे देता हूँ, यह अब मेरा नहीं है। ये दान-सम्मान एक ही तरह के न हो कर विविध प्रकार के होते हैं। जिसने जितनी अधिक सेवा की है, उसे उतना ही अधिक मेवा मिला है। राजाओं के सम्पर्क में आए हुए चारण-बन्धुओं का ठाट-बाट और रहन-सहन राजघरानों से कम नहीं है। राजस्थान के इतिहास में चारणों को दिए गए दानों का यदि विश्लेषण किया जाए तो कहा जा सकता है कि इन्हें 'कविराजा' का उपटंक (पद), 'ताजीम' (अभ्युत्थान), 'पैर में स्वर्णाभरण' (पैर में स्वर्ण पहिनने की राज्याज्ञा), लाखपसाव,[3] बाँहपसाव (हाथ बढ़ाकर मिलना), 'ठिकाना' (जागीर, गाँव), हाथी, घोड़े, पालकी, सोना, चाँदी, नकद रुपये आदि न जाने कितने मूल्यवान पदार्थ पुरस्कार रूप में प्रदान किए गए हैं। वस्तुतः चारणों के पास कविता करने और इतिहास लिखने का एक प्रबल शस्त्र था, जिसके प्रयोग से वे राज-दरबारों को भी हिला देते थे। तत्काल छंदोबद्ध काव्य-रचना कर अपने आश्रयदाताओं का मन हरना

१—मृथमल्ल मिश्रण, वंशभास्कर, तीसरा भाग, पृष्ठ ४७ से ५६ तक, ।

२—सम्भर अहो उदारता, यह काके अनुरूप ।

पट्टालय से अप्पिपुर, भुव किय चारन भूप ।।

३—पसाव (सं० प्रसाद) का अर्थ है—दान। बड़े दान को लाखपसाव, कोड़पसाव आदि कहा जाता है। जब लाखपसाव दिया जाता तो कुछ नकद रुपया और शेष हाथी, घोड़े, सिरोपाव आदि से पूरा किया जाता था। छोटा दान लाखपसाव, उससे बड़ा कोड़पसाव और सबसे बड़ा अड़बपसाव कहलाता है।

उनके लिए एक साधारण बात थी। ऐसा करके वे अपने निर्दिष्ट लक्ष्य तक शीघ्र ही पहुँच जाते थे। शिष्टाचार की दृष्टि से भी राज-दरबारों में उनकी बड़ी मान्यता थी। जिस तामजाम में बैठने की आज्ञा किसी को न होती, वहाँ चारण-कवि प्रतिष्ठा के साथ बिठलाया जाता, उसकी फड़कती हुई कविता को सुनकर राजा उठ बैठता और उसे छाती से लगा लेता था। चारण-कवि के आने का सदेश पाकर क्षत्रिय राजा अगवानी के लिए जाते, धूमधाम से उसे महलों में ले आते और पुरस्कृत कर उसे बिदा देते थे। कहना ही पड़ेगा, चारण-कवियों को मौके की उपजती भी खूब थी। मेवाड़ में चारणों को सम्मानित करने की एक विशेष पद्धति देखने को मिलती है। वहाँ खास रुक्के में जुहार का लेखा होता है, हाथ का कुरब दिया जाता है, पगड़ी में मांभा (जरी का टुकड़ा) लगाया जाता है और पैरों में स्वर्ण के दोजड़े लंगर पहनाए जाते हैं। अँग्रेजी शासन-काल में इंग्लैंड की सरकार ने इन कवियों को चाँदी के 'तमगों' और 'महामहोपाध्याय' की उपाधि से अलंकृत किया था। इस प्रकार इन दोनों जातियों की घनिष्ठता चरम सीमा तक पहुँच गई, यहाँ तक कि चारण-कवि और क्षत्रिय शासक भोजन-पंक्ति में एक साथ बैठकर पीने-पिलाने लग गए और एक दूसरे के गले में बाँहें डालकर काव्य-भाषा में बोलने लगे। उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह ने जब चारण-कवि कृष्णसिंह के गले में बाँहें डाल कर कई बार मद्य पिलाया, तब वह मस्ती में झूमकर गुनगुनाने लगा—

'दै गलबाँही जे दिया, मद प्याला मनुहार।
सज्जन बिन ते सेल सम, सालै हिया दुसाल॥'

इतना ही नहीं क्षत्रिय-शासकों ने चारणों के घर आतिथ्य स्वीकार कर उनका मान और भी आगे बढ़ाया है।[1] भौतिक सुख-साधनों से ऊपर उठे हुए राज्याश्रित कवियों ने अनेक बार राजाओं द्वारा दी हुई उपाधियों और जागीरों को सदुपदेश देकर ठुकराया भी है।[2] साथ ही दूरदर्शी एवं चतुर चारण-कवियों ने कविता द्वारा पीढ़ियों तक के लिए धन-संचय किया है। क्षत्रिय जाति ने अपने भाइयों, बेटों और उमराव-सरदारों के समान चारणों का विशेष ध्यान रखा है। यह कहना पड़ेगा कि अवसर विशेष पर वे खजाना खाली करने में देर नहीं करते थे। राजस्थान में चारणों का यह सम्बन्ध राजपूत जाति की शुद्धता का प्रमाण है, क्योंकि राजा से लेकर सामान्य राजपूत तक को 'पौष्ठपात्र' पद पर चारण को रखना अनिवार्य हो गया था। जिस राजपूत के 'पौष्ठपात्र' चारण नहीं होता अथवा कन्या के विवाह पर चारण त्याग (दान) लेने को नहीं आता तो कन्यापक्ष वाले की कुलीनता में संदेह किया जाता था और वरपक्ष वाले विवाह करने से भी रुक जाते थे। सामान्य रीति से सब क्षत्रियों में चारण

१—सन् १९१४ ई० मे जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह, उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह और किशनगढ़ के महाराजा शार्दूलसिंह का कविराज श्यामलदास के घर महमान होना।

२—(क) अकबर के समय में हरिदास चारण द्वारा ४५ गांवों को ठुकराकर यह कहना कि मैं क्षत्रिय का वैभव बनाने वाला हूँ, मिटाने वाला नहीं।

(ख) सूर्यमल्ल मिश्रण का 'ठाकुर' की पदवी मिलने पर यह कहना कि मेरा भूषण तो मेरी विद्या है।

पोलपात (द्वार पर नेग लेने वाले पात्र) हैं, पर क्षत्रियों की तीन जाति के साथ तीन शाखा के चारणों का विशेष नियम है।[1]

राज्य-दरबार में जब शांति का वातावरण रहता तब देशी नरेशों का ध्यान ललित कलाओं की ओर आकर्षित होता। सभाएं जुटतीं और उनमें चारण-कवियों की रचनाओं का रसास्वादन किया जाता था। साथ ही ऐतिहासिक प्रसंगों और क्षत्रिय-कुल-कीर्ति को श्रवण किया जाता था। इससे क्षत्रिय नरेशों को अपना जीवन-स्तर ऊपर उठाने में पर्याप्त सहायता मिलती थी। बहुत से राजा-महाराजा तो चारणों के ही रंग में रँग गए। उन पर भी कविता का जादू असर दिखाने लगा और वे राजस्थानी में कविता करने लग गए। कहना अनावश्यक न होगा इन नरेशों ने चारण-जाति और उसके कवियों की प्रशंसा में भी अपने हृदयोद्गार प्रकट किए हैं। कुछ रचनाएं चारण-कवियों के निधन से सम्बन्ध रखती हैं, जिन्हें शोकगीति (Elegy) कहा जा सकता है। जोधपुर के महाराजा मानसिंह ने चारण को 'महा पदारथ चीज' कहा है।[2] रतलाम के महाराणा बलवंतसिंह ने चारण-जाति को भव-सागर से पार करने वाले खेवनहार की संज्ञा दी है।[3] उणियारा के रावराजा फतहसिंह ने बैयल्या ग्राम के चारण साहिबदान की कविता पर रीझकर कहा कि जिस प्रकार स्वर्ण में रत्न जड़ने से उसकी शोभा बढ़ती है, उसी प्रकार कवि के शब्द-चयन ने उसमें अनूठा चमत्कार उत्पन्न कर दिया है।[4] जोधपुर के महाराज मानसिंह ने कविराजा बाँकीदास के निधन पर शोक प्रकट करते हुए बड़ा ही हृदय-द्रावक चित्र खींचा है।[5] कहने का अभिप्राय यह कि क्षत्रिय जाति की दृष्टि में चारण का जो रूप था, वह इन रचनाओं में सत्यता के साथ प्रतिबिंबित हुआ है। एतदर्थ, यह सहज ही में निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि क्षत्रिय जाति ने अपने चारण-बन्धुओं से काव्य-रचना को सुना, समझा और स्वयं भी लेखनी उठाकर इस ओर तत्परता दिखाई, साहित्यिक दृष्टि से जिसका मूल्य कम नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन काल तक इन दोनों जातियों में चोली दामन का सम्बन्ध चला आ रहा है। चारण-कवियों ने अपने आश्रयदाताओं का स्तुति-गान कर राजस्थानी-साहित्य का बीजारोपण किया है तथा क्षत्रिय-जाति ने चारण-वंश-वाटिका का स्नेह-दान से सिंचन कर उसे पुष्पित और पल्लवित बनाया है। राजपूत जाति के

१—मोड़ा नै सीमो दियो, रोहड़ नै राठोड़।
दूरमावत नै देवड़ा, ठावा ठावी ठोड़॥

२—करण सुकर अहलोक कृतारथ, परमारथ ही दियण पतीज।
चारण कहण अचारथ चोड़े, चारण महा पदारथ चीज॥

३—जोगो किसी न जोग, सह जोगो कीधो सुरव।
लंठा चारण लोग, तारण कुल छत्रियां तणां॥

४—साहिब धारा अंक सह, घड़िया वेह घड़ाव।
आणक कंचन में जिके, अहिदा रतन जुड़ाव॥

५—सद विद्या वदुसाज, बाँकी बी बाँका बनू।
कर सूधी कविराज, आज कठी गो आशिया॥

कीर्ति-सौरभ को पवन बनकर फैलाने का एक मात्र श्रेय इन्हीं चारण-बंधुओं को है। अपनी-अपनी अमूल्य सेवाओं के कारण ही ये दोनों जातियाँ एक दूसरे के जीवन में समा गईं। जोधपुर के महाराजा मानसिंह ने सन् १८६४ ई० में चारण पीथा के स्वर्गवास पर ठीक ही कहा था—'जिस क्षत्रिय के घर में तलवार की इज्जत है, त्याग की महानता है, उस क्षत्रिय के लिए चारण भाई के समान है। तलवार और त्याग से दूर राजपूत के साथ चारण जाति का कोई संबंध नहीं।'[1] आज भी राजस्थान का चारण मरुभूमि में गीत गाता हुआ क्षत्रिय जाति को नवीन परिस्थितियों के अनुरूप सन्मार्ग पर लगा रहा है। स्पष्ट है, चारण और क्षत्रिय दोनों ही एक दूसरे के तन, मन, धन और जीवन हैं। अन्त में इन सब बातों को देखते हुए यदि यह कहा जाए कि चारण और क्षत्रिय राजस्थानी साहित्य के दो रम्य कूल हैं, तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी।

१—चारण भाई चत्रियां, आंधर पाग सिंगाग।
पाग सिंगागां बाहिरां, नां घर लाग न भंग॥

पन्द्रहवीं शती के ब्रजभाषा गद्य का एक नमूना

श्री गंगाप्रसाद कमटान, धौलपुर

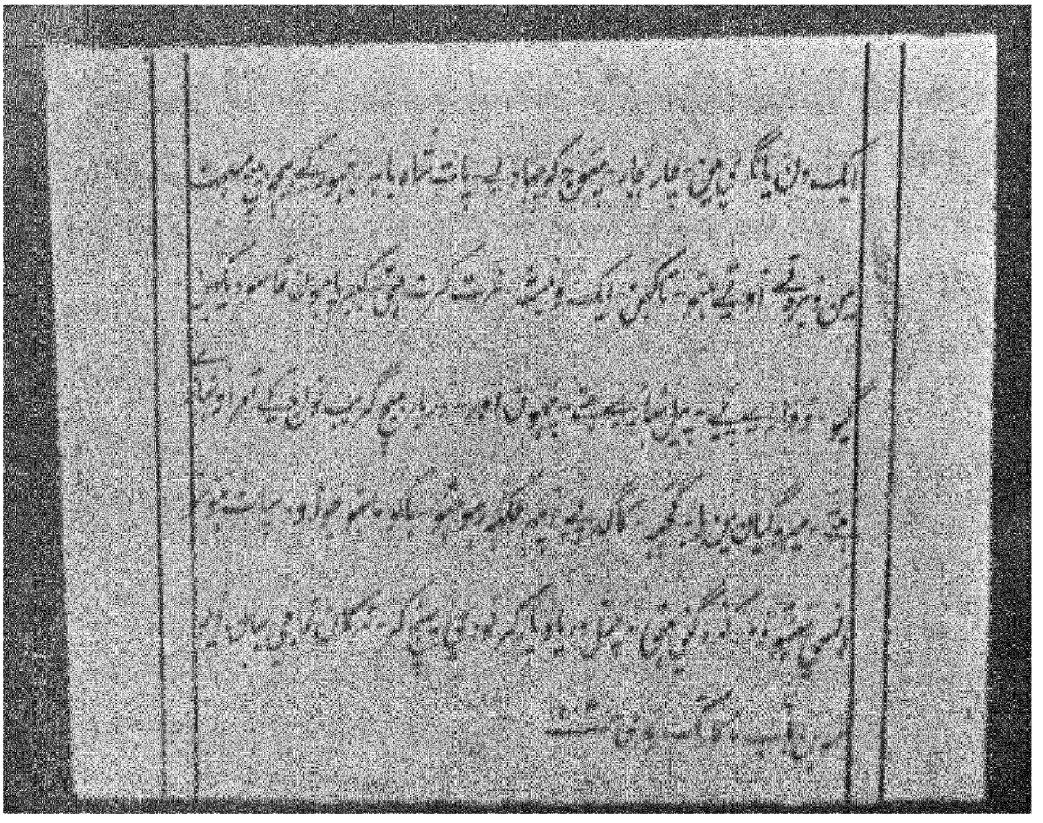
आचार्य शुक्ल जी के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के अनुसार हिन्दी साहित्य का पूर्व मध्य काल जिसके अन्तर्गत भक्ति काल की शाखा हरी-भरी लहलहाती है, विक्रम सं० १३७५ से १७०० तक माना गया है। इस पूर्व मध्य काल में सोलहवीं शताब्दी से पूर्व का ब्रजभाषा का गद्य-साहित्य अब तक नाममात्र को भी प्राप्त न था। इसका यह तात्पर्य नहीं कि, उस काल में ब्रजभाषा का गद्य आविर्भाव में ही नहीं आया था—आया था, किंतु केवल लोगों के आपसी पत्र व्यवहार के रूप में, लोककथाओं के रूप में तथा डायरियों में अंकित फुटकल नोटिसों के रूप में। लोककथाओं के भी दो रूप देखने को मिलते हैं—एक धार्मिक कथाओं के और दूसरे लोक प्रचलित आख्यानों के ढाँचे में ढले। डायरी के नीरस पृष्ठ ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा ऐतिहासिक घटनाओं को ही अपने में लिए-दिए लपेटे हुए हैं। अतएव बहुत सी परवर्ती स्मृतियाँ गद्य साहित्य के प्रेरणा-बीज रूप में लिखी गई हैं। फलतः इस काल की रचनाएँ उस युग की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक अवस्था के अनुरूप ही हैं।

इस काल में केन्द्रीय शासन की जड़ें हिल रही थीं, प्रान्तीय शासन शिथिल होता जा रहा था। युद्ध राजपूत राजाओं के लिए एक आवश्यक कर्त्तव्य हो गया था जिससे ब्रजभाषा का गद्य उन दिनों राजकीय किलों, महलों एवं राजकीय पुस्तकालयों में अभयदान न पा अधिक सुरक्षित न रह सका। जो सामग्री मुझे स्व० धौलपुर नरेश के निजी राजकीय पुस्तकालय की बिखरी रद्दी में प्राप्त हुई है, साधारण जनता की पुरानी परम्परा की खोई स्मृति को पुनः हरा करने में कुछ सहायक हो सकती है। इस राज-रक्षित ब्रजभाषा के गद्य साहित्य से उस काल की भाषा-प्रकृति का कुछ आभास पाया जा सकता है। मुझे प्राप्त हुए स्व० नरेश के फटे-फटाए एलबम में केवल बहुत थोड़ी संख्या में बिखरे लगभग बीस फोटोप्रिन्ट हैं। इन फोटोप्रिन्टों की लम्बाई ६ इंच और चौड़ाई ४ इंच है। किसी प्रिन्ट में सात, किसी में आठ और किसी में नौ पंक्तियाँ हैं। इन में से दो प्रिन्ट अपभ्रंश के काव्य

सौन्दर्य को मुखरित करते हैं—एक जिसमें 'महासिध चरउ' है, आठ पंक्तियाँ का है और दूसरे में वीरमदेव नामक एक औरंगजेब-कालीन राजा की प्रशंसा में लिखा अपभ्रंश का दोहा है। शेष ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य की लिपि हिन्दी है। केवल दो फोटोप्रिन्टों में भाषा तो ब्रज जनपद की है, किन्तु लिपि उर्दू है।

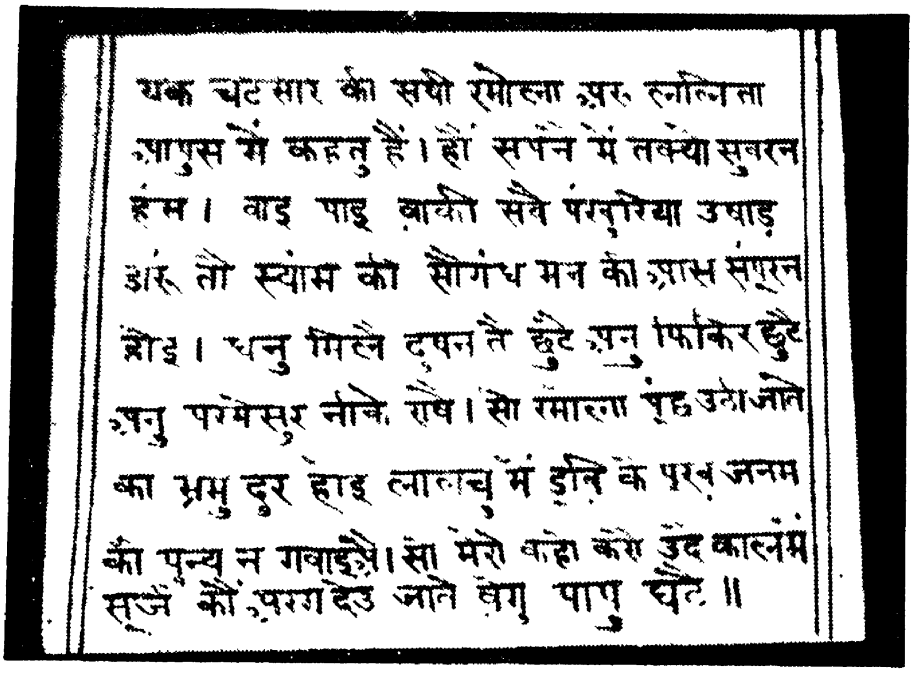
उपर्युक्त सामग्री का अध्ययन भाषा-विज्ञान की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही, इसकी सहायता से उस काल की नवोदित नवोत्कर्ष की प्रवृत्ति का एवं उस युग के प्रतिपाद्य विषयों का भी अध्ययन अधिक विश्वास के साथ किया जा सकता है। इस काल के ब्रजभाषा गद्य के उदाहरणों में उन सभी प्रवृत्तियों का आरंभ हो गया दीखता है जो आगे आने वाली भाषा के गठे-बँधे निबंध के प्रधान लक्षण माने जाते हैं।

एलबम में प्राप्त फोटोप्रिन्टों में भाषा की दृष्टि से अन्तर होने के कारण गद्य के कुछ रूप बदले हुए प्राप्त होते हैं। निम्न फोटोप्रिन्ट कार्तिक बदी संवत् १५८३ का है जिसमें बाबर बादशाह की चर्चा की गई है।



भाषा की दृष्टि से इसकी भाषा व्यावहारिक और सभी प्रकार के भावों के प्राणमय प्रकाशन में समर्थ बन सकी है और वह युग जीवन की गतिशीलता में पीछे नहीं रही है। इस भाषा का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह अत्यन्त हलकी और आशा से अधिक नाज़ुक नहीं है।

दूसरे फोटोप्रिन्ट में ब्रजभाषा-गद्य की शैली लोकभाषा के अधिक निकट दीखती है। अन्य फोटो प्रिन्टों में ब्रजभाषा गद्य का शिष्ट और अभिजात स्वरूप देखने को मिलता है। इसमें ब्रजभाषा की सरसता और स्निग्धता की अपूर्व छटा है—



उक्त सामग्री का अवलोकन करने पर यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन ब्रजभाषा-गद्य में जीवन के हलके क्षणों की केवल मनोविनोदपूर्ण अभिवृत्ति ही नहीं मिलती, प्रत्युत उसमें पर्याप्त गंभीरता भी है और प्रचार तथा प्रसार की दृष्टि भी निहित ज्ञात होती है।

नवीन अनुसंधान

(१) राम साहित्य का एक विस्मृत कवि

डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, लखनऊ विश्वविद्यालय

अवध भारतवर्ष का एक इतिहास प्रसिद्ध प्रान्त है। बैसवारा इसी के एक छोटे से भू भाग का नाम है। अवध के दक्षिण में गंगा तथा सई नदी के मध्य में जो विस्तृत भू-भाग पड़ता है वह तीन भौगोलिक भू भागों में विभाजित है। इनमें ऊपर का भाग बाँगर, मध्य का धनौधा तथा इसके परे ऊसर कहलाता है। बाँगर एवं धनौधा के मध्य में बैसवारा स्थित है। भावन, भौन, धनसिंह राय, बेनी, शिवलाल दूबे, शम्भुनाथ त्रिपाठी, लालनदास, बंदीजन, सुखदेव मिश्र, शम्भुनाथ मिश्र, बांकेराय, निहाल, सुखराम, भान, जगन्नाथ, निहाल, प्राणनाथ आदि प्रायः २०० कवियों ने समय-समय पर काव्य रचना करके बैसवारे को गौरवान्वित किया। इन कवियों की अनेकानेक महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित पुस्तकें यत्र-तत्र अनाधिकारी व्यक्तियों के पास छिपी पड़ी हैं। ऐसे ही एक संग्रह से अभी हाल ही में मुझे दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मिले हैं, इनमें प्रथम है, 'रामचन्द्रिका' तथा द्वितीय है 'पारमोक प्रकाश' कोष। रामचन्द्रिका के रचयिता बैसवारा प्रान्तान्तर्गत बेती ग्राम के निवासी यशस्वी कवि भौन हैं।

प्रस्तुत 'रामचन्द्रिका' की कथावस्तु राम चरित है। परन्तु कवि की अभिव्यंजना शैली तथा भाषा निजी है। इस ग्रन्थ में कथा का विभाजन अड़तीस प्रकाशों में हुआ है। इनमें से कुछ प्रकाश इस प्रकार हैं—रामजन्म, रामविवाह, रामवनगमन, सीताहरण, चित्रकूट, युद्धप्रकाश आदि। अन्तिम प्रकाश में लवकुश का चरित्र वर्णित है। ग्रन्थ के अन्त में २५ छन्दों में राम नाम का माहात्म्य वर्णित है। ग्रन्थ के अन्त में कवि ने लिखा है :—

"राम स्तुति कवि भौनकृत पढ़ै जो तीनिहु काल।
संतति संपति हरि भगति लहै मुतजि जंजाल॥

ग्रन्थ के प्रारम्भ में गणेश, शिव तथा अन्य शक्तियों की वन्दना है। इसके बाद कवि ने अपना, अपने पिता, गाँव आदि का परिचय दिया है।

ग्रन्थ की रचना गीतिका, नवपदी, अरिल्ला, दोहा, चौपाई, पादाकुल, पद्मावती, त्रिभंगी, सोरठा, मरहठ, हरिगीतिका, आभीर, घोटेव, झूलना, सवैय्या आदि छन्दों में हुई है।

ग्रन्थ की भाषा अवधी है। साथ ही संस्कृत शब्दों के तत्सम तथा तद्भव रूप भी मिलते

है। इसकी पृष्ठ संख्या २४० है। आकार ६×६। इसका रचना काल ज्ञात नहीं है पर यह कवि की प्रौढ़ कृति है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

शिवसिंह सेंगर के मत से भौन का समय सं० १८८१ है। पं० रूपनारायण पाण्डेय ने इनका समय सं० १८२५ माना है। पांडेय जी ने यह तिथि शक्तिचिन्तामणि के आधार पर निश्चित की है। कारण, कि शक्तिचिन्तामणि का रचना काल सं० १८५१ है। पर यह शक्ति-चिन्तामणि भौन कृत नहीं वरन् भावन लिखित है। मिश्रबन्धु इस विषय में भौन हैं। भौन इतिहास-प्रसिद्ध राना बेनीमाधव बक्श के समकालीन थे। प्रमाण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ पठनीय हैं :—

जैहैं फूटि फूट सी तमाम तोप तोडवाली,
फूटि जैहैं काबिल कमाल फौज वाना ते,
टूटि जैहैं देस को दिमाग जोर छूटि जैहै,
लूटि जैहैं लाखन को माल तोस खाना ते।
भौन कवि कहत खोदाय की खबरि करौं,
पीछे पछतावगे खराब खून खाना ते,
वैरिन की बनिता सिखावती एकन्त कन्त,
बैर ना कीजै बेनीमाधव बक्स राना ते॥

शिव सिंह सरोज द्वारा लिखित संवत् १८८१ (सन् १८२५) शुद्ध प्रतीत होता है। सिपाही विद्रोह का समय सन् १८५७ है। इस समय भौन की अवस्था लगभग ३२ वर्ष की रही होगी।

---

(२) ज्ञानी जू और उनका वीर-विलास

डा० टीकमसिंह तोमर, बलवंत राजपूत कॉलेज, आगरा

हिन्दी के असंख्यों साहित्यकारों का जीवन-वृत अभी तक अँधकार के गर्त्त में निहित है। ज्ञानी जू भी उन्हीं कवि रत्नों में से एक हैं। शिवसिंह सरोज, मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिन्दुस्तान, मिश्रबन्धु-विनोद, आचार्य शुक्ल कृत हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थों के खोज विवरणों में इस कवि का उल्लेख नहीं आया है।

उत्तर प्रदेश के हम्मीरपुर जिले की राठ तहसील में बेतवा के किनारे जलालपुर नामक स्थान है। ज्ञानी जू का जन्म उक्त नगर में हुआ था। इनके पिता का नाम वृंदावन था। ज्ञानी जू के ज्येष्ठ भ्राता का नाम लाला जू, उपनाम देवकीनन्दन और कनिष्ठ भाई का सतानन्द था। देवकीनन्दन के पुत्र बैजनाथ और पौत्र का नाम बिहारीलाल था। बिहारी-लाल के लड़के पंचम और पौत्र श्यामलाल थे, जो १९२९ ई० में लगभग ८५ वर्ष के थे। ज्ञानी जू के कोई संतान नहीं थी।

कहा जाता है कि जैतपुर के राजा के ये अभिन्न थे और उन्हीं के आदेश से ज्ञानी जू ने वीर रसात्मक काव्य की रचना की थी। इनके बनाए हुए ग्रन्थ जलालपुर में बहुत समय तक वर्त्तमान थे। एक बार इनका मकान गिर जाने से वह समस्त सामग्री नष्ट हो गई।[१]

इनके द्वारा रचित ग्रन्थ निम्नलिखित हैं :—

(१) अंगद-सम्वाद, (२) परशुराम-सम्वाद, (३) रासला अथवा नदी बेतवा का दरेरा अथवा वीर-विलास।

ज्ञानी जू ने वीर-विलास का रचना-काल इस प्रकार दिया है :—

'सत्रह सै अठानवै ग्यानी करियो प्रकास।
सावन वदि तिथि दुइज रवि प्रगट्यो वीर-विलास॥"

अर्थात् वीर-विलास की रचना संवत् १७९८ (१७४१ ई०) को हुई थी। इस ग्रन्थ के अन्त में यह पुष्पिका अंकित है :—

१—उक्त जीवन विवरण जलालपुर के पटवारी श्री मन्नीलाल द्वारा ता० २१ अगस्त, १९२५ को, श्री पं० माधोसिंह पाण्डे द्वारा ता० १३-३-१९२९ तथा १६-३-१९२९ ई० को हम्मीरपुर के तत्कालीन डिप्टी कलेक्टर स्वर्गीय कुंवर महेंद्रपाल सिंह जी आय कोटला को लिखे गए पत्रों के आधार पर दिया गया है।

"श्री सम्वत् १८६८ श्री सूर्य दक्षणायनास्ते भाद्रपद शुक्ल १४, रविवार लिखनार्थ दुबे कीरतदास मेढ़ी मध्ये वेत्तवंती उपकण्ठे पुस्तक सम्पूर्ण।"

इसके स्पष्ट होता है कि वीर-विलास की रचना-तिथि के ८० वर्ष उपरांत इसकी यह लिपि की गई थी।

वीर विलास दो भागों में विभक्त है। प्रथम खंड में ४५० और द्वितीय में २१८ छन्द हैं। इस काव्य में पृथ्वीराज चौहान और महोबे के परमालों के युद्धों का जिनमें ऊदल, ब्रह्मा, मलखान आदि ने वीरगति प्राप्त की थी, वर्णन है। इस रचना के सम्बन्ध में कवि की यह उक्ति विचारणीय है :—

"तब सब मिलि के यों कही अब बरनौ कछु वीर।
भयौ दरेरौ कौन विधि नदी बेतवै तीर॥"

अतएव वीर-विलास वीर रस प्रधान काव्य है इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है :—

लै लै किरवानैं गाहि-गाहि गिरवानैं मुंडन भानैं रुंड भिरैं।
एकन को मारैं एकन डारैं आपिन आरैं झुंड चिरैं॥
हाथिन की बेटैं नेक न सेटैं सीस समेटैं सम्भु फिरैं।
ज्यों चीता हिरन पै परे अपिन पै धाइ धरनि पै वीर गिरैं॥"

वीर रस के प्रसंग में ज्ञानी जू ने सेना की तैयारी अस्त्र-शस्त्रों की सजावट, वीरों की गर्वोक्तियाँ आदि का बड़ी सफलता से चित्रण किया है। साथ ही वीभत्स, शृंगार और शांत रस के इन्होंने सफल प्रयोग किए हैं।

अलंकार-योजना में भी इस कवि ने अपनी कला का अच्छा परिचय दिया है। इनके द्वारा प्रयुक्त प्रमुख अलंकार अनुप्रास, उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, सन्देह और भ्रांतिमान् हैं। नीचे दिए हुए रूपक के उदाहरण से इनकी अलंकार-प्रयोग-पटुता का आभास मिल जाता है :—

"बेतवै बार सुगंध की धार भौं ढाल जनौं जमुना की हिलोरन।
सोनित सोई सरस्वती सोत सौं बारहु पारके ह्वै रहो छोरन॥
हाथी के ऊपर हाथी गिरो तह बैठे हैं पाव पसार के टोरन।
आन कै तीरथराज मनौं मन आयो मिनाक परब्बत खोरन॥३८७॥

ज्ञानी जू ने परम्पराभुक्त उपमानों के अतिरिक्त कृषि-सम्बन्धी उपमाओं का प्रयोग करके अपनी मौलिकता का यथेष्ठ परिचय दिया है, यथा :—

आल्हा भयो किसान। पिरथी दल जुनरी भये।
रहि गए झुंड निदान। सिर भुंटा से लुन लये॥

उक्त उदाहरण में काव्यात्मक गुणों का अभाव होते हुए भी उसमें ग्रामीण जीवन की झाँकी पाठक को मिल जाती है।

इस छोटे-से ग्रन्थ में कवि ने दोहा, सोरठा, कवित्त, कुंडलियाँ, छप्पय, त्रिभंगी, छंद, दुमिला, विष्णुपद, अमृतध्वनि, चौपाई आदि ११ प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है।

विवरणात्मक स्थलों पर दोहा और सोरठा अधिकता से प्रयुक्त हुए हैं। वीर रस एवं युद्ध-प्रसंगों में सवैया, कवित्त और त्रिभंगी विशेष रूप से अपनाए गए हैं। कहीं-कहीं पर इनके छंद पिंगल की कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं। प्रसन्नता की बात यह है कि ऐसे स्थल अपेक्षाकृत कम हैं।

वीरविलास में रासो तथा आल्हा दोनों पद्धतियों से भिन्न शैली को अपनाया गया है। इसकी कृति में विवरणात्मक एवं घटना-प्रधान शैली की प्रधानता है। कहीं-कहीं पर भावात्मक शैली के भी दर्शन होते हैं। ऐसे स्थलों पर काव्य की रचना अधिक गम्भीर और प्रभावोत्पादक हो गई है।

ज्ञानी जू की भाषा में मुहावरों और कहावतों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

'हाथ में भात विराजत यों, मनो व्याल मराल चरावत चारो,'
'कौन जुहार करै तिन सौं, जिन पानी हमारो है जान कै मारो,'
'होत सती कोउ सैंतत भाड़ो,' 'फिर कौड़ी नहिं लहत',

शैली के भी दर्शन होते हैं। ऐसे स्थलों पर काव्य की रचना अधिक गम्भीर और प्रभावोत्पादक हो गई है।

ज्ञानी जू की भाषा में मुहावरों और कहावतों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

'हाथ में भात विराजत यों, मनो व्याल मराल चरावत चारो,'
'कौन जुहार करै तिन सौं, जिन पानी हमारो है जान कै मारो,'
'होत सती कोउ सैंतत भाड़ो,' 'फिर कौड़ी नहिं लहत',

शैली के भी दर्शन होते हैं। ऐसे स्थलों पर काव्य की रचना अधिक गम्भीर और प्रभावोत्पादक हो गई है।

ज्ञानी जू की भाषा में मुहावरों और कहावतों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

'हाथ में भात विराजत यों, मनो व्याल मराल चरावत चारो,'
'कौन जुहार करै तिन सौं, जिन पानी हमारो है जान कै मारो,'
'होत सती कोउ सैंतत भाड़ो,' 'फिर कौड़ी नहिं लहत',

(३) सन्त रज्जब की बानी

डा० शिवशेखर मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय

सन्त कवि रज्जब साहब का आविर्भाव दादूपन्थ में हुआ। दादूपन्थ का सन्त-काव्य में महत्वपूर्ण योगदान है। दादूपन्थ के प्रमुख ५२ कवियों में सन्त कवि रज्जब का विशेष महत्व है। रज्जब साहब एक कवि, योगी और समाज-सुधारक के रूप में प्रसिद्ध हैं। योग का जितना व्यापक ज्ञान सन्त कवि रज्जब साहब, सुन्दरदास और चरनदास (राजस्थान) को था उतना अन्यत्र दुर्लभ है। सन्त कवि सुन्दरदास के ग्रन्थों का प्रकाशन तो हरिनारायण शर्मा के सराहनीय प्रयत्न से हो चुका है, लेकिन दादूपन्थ के इन दो कवियों की बानी का प्रकाशन अभी तक समग्र रूप में और समुचित रूप से नहीं हो सका। इसीलिए इन कवियों का सम्यक् अध्ययन भी अभी तक नहीं हो पाया है।

सन्त कवि रज्जब की बानियों का एक संग्रह अभी कुछ समय पहले मुझे दिल्ली-निवासी श्री गणेशदत्त मिश्र से प्राप्त हुआ है। इस संग्रह में रज्जब साहब के पदों और बानियों की संख्या लगभग ६०० है। इन बानियों का विभाजन विभिन्न अंगों में हुआ है। इनमें से प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं:—

१—गुरुदेव को अंग	३१०	साखी
२—बिरह को अंग	६२	,,
३—ब्रह्म अगनि को अंग	४०	,,
४—बिरक्त को अंग	५१	,,
५—सुमिरन को अंग	६५	,,
६—ध्यान को अंग	११	,,
७—नाममहिमा को अंग	५५	,,
८—भजनप्रताप को अंग	६५	,,
९—साधुपरीक्षा को अंग	७२	,,
१०—साधु को अंग	३८	,,
११—भेद को अंग	३०	,,
१२—करुना को अंग	३५	,,
१३—बिनती को अंग	१२६	,,
१४—पीवपिछान को अंग	१०१	,,
१५—साखीभूत को अंग	२४	,,
१६—समरथाई को अंग	३८	,,

इसी प्रकार कवि ने अपने काव्य का विषय विभिन्न अंगों में विभाजित किया है। 'अज्ञानकसौटी को अंग' इस संग्रह का सबसे बड़ा अध्याय है। इसका प्रसार प्रायः ३१० साखियों में हुआ है। पूरे ग्रन्थ की रचना प्रायः ६५ अंगों में हुई है।

काव्य का विषय प्रमुख रूप से उपदेशात्मक है, आलोचनात्मक नहीं। आलोचना का वह स्वरूप और वह उग्रता जो कबीर की कविता में मिलती है इस कवि में कहीं नहीं दिखाई देती।

कविता की भाषा राजस्थानी है, लेकिन उसमें अन्य भाषाओं और बोलियों के शब्दों का भी मिश्रण है।

इस संग्रह में कवि की सामाजिक दृष्टि और योगविषयक ज्ञान प्रमुख रूप से पाठक के सामने आता है। योग के विभिन्न अंगों का कवि को अच्छा ज्ञान था, यह प्रस्तुत ग्रंथ से प्रकट हो जाता है।

---

(४) पिंगल-अकबरी के रचयिता चतुर्भुज

श्री वेदप्रकाश गर्ग, खटीकान स्ट्रीट, मुजफ्फरनगर

सम्राट् अकबर का विद्यानुराग प्रसिद्ध ही है। जहाँ उसकी सभा में संस्कृत और फारसी के विद्वानों को सम्मान मिलता था, वहाँ हिन्दी के भी विद्वानों को वैसा ही सम्मान प्राप्त था। उसके दरबार से अनेक हिन्दी कवियों का संबंध था। अकबर ने इन कवियों को प्रोत्साहित एवं सम्मानित करके जहाँ हिन्दी की श्रीवृद्धि की वहाँ उसने स्वयं भी कविता करके हिन्दी भाषा के भंडार को भरा। हिन्दी भाषा की जितनी उन्नति अकबर के समय में हुई उतनी और किसी दूसरे बादशाह के समय में देखने को नहीं मिलती। इसीलिए अकबर के शासन-काल को हिन्दी के स्वर्ण-युग के नाम से अभिहित किया जाता है।

अकबर के दरबार से संबंधित हिन्दी कवियों के संबंध में विशेष अनुसन्धान कर डा० सत्यप्रसाद अग्रवाल ने पी-एच्० डी० की उपाधि प्राप्त की है। उनका यह थीसिस लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में अकबर के सम्पर्क में आए हुए करनेश, दुरसा, होलराय, कुम्भनदास, सूरदास, व्यास, चन्द्रभान और स्थायी-वृत्ति पाने वाले चतुर्भुज ब्राह्मण, राजा पृथ्वीराज, राजा आसकरण, सूरदास मदनमोहन, मनोहर कवि, राजा टोडरमल के संक्षिप्त परिचय के साथ लब्ध-प्रतिष्ठ हिन्दी कवि नरहरि, ब्रह्म, तानसेन, गंग और रहीम, इन पाँच कवियों की जीवनी और रचनाओं पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। ग्रन्थ पाँच अध्यायों में समाप्त हुआ है। परिशिष्ट में नरहरि, ब्रह्म, तानसेन, गंग, सूरदास मदनमोहन, राजा आसकरण, राजा टोडरमल की अप्रकाशित अथवा दुष्प्राप्य रचनाएँ भी संकलित की गई हैं।

डा० अग्रवाल ने इस ग्रन्थ को तैयार करने में श्रम तो किया ही है, किन्तु ग्रन्थ की सामग्री एकत्र करने में यदि कुछ और श्रम के साथ अन्वेषण कर लिया जाता तो और भी बहुत-सी नवीन सामग्री प्राप्त हो सकती थी, जैसे, अकबरी दरबार के स्थायी-वृत्ति पाने वाले कवियों में चतुर्भुज ब्राह्मण का परिचय तो 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' के आधार पर दिया गया है, लेकिन उनकी कोई रचना प्राप्त नहीं हो सकी। स्थायी वृत्ति वाले कवियों के परिचय और रचनाओं के बारे में पूरी कोशिश के साथ खोज की जानी चाहिए थी।

मिश्रबंधु-विनोद[१] में सं० १५६० में रचित 'द्वादश-यश' ग्रंथ का चतुर्भुज द्वारा लिखित होने का उल्लेख है। इसमें 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' की तरह इस

१—मिश्रबन्धु-विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ २७१ (प्र० सं०)।

ग्रन्थ को 'अष्टछाप वाले चतुर्भुजदास का नहीं, चतुर्भुजदास ब्राह्मण का मानना ठीक है,' ऐसा उल्लेखमात्र कर दिया है। लेकिन 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' की तरह 'द्वादश-यश' ग्रन्थ पर ध्यान नहीं दिया है, शायद उस ग्रन्थ को देख कर निर्णय करने का कष्ट भी नहीं उठाया है। यदि ऐसा कर लिया जाता तो ज्ञात हो जाता कि यह ग्रन्थ किस चतुर्भुजदास का है। यह ग्रन्थ न अष्टछापी चतुर्भुजदास का है और न ब्राह्मण चतुर्भुजदास का। यह तो 'राधावल्लभीय चतुर्भुजदास' का है।[1] 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' ग्रन्थ में भी इस ग्रन्थ के विवेचन के पश्चात् यही अनुमान प्रकट किया गया है।[2] इसका रचनाकाल भी सं० १५६० नहीं है जैसा कि मिश्रबन्धुओं ने 'विनोद' में लिखा है। इसका रचनाकाल सं० १६८६ है जो ग्रन्थ में इस प्रकार दिया हुआ है :—

"संवत सोरह सौ चौरासी अधिक द्वै बरष सिरानी जू।
मुरलीधर वर भक्त चतुर्भुज दास प्रताप बखानी जू॥"

(धर्म-विचारयश, पृ० ६, अन्तिम अंश)

स्थायी वृत्ति पाने वाले दरबार के एक विशिष्ट कवि के संबंध में ऐसे अनुसंधान-पूर्ण ग्रंथ में पूर्णतः प्रकाश डालने का प्रयत्न करना चाहिए था।

नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका वर्ष ५८, अंक १-२ में प्राचीन हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज (सन् २००४-०६) का अन्तिम परिचय प्रकाशित हुआ था, उसमें पृष्ठ १०३ पर 'पिंगल' के रचयिता अकबर के आश्रित एक कवि चतुर्भुज का परिचय दिया गया है। किन्तु ग्रन्थ का केवल एक ही पृष्ठ मिलने के कारण कोई विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती। केवल इतना ही ज्ञात होता है कि कवि का आश्रयदाता सम्राट् अकबर था और उसी की आज्ञा से यह 'पिंगल' नाम की रचना की गई थी। अकबर बादशाह के 'जगद्गुरु' होने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

इसके पश्चात् 'राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज : भाग ४' नामक ग्रन्थ देखने को मिला। इस ग्रन्थ के पृष्ठ १६१ पर 'चतुर्भुजदासाधिकृत्य पिंगल अकबरी' नामक ग्रन्थ का परिचय दिया हुआ है। नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज वाले और उपयुक्त राजस्थान की खोज वाले दोनों ग्रन्थ एक ही हैं। दोनों के उद्धरण आपस में बिल्कुल मिल जाते हैं। राजस्थान की खोज वाला ग्रन्थ भी अपूर्ण ही है, किन्तु इसमें एक-दो बातें नवीन ज्ञात होती हैं। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकार के नाम के साथ 'दसबंधि' शब्द प्रयुक्त किया गया है। रिपोर्ट में इस ग्रन्थ के विवरण में इनके कुछ फुटकर पदों का हवाला तथा दो ग्रन्थों के और नाम दिए हुए हैं—१. 'शृंगार अनूप चतुर्भुज दसबंधि कृत्य' तथा २. 'साहिबाजखानगी, पतिसाहजांग दक्षिणपट चतुर्भुज कृत्य'। चतुर्भुज की ये समस्त रचनाएँ एक गुटकाकार प्रति में संकलित हैं और यह प्रति बीकानेर की 'अनूप संस्कृत लाइब्रेरी' में सुरक्षित है। चतुर्भुज के 'शृंगार अनूप' ग्रंथ में भी नाम के साथ 'दसबंधि' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'दृष्टिकोण', मई

१—देखिए मेरा लेख 'राधावल्लभीय चतुर्भुजदास कृत ग्रंथ' नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका वर्ष ५८ अंक २, पृ० १६२।

२—अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, भाग १ पृ० ३८०।

१९५६ के अंक में आर्य-भाषा-पुस्तकालय, नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी के हस्तलिखित ग्रन्थों की तालिका प्रकाशित हुई है। उसमें क्रमांक १३१ पर 'चतुर्भुज दशौंधी' कृत 'बादु गोरी सांवरी का' नामक ग्रन्थ का उल्लेख हुआ है। यह रचना भी इन्हीं चतुर्भुज की ज्ञात होती है। इसमें भी नाम के साथ 'दशौंधी' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इससे यह ज्ञात होता है कि 'दशौंधी' ग्रन्थकार की जाति थी, क्योंकि 'दशौंधी' भाटों की एक प्रसिद्ध जाति होती है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में इनको ब्राह्मण लिखा गया है। अतः ये जाति के 'ब्रह्म-भट्ट' होते हैं। श्री अगरचन्द नाहटा जी से ज्ञात हुआ है कि चतुर्भुज ने 'शृंगार अनूप' में कृष्ण का शृंगारिक वर्णन किया है। इससे यह पता चलता है कि ये प्रारम्भ से ही कृष्ण-भक्त थे। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है कि इनकी कृष्ण-भक्ति दिन पर दिन बढ़ती गई और अन्त में सम्राट् का आश्रय छोड़ कर ये भगवान् कृष्ण की भक्ति में लीन हो गए। चतुर्भुज के सम्बन्ध में सबसे अधिक और महत्त्वपूर्ण उल्लेख 'वार्त्ता' ही में मिलता है। अन्यत्र और कुछ भी नहीं मिलता। अतः यहाँ इनसे सम्बन्धित वार्त्ता ज्यों की त्यों उद्धृत की जाती है :—

"सो वे चतुर्भुजदास पंडित बहुत हते। और विद्या को अभ्यास विशेष हतो और अकबर बादशाह सों मिलाप विशेष हतो अकबर पादशाह जो कछु पूँछते सो जवाब तुरन्त देते। एक दिन पादशाह ने चतुर्भुजदास की सराहना करी तब बीरबल ने कही ए तो मेरी चाकरी करतो हतो॥ जब पादशाह ने पूँछी तब चतुर्भुजदास ने कही जो आप के मिलबे के लीए कोन कोन की चाकरी न करी चाहीए, ये सुन के पादशाह बहुत प्रसन्न भयो॥ और चतुर्भुज दास कु महिना के हजार रुपैया कर दिए और जो कोई पंडित आवतो तिन के संग चतुर्भुज दास वाद करते और सब पंडितन कु जीत लेते॥ फेर एक समय चतुर्भुजदास मथुरा जी में आए और विश्रान्त घाट पर न्हाए और उहाँ कथन लगे॥ जो 'विद्या भागवतावधि॥' ये सुन कर एक वैष्णव बोल्यो चातुरी विट्ठलेशावधि॥ तब चतुर्भुजदास नें कही जो मोकुं विट्ठलनाथ जी को मिलाय करायदे॥ तब वो वैष्णव चतुर्भुजदास कुं श्री गुसांई जी के पास ले गयो तब श्री गुसांई जी के दर्शन किए॥ सो साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम कोटि कंदर्प लावण्य ऐसे स्वरूप के दर्शन भये तब चतुर्भुजदास श्री गुसांई जी के सेवक भये और श्री गोवर्धन नाथ जी के दर्शन किए॥ और श्री गोवर्धन नाथ जी के कवित्त बनाए॥ और आखा जन्म पर्यन्त श्री जी द्वार छोड़ के कहुं नहीं गए। एक दिन पृथ्वीपति कुं खबर पहुंची जो चतुर्भुजदास गोपाल-पुर में हैं॥ तब मनुष्य बुलायबेकुं पठाए तब चतुर्भुजदास नें पृथ्वीपति कुं पत्र लिख्यो वा पत्र में लिख्यो॥

जाको मन नन्द नन्दन सुं लाग्यो नीको।
सुख संपत को कहाँ लग बरनो, सब जग लागत फीको॥

ये पत्र लेके वा मनुष्य नें पृथ्वीपति कुं दियो तब पृथ्वीपति नें विचार कियो जिस कुं जगत फीको लग्यो तो तिनकुं अपने कैसे मीठे लगेंगे। सो वे चतुर्भुजदास श्री गुसांई जी के ऐसे कृपापात्र भए॥ वार्ता संपूर्ण वैष्णव॥ १५६॥"

राजस्थान की खोजरिपोर्ट में ग्रन्थ के विवरण के अन्त में एक पद दिया हुआ है

जिसमें चतुर्भुज के गुणों का वर्णन किया गया है। इस पद में चतुर्भुज के पिता का नाम 'हरिदास' जान पड़ता है, अतः यह पद महत्त्वपूर्ण है। पद इस प्रकार है:—

"एजु विद्या देत साउ वित चाहत, वित दे विद्या नृहि पढ़ावतु।
कल्पद्रुम कलि काल चतुर अति, कविता कारण कहत जिय भावतु।
जा देखे सुख संपति उपजति, दुरति दूरि नासत तहा जावतु।
अब हरि दास सुतन सुखदाता, चतुर्भुज गुणी जनराइ कहावतु॥

अतः इस समस्त विवेचन से ज्ञात होता है कि चतुर्भुजदास अकबरी दरबार के स्थायी वृत्ति पाने वाले मान्य कवि थे। ये विद्वान्, पंडित और विद्यानुरागी थे। जाति के ब्रह्मभट्ट थे। इनके पिता का नाम हरिदास था। बीरबल की सभा में रहने पर अपने गुणों के कारण इनका प्रवेश अकबरी दरबार में भी हो गया था। दरबार में आने-जाने वाले पंडितों के साथ इनका वाद-विवाद होता था और अपनी विद्वत्ता से ये उनको चकृत्या पराजित भी कर देते थे। अकबर के आदेश से ही इन्होंने 'पिंगल अकबरी' की रचना की थी, जो छन्दःशास्त्र का संभवतः हिन्दी भाषा में सबसे पहला ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इन्होंने और भी कई ग्रंथों की रचना की थी, जिनमें से दो-तीन के ही नाम अभी तक ज्ञात हुए हैं। ये प्रारम्भ में ही कृष्ण-भक्त थे। बाद में वल्लभ-सम्प्रदाय में श्री गुसाईं विट्ठलनाथ जी के शिष्य हो गए और जीवनपर्यन्त श्री गोवर्धननाथजी की सेवा में ही रहे। कृष्ण-भक्ति के भी बहुत से पदों की इन्होंने रचना की है, जिनसे इनकी उच्च भक्ति-भावना का पता चलता है। अकबर द्वारा पुनः बुलाए जाने पर इन्होंने निम्नलिखित पंक्तियाँ लिख भेजी थीं:—

"जाको मन नन्द नन्दन सुं लाग्यो नीको।
सुख संपत को कहाँ लग बरनो सब जग लागत फीको।"

इनके विषय में अभी पर्याप्त अनुसन्धान की आवश्यकता है। आशा है विद्वान् इस ओर ध्यान देंगे।

---

*

(५) सतियों के दो प्राचीन रास

श्री भंवरलाल नाहटा, बीकानेर

तेरहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य बहुत कम मिलता है, क्योंकि इस समय मुसलमानों के शासन के कारण बड़ी उथल-पुथल मच रही थी। लोगों का जान माल संकट में था, अतः स्वाभाविक रूप से नव-साहित्य-निर्माण की गति मन्द हो गई। प्राचीन और इस समय का साहित्य अशांत वातावरण में बहुत कुछ नष्ट हो गया। एक ओर तो आततायी मुसलमानों ने भारत के अनेक मन्दिर और मूर्तियों को तोड़-फोड़ डाला और ग्रन्थ-भण्डारों को भी जला दिया और नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, दूसरी ओर लोगों को अपने जान-माल की पड़ी थी। अतः वे ग्रन्थों की रक्षा करने में असमर्थ रहे। कुछ लोगों ने उन्हें स्थानान्तरित किया या गुप्त स्थानों में रखा और वह वहीं रह गया या छिन्न-भिन्न हो गया। इस समय जैन मुनियों और श्रावकों ने साहित्य-निर्माण और संरक्षण में बहुत सावधानी रखते हुए प्रगति की, इसलिये इस काल की जैनों द्वारा लिखित रचनाएँ जैन-भण्डारों में सुरक्षित मिलती हैं। श्वेताम्बर जैन समाज उस समय काफी समृद्ध और प्रभावशाली था और उसका प्रचार राजस्थान और गुजरात में अधिक था, इसलिए इस काल की उन दोनों प्रान्तों की भाषा जिसे पुरानी राजस्थानी या गुजराती दोनों कह सकते हैं सौराष्ट्र और मालवा में भी प्रचलित थी। जैन कवियों और विद्वानों की रचनाएँ प्रचुर परिमाण में पाई जाती हैं। आज से २०-३० वर्ष पूर्व उनमें से कुछ रचनाओं के संग्रह प्रकाशित हुए थे। बीच में उनकी ओर ध्यान कम दिया गया। अब पुनः उनके प्रकाशन का प्रयत्न गुजरात और राजस्थान में चालू हुआ है। इस काल की राजस्थानी रचनाओं पर अपभ्रंश का प्रभाव भी रहा है जो हिन्दी आदि उत्तर भारत की समस्त प्रान्तीय भाषाओं की जननी है।

अभी तक जो रास, काव्य, चरचरी आदि प्रकाशित हुए हैं वे ऐतिहासिक और पौराणिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाले ही अधिक हैं। कुछ जैन धर्म से सम्बन्धित हैं। पर सतियों के सम्बन्ध में भी काफी साहित्य-निर्माण हुआ है, उनकी परम्परा तो प्राकृत और अपभ्रंश काल से चली आ रही है, पर १३ वीं से १५ वीं शताब्दी के कई रास चौपाई में रचे गए जिनमें बहुत से अप्रकाशित हैं। जैन साहित्य में उनकी परम्परा उसके बाद निरन्तर चल रही है। यहाँ उल्लिखित काल की दो रचनाएँ प्रकाशित की जा रही हैं, जिनमें से पहली "सुभद्रा-सती चतुष्पदिका" ४२ चौपाई छन्द में है। दूसरी रचना "सती मैणरेहा रास" है जिसका प्रारम्भिक अंश प्रति का मध्यवर्ती पत्र अप्राप्त होने से त्रुटित रह गया है। ये दोनों रचनाएँ तेरहवीं के उत्तरार्द्ध या चौदहवीं के पूर्वार्द्ध के बीच की लगती हैं। संवत् १४२५ के लगभग लिखी हुई जिनप्रभसूरि की परम्परा-संग्रह-पुस्तिका में से ये प्राप्त हुई हैं, जिनमें रस-

विलास, आबू रास आदि अन्य बहुत सी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ मिली हैं। 'रस-विलास' तो 'हिन्दी-अनुशीलन' के गत अंक में ही प्रकाशित किया गया है।

सुभद्रा सती चम्पा नगरी के एक जैन श्रावक की पुत्री थी। उसकी सास ने पार्श्वनाथ को मानना छोड़कर अपने यहाँ पूजे जाने वाले नारायण की उपासना करने के लिए कहा, पर वह जैनधर्म में दृढ रही। फलतः सास और बहू की अनबन सी रहने लगी। एक बार एक तपस्वी जैन मुनि उसके घर पधारे। उस मुनि की आँख में तृण चुभा हुआ था, इसलिए उसमें से पानी झर रहा था। सुभद्रा ने भक्ति-भाव से मुनि की आँख में गड़े हुए तृण को निकाल दिया। यह देख कर सास को मौका मिल गया और उसने उस पर मिथ्या दोषारोपण कर दिया। सुभद्रा ने उस कलंक को दूर करने के लिए तीन उपवास किए और रक्षानवकार मंत्र का जाप किया। इससे अम्बिकादेवी प्रत्यक्ष हुई जिसके सूचनानुसार नगर के प्रतौली द्वार जो बन्द हो गए थे उन्हें उद्घाटित कर और कच्चे सूत के तन्तुओं से चलनी द्वारा कुएँ से जल निकाल कर अपने सतीत्व का प्रभाव प्रकट किया। राजा ने उसका सम्मान किया और सास-ससुर ने भी हर्षित होकर अपने घर में उसका स्वागत किया। सोलह सतियों में इसका नित्यस्मरण जैन समाज में किया जाता है। सोलहसती आदि पुस्तकों में इसका चरित्र प्रकाशित है।

मैणरेहा जुगबाहु राजा की रानी थी। जुगबाहु का भाई मणिरथ उस पर आसक्त हो गया, पर सती ने उसकी मांग ठुकरा दी। तब वसन्त-क्रीड़ा के बहाने जुगबाहु को मणिरथ ने बाहर भेज दिया और रात्रि को वहीं उसे मार डाला। सती ने अपने सतीत्व की रक्षा के लिए वहाँ से प्रयाण किया। पति को नवकार मंत्र सुनाया जिससे वह पंचम स्वर्ग पहुंचा। चन्दकुमार को राज्य दिया गया। मैणरेहा को कोई विद्याधर नंदीश्वर द्वीप ले गया। वहाँ मणिचूल मुनि ने कहा कि तुम्हारा पुत्र मिथिला का राजा होगा। विद्याधर ने सती से अपने अपराध के लिए क्षमायाचना की। मैणरेहा ने दीक्षा ले ली और केवली ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त हुई। कवि ने शील का महात्म्य बतलाने के लिए इस रास की रचना की। जैन समाज में इस सती की कथा भी काफी प्रसिद्ध है। पीछे के कई कवियों ने मैणरेहारास बनाए हैं। बुद्धचरित आदि संस्कृत ग्रन्थों में भी इसकी कथा विस्तार से मिलती है। नीचे दोनों सतियों के प्राचीनरास प्रकाशित कर रहे हैं। लेख-विस्तार-भय से रचनाओं का सार बहुत संक्षेप में दिया गया है।

सुभद्रासती चतुष्पदिका

जं फलु होइ गया *गिरनारे*, जं फलु दीन्हइ सोना भारे।
जं फलु लखि नवकारिहि गुणिहिं, तं फलु *सुभदा* चरितिहि सुणिहिं ॥ १ ॥
दियइ दाण छह दरिसण श्रवइ, सुभग महासइ लाखण कवइ।
पहिली सरसति जीभह लग्गी, बंधु तणा तुहु दरवउं मग्गी ॥ २ ॥
तासु पसाइ कवितु हुइ घणउ, पभणइ चरितु *सुभद्दा* तणउ।
चंपा नयरिय कहउं विचारो, *सुभद* महासइ निवसइ नारो ॥ ३ ॥
धरम काजि जसु हरखितु चीतो, भवियहु निसुणहु कउतिगु बीतो।
हाथ पाय पक्खालइ अंगो, तहिणा धरमह नाहइं भंगो ॥ ४ ॥

नेमि सरीसी देहुरि जाइ, नीका कुसुमह पाछी धरइ ।
जिणु आराहइ चोग्वइ मंति, एक वार सो भरवइ अंनु ॥ ५ ॥
अंपिल नवी करइ उपवासु, तपु तपेइ सा बारह मास ।
श्रावक की छइ उत्तम जाति, जइसी निम्मल पूनिम राति ॥ ६ ॥
महेसरी घर पारिणिय माए, पीहरवाटेहं धरमु करेए ।
सासुय पभणइ संभलि वहुए, अवर धरमु तुह छंडहि महुए ॥ ७ ॥
अम्ह घरि देउ नरायण अत्थे, वहुडिय जाह म पारसनाथे ।
सुभदा पभणइ वेकड जोडि, सुर आवहि तेतीसउ कोडि ॥ ८ ॥
संभलि सासू अम्वउं एहो, जिणवर ममउं न अच्छइ देओ ।
तउ कोविहि सासू परजलइ, जागउ घिउ वइसंदरि ढलइ ॥ ९ ॥
मणहि माहि तिनि धरियउ रोसु, एहइ कोवि चडाविसु दोसो ।
सुणिवरु एकु संसारह भग्गउ, अति घणु तापु तपेवा लग्गउ ॥ १० ॥
कठइ देह तसु मनु नवि ढलए, वीस विम्वा तसु सांजमु पलए ।
पंच इन्द्रिय तिणि मलियउ मानु, काया कष्टु कियउ अप्पाणु ॥ ११ ॥
रानिहि जाइवि कवमगु देइ, मासह पाग्वह सो पारेइ ॥ १२ ॥
वार वाइ तह कोरगु घणउ, मुणिवर अंगिहि पडियउ तिणउं ।
सो नवि हत्थि थिहि देठउ करए, स्वरउ दुहेलेउ अंखितह झुरए ॥ १३ ॥
पूरिउ अवधि चलिउ तहि ठाए, कवणह नयरिय विरहए जाए ।
अवरि न गईयउ चंपा पइठउ, अंखि झरंती सुभदा दीठउ ॥ १४ ॥
सुभद्रा मणह माह चिंतंती, आविउ मुणिवरु तह विहरंती ।
वडिय भगति कीयउ विहरणओ, सुभदा अंखिहि झडपिउ तिणउं ॥ १५ ॥
सासू हुती जीमत बैठी, त्रिणउ लियंती सुभद्रा दीठी ।
विकलपु वसियउ मन्नह माहि, वहुडी रहिसि म पीहरि जाहे ॥ १६ ॥
सुभद्रा ए भणइ सांभलि माए, नीठुक वयणु कि सहणउ जाए ।
कवणि काजि तुम्ह कीन्हउ रोसो, अम्हह काइ चढाविअ दोसो ॥ १७ ॥
वंदइ देव गुणइ नवकारा, नीर गलंती त्रिनि वे वारा ।
महसइ महसइ कहइ न माए, पाछिय लेविणु देहुरि जाए ॥ १८ ॥
अम्हि दीठउ तुम्हारउ चरिउ, धमियउ सोनउ फुकह हरिउ ।
तउ महसइ निंदइ अप्पाणु, ता किव पुहविहिं उगइ भागु ॥ १९ ॥
सुभदा भणइं जइ वरतइ धंमु, पाणिउ अंनु अनेरउ जंमु ।
सुभद्रा भणइ न पीहरि जाउं, महुरि चडावउ एवडु नाउं ॥ २० ॥
सासू ससुरा सुजन मिलेहू, भणइ महासइ मइं सुक्क वेहो ।
खूणा भीतरि छइ लंघंती, सासू नणद उलाले जंती ॥ २१ ॥
सुभद्रा हूया तिन्नि उपवासू, गुणि नवकारह लक्ख सहंस ।
सासणदेवति आइय जक्ख, अंबिक एवि हुइय परतक्ख ॥ २२ ॥
दुक्खह रयणि छइ अधराति, सासण दिवि अनु सुभदा वात ।
चउविह धम्मह हउं सक्खाइ, महसइ चित म करिजहु काइं ॥ २३ ॥

सासणदिवि भणिउ मनु तोलि, चंपा ढाकिमु चारिउ पउले ।
नरह नरिंदह नाही पाडे, मइ दीन्ही को मकइ उघाड़े ॥ २४ ॥
सासण देवति कहिउ विचारे, सतु कताविज कहइ कुमारे ।
कूवहजल चालणि काढेजे, तिन्नि पवलि जाइ छांटेजे ॥ २५ ॥
सासण देवति चडिय विमाणि, जाइ देवि आपणइ मुठाणे ।
सुभद भणइं दीठु जंजालो, एकवार जइ उतरइ आलो ॥ २६ ॥
प्रह विहसी जउ हुवउ रोलो, नयरी तणियन उघड़इ पउलो ।
ते नवि प्राणिहि पाछी सरहि, आरडु भेरडु गावि करहि ॥ २७ ॥
गयउ वहावउ वेगिहि राय, बाला रोवहि चंपा माहे ।
पउलि न उघडहि हुयउ विहाणु, जो चिहि तोलि विजोयउ प्राणु ॥ २८ ॥
तक्खणि नरवइ चडिउ तुपारो, महता गुपतिय बात विचारे ।
धूप कड़च्छुय ले करि धरहु, देवति दाणव पाछा करहु ॥ २९ ॥
दोवेदिय ते वेदि तडावहु, नयरी माहइ होमु करावउ ।
जव तिल घीयइ सरिसा होमु, जाव न लग्गहि गयणिहि धूम ॥ ३० ॥
ते खणि महंतउ लागउ भणउ, नाही पाडु को होमहं तणउं ।
बुद्धि अनेरी कीजइ काए, पडहु दियावहु नगरह माहे ॥ ३१ ॥
तिणि चाचरि बाजउ डांगुरउ, चंपा पउलि कुपाछी करउ ।
करउ कोइ अम्हारउ काजो, नरवइ भणइ दियउं अधराजो ॥ ३२ ॥
सुभदा जइ छीतउ डांगुरउ, नरवइ राजु घणेरउ करउ ।
अवर देसिडां ले धंधोले, सील प्रभावि उघाडिसु पवले ॥ ३३ ॥
धरि थक्की सासू कर करइ, विजउ पवाडउ सुभदा करइ ।
अउगी आछु म बोलिसि माए, तुह वयणिहि मह हियइहु दाहे ॥ ३४ ॥
सात वरीसी तेडिय बाला, सतु कतावण लागी ताला ।
काचइ तारुणि बाधी चालणि, सुभदा कूवा उपर वुणी ॥ ३५ ॥
चालणियह जउ पाणीउंथरण, तिन्नि पउलि उघाड़ी करण ।
लक्खणु कवितु न लंगी घड़ी, सुभदा सतिहि पउली उघड़ी ॥ ३६ ॥
तक्खणि राउ रलियातु भयउ, तिणि वेगह आणिउ हाथियउ ।
गयवर ऊपरि ठवियउ पाओ, आपुणु पालउ चलियओ राओ ॥ ३७ ॥
सुभद्रा सती बोलइ तहि ठाए, चउथी पारडि उघाड़उ काए ।
राउ वुलइ सुभदा संभलइ, अवर महासति तुहुवि न तुलइ ॥ ३८ ॥
मेघाडंबर धरियहि छत्त, आगइ नाचत जाहिनि पत्त ।
करहि कल्याणु भाट नागरी, सूध तालु तसु सुभद्रा पड़ी ॥ ३९ ॥
मिलिय सुवासिणि मंगलु गायहि, धवल दियंता वदुया जाहि ।
हुय उछउ नगरी मज्झारे, सुभदा पहुती मीह दुवारे ॥ ४० ॥
सुभदा मंदिर पहुती जाव, सासू ससुरउ हरखिउ नाव ।
जिणवर धम्मु करहु एक चित्ते, जिण सासणु हुइ पर जयवंतो ॥ ४१ ॥

पढहि गुणहि जे जिणहरि देह, ते निच्छइ संसारु तरेहि ।
सुभद्रा सती चरितु संभलहि, सिद्धि सुक्खु लीलइ ते लहहि ॥ ४२ ॥

सुभद्रा सती चतुष्पदिका समाप्ताः ॥ छ ॥

मयणरेहा

... ... ता रागी ।

रइ रूवह लीला दवदंती, रायमए जिम नेहु करंती ॥ ६ ॥
समकितु अविचलु हियइ धरंती, जिण गणहर पय पउम नमंती ।
चन्द्रजसे कुमर मोहंती, गमइ दीह सा बहु गुणवंती ॥ ७ ॥
अह जालंतरि ईसि हसंती, चरि एकावलि हारु वहंती ।
करयलि लीला कमलु करंती, कल कंठी जिम किंपि भणंती ॥ ८ ॥
इणि परि पेम्वई माणरहु राओ, हा धिरु पेम्वइ कम्म विवाओ ।
पेम्विउ मयणा मुह रमणीसरु, तो सायरु जिमि लहसिउ नरेसरु ॥ ९ ॥
जं नवि वेय पुराण सुणीजइ, जं चिय पामरि लोइ हसीजइ ।
तंपि नरेसर मंडिउ फजू, पेम्वउ मयण महाभड़ रजू ॥ १० ॥
कुलि कमलोहिम बुद्धि करंतउ, नियगुण वल्ली अग्गि दहंतउ ।
हाहारव तिहुयणि पावंतउ, माणरहु मयणा मंदिरि पत्तउ ॥ ११ ॥

॥ ठवणि ॥

तामह ए माणरहो राउ, भयणि महाभड़ गंजिउ ए ।
वुल्लइ ए वयणु विभागु, जेण जेणंगणि लाजिय ए ।
सीलह ए सोवन रेख, वुल्लए मयणा निम्मलीय ।
नरवर ए कवणु विचारु, निय कुल खंपणि मनि रलीय ॥ १ ॥
सुरगिरि ए मिल्हइ ठाउं, जइवि सुरालउ महिरुल ए ।
तिहुयणु एक मेलेइ, तोइ न मयणा मनु चल ए ॥ २ ॥

॥ ठवणि ॥

तं निसुणेविणु भूमिनाहु नियमणि चिंतेइ ।
जउ हणियइ (जुगवा) हु तउ वसंत राउ मयणा भइ लेइ ॥ १ ॥
मउरी अंब कयंब जंब जंबीरी सोहइ ।
कयलीय लवलीय ललिय वेलु मालइ मणु मोहइ ।
चंदणु चंपइ चारु चित्त चोरइ दीसंता ।
करु वक करुणी कुडय कुंद किंसुय विहसंता ॥ २ ॥

कोइल पंचमु सरु करए भमरउ झणकारइ ।
पाडल परि मणु महमहए मलयानिलु चल्लइ ॥
मयण सरासणु करइ कज्जु विरहिणि मणु कंपइ ।
अवतरियइ सिरि वसंत राइ *मणिरहु* इव जंपइ ॥ ३ ॥

तुम्हि गमउ जुगबाहु कुमरु, महु मामह *मिल्लणि* ।
चलिउ कुमरु अनु मयणरेह, जिम सुरवहु नंदणि ॥

विरयउ केली हरउ तत्थ, कलियउ बहु भंगिहिं ।
माणहिं पंच पयार सुक्ख, ते नियमणि रंगिहिं ॥ ४ ॥

पसरीय लोय पमोय बहु, पर हूमर मुंमइ ।
नव नव परिणामंति तरुणि, घण महलु घुम्मइ ॥

रासइ चच्चरि गीय गाण, घण दाणि निरंतरि ।
दिणु खेलिउ सिरि वसंतुराउ, जणु पहुतउ मंदिरि ॥ ५ ॥

दिणवइ नरवइ पेखि चित्तु, आथाचलि पत्तउ ।
वणि वसियउ जुगबाहु कुमरु, *मणिरहु* मयमत्तउ ॥

जम जीहा सम भग्गु लेउ, बहु कोवि जलंतउ
माया वंचिउ मयल लोउ, के लीहरि पहुतउ ॥ ६ ॥

कुमर न सुंदरु पइं कियउ, वणवासि वसंतइं ।
महि मंडलि बइरी गणिहि, निभि दिवसु भमंतइ ॥

इव जंपंता नरवराह, सो पणमइ पाय ।
स्वग्गु सहोयरहं, सिरि मिल्लइ घाय ॥ ७ ॥

॥ ठवणि ॥

तक्खणि धायउ लोउ, हहारवु जणि उच्छलिउ ।
सामी पेखिउ घाउ, *मयणा* नयनंसुय ढलिय ।

हुयउ मुगाजइ अंतु, तोरण भंजीय वयर हरे ।
इय जाणेविनणु लोउ, नरवइ मुकउ धवल हरे ॥ ८ ॥

कुसुमहो भोगहं रोमि, लिनउ भोगहिं सो गहिउ ।
तक्खणि नरइ पडेइ, पाव महाभरि जो भरिउ ।

जिणि करि मयण हरेमि, नरवइ हुंनि मनि रलिय ।
तिणिकरि डसियउ सापि, दैवहं दुरमति दोहिलीय ॥ ९ ॥

दइयह मरणु मुणेइ, *मयणा* समरसु उल्लवीय ।
अट्ठय करम हणेइ, नित्थेसरि जो निम्मविय ॥

ढंढण गय सुकुमालि, खंदग सीसिं जो धरिउं ।
कन्नजली कुमारि, कंठ प्रमाणि सो रसिउं ॥ १० ॥

तक्खणि सुरवरु लेइ, मयण मिहिल्हा मेल्हेई ।
मयणा चलण नमेवि देवु, निय ठामि गमेई ॥ ५ ॥

जिणहरि पूजिउ *मल्लिनाहु*, पवतिणि पणमेई ।
मिल्हिउ बालह तणउ नेहु, तउ दिक्खा लेई ॥

कुमरह सयलह जिणह वयणि, पड़िबोहु कर'ती ।
केवल नाणु धरेवि *मयण*, सा सिद्धि पहूती ॥ ५ ॥

सयलह रयणह वयर रयणु, जिव मूलु न जाए ।
तिम जिम सासणि सीलु, *रयणु* कवि कहण न माए ।

वीर जिणेसर जाम तित्थु, अनुसूरु पयासइ ।
ता चिरुनंदउ एहु चरिउ, अनु *मयण* महासइ ॥ ७ ॥

छ ॥ मयण रेहा रास समाप्तः ॥ छ ॥

प्रबन्ध-परिचय

(१) काव्य में रस

[१९५६ में आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच्० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत प्रबन्ध]

प्रो० आनन्दप्रकाश दीक्षित, गोरखपुर

प्रस्तुत प्रबन्ध प्राचीन भारतीय काव्य-समीक्षा-सिद्धान्त 'रस' का पुनःपरीक्षण और पुनर्गठन करने के उद्देश्य से संस्कृत, हिन्दी, मराठी, बंगाली, गुजराती तथा अंग्रेजी के तत्सम्बन्धी ग्रन्थों के अध्ययन के अनन्तर लिखा गया है। इस ग्रन्थ के मुख्यतः तीन विभाग हैं : १. रस-सिद्धान्त के आरम्भ तथा उसके विकास का परिचय, २. रस सिद्धान्त का स्वरूप समझते हुए उसके अन्तर्गत उठने वाले प्रश्नों का भारतीय दृष्टि के अनुकूल समाधान तथा ३. अन्य प्राचीन तथा नवीन काव्य-समीक्षा के सिद्धान्तों की परीक्षा करके रस-सिद्धान्त की उचित सीमा-रेखाओं में प्रतिष्ठा। प्रबन्ध में कुल ग्यारह अध्याय हैं। इनमें प्रथम तीन अध्याय प्रथम खण्ड के अन्तर्गत आते हैं तथा चतुर्थ अध्याय से नवम अध्याय तक रस-रसाभास का स्वरूप निश्चित करने के उपरान्त अन्तिम दो अध्याय रस-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा में लगाए गए हैं।

लेखक की धारणा है कि वेदकाल में ही रस तथा काव्य सम्बन्धी विचारों का सूत्रपात हो गया था और तभी से कवि, काव्य तथा भावक के सम्बन्ध में भारतीयों की स्पष्ट अन्तर्दृष्टि का परिचय मिल सकता है, जो निरन्तर संस्कृत ग्रन्थों में विकसित होती रही है। प्रथम अध्याय में वेद तथा अन्यान्य संस्कृत ग्रन्थों के उद्धरणों द्वारा इसी विचार की पुष्टि की गई है। दूसरा तथा तीसरा अध्याय क्रमशः संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य में रस-शास्त्र का इतिहास प्रस्तुत करता है। संस्कृत-इतिहास के अन्तर्गत लेखक ने इस विषय पर विचार किया है कि दृश्य-काव्य से लेकर श्रव्य-काव्य में इस सिद्धान्त का विचार किस प्रकार और किन परिस्थितियों में घर करता चला गया। हिन्दी रस-शास्त्र के इतिहास के अन्तर्गत एक ओर तो कुछ ऐसे हिन्दी-ग्रन्थों का परिचय दिया गया है जिनका अन्यत्र नामोल्लेख भी नहीं मिलता, साथ ही नवीनतम पुस्तकों तथा लेखों आदि का भी परिचय देकर अब तक का पूर्ण इतिहास दिया गया है।

चतुर्थ अध्याय में रस-सामग्री का विवेचन करते हुए अध्याय को दो खण्डों में बाँट दिया गया है। प्रथम खण्ड में भारतीय दृष्टिकोण से विभावादि की मीमांसा है और दूसरे खण्ड में मनोविज्ञान के प्रकाश में भावों का विवेचन किया गया है। प्रथम खण्ड के अन्तर्गत कई महत्त्वपूर्ण विषयों का समावेश किया गया है; यथा, नवीन आलम्बनों की स्वीकृति, अनुभावों की कार्य-कारणरूपता, हाव तथा अनुभाव में पार्थक्य, सात्विकों की भाव-सत्ता आदि।

सात्विक भावों तथा संचारी भावों में जिन विद्वानों ने नवीन भावों का नियोजन किया है, उनके तर्कों की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता पर भी विचार किया गया है। दूसरे खण्ड में लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में भारतीय रस शास्त्रीय भाव-विवेचन को परखना निराधार नहीं है। दोनों दो भिन्न दृष्टियाँ हैं और रस-शास्त्र में कथित भाव प्रेक्षक या सहृदय पर अपनी प्रभावशालिता तथा प्रदर्शन में उपयोगिता के विचार से स्वीकृत हुए हैं, जब कि मनोविज्ञान इन बातों पर ध्यान न रख कर केवल मानव-मन के पर्दे खोलने का प्रयत्न करता है। लेखक ने मनोवैज्ञानियों—मराठी लेखक डा० वाटवे तथा हिन्दी लेखक डा० राकेश—के एतत्सम्बन्धी मतों की परीक्षा द्वारा यह निश्चित किया है कि विस्मय या आश्चर्य को 'डेगाइल्ड' अथवा बौद्धिक नहीं कहना चाहिए। अमर्ष घोर रस का स्थायी नहीं हो सकता। ग्लानि से मन ग्लानि का अर्थ ग्रहण करना चाहिए। श्रम शारीर भाव है और विबोध शारीर तथा मानस दोनों हैं। आलस्य मानस है। व्याधि शारीर है और मद आनन्द-मिश्रित मानस अवस्था। निद्रा संचारी होने योग्य नहीं है और अवहित्थ बौद्धिक है। स्मृति, मति और वितर्क बौद्धिक होने पर भी व्यंजक तथा प्रभावपूर्ण होने के कारण भाव माने गए हैं। धृति को संकटग्रस्त स्थिति में भी अविचलित रहना मान कर भाव कहना ठीक है। चपलता दूसरे भावों पर आधारित रहते हुए भी स्वीकार्य है और इसकी मुख्य व्यंजना होती है। छल एक विचारित-क्रिया मात्र है अतएव उसे संचारियों में नहीं रखना चाहिए।

पाँचवाँ अध्याय रस-निष्पत्ति के भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा आचार्य अभिनवगुप्त के सिद्धान्तों की विशद आलोचना करने के साथ-साथ पण्डितराज तथा उनके द्वारा कथित अन्यान्य निष्पत्ति-सिद्धान्तों की भी आलोचना करता है। लेखक ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि अभिनवगुप्त को अपने मत की स्थापना की समस्त सामग्री स्वयं भरत की उक्तियों से मिली है। इस अध्याय में इन सभी आचार्यों के सिद्धान्तों के मूलभूत दार्शनिक मतवादों का भी प्रसंगोपयुक्त परिचय देते हुए यह सिद्ध किया गया है कि सभी मत किसी न किसी दर्शन की भित्ति पर आधारित होने से विभिन्न दृष्टिकोण उपस्थित कर सके हैं। सभी की अपनी सीमाएँ हैं, तथापि प्रत्येक पूर्ववर्ती आचार्य ने परवर्ती आचार्य को दृष्टिदान दिया है। इस प्रकार छः खण्डों में विभागपूर्वक खण्डन-मण्डन प्रस्तुत करते हुए इस अध्याय के सातवें खण्ड में रस-निष्पत्ति के लिए विभावादि की समग्रता की उपयोगिता और आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है। इन आचार्यों के कथनों पर आज तक किए गए प्रायः सभी मतों पर इस अध्याय में विचार किया गया है।

निष्पत्ति से सम्बन्ध रखनेवाले साधारणीकरण-सिद्धान्त का विचार पृथक् रूप से छठे अध्याय में किया गया है, जिसमें संस्कृत के समस्त आचार्यों के मतों का विवेचन और सार प्रस्तुत करने के साथ ही आधुनिक हिन्दी, मराठी तथा अंग्रेजी लेखकों के विचारों के प्रकाश में यह निश्चित किया गया है कि संस्कृत में काव्यप्रदीपकार ने तथा हिन्दी में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस प्रश्न को उचित रूप में समझा है और पाश्चात्य विचारों की चकाचौंध में फँसकर अन्य लेखक वैसा विचार नहीं कर सके हैं। लेखक ने डा० नगेन्द्र, डा० राकेश, रामदहिन मिश्र, गुलाबराय, न० चि० केलकर, द० के० केलकर, जोग, पटवर्धन, काका कालेलकर, फड़के, कुलकर्णी, माधवराव आगाशे, डा० वाटवे आदि मराठी लेखकों तथा

विष्णुप्रसाद त्रिवेदी आदि गुजराती लेखकों के साधारणीकरण सिद्धान्त पर किए गए आरोपों का खण्डन किया है। उसने साधारणीकरण के साथ-साथ शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित तादात्म्य-सिद्धान्त का अंग्रेजी लेखकों की उक्तियों तथा विवेचन के आधार पर समर्थन किया है। साथ ही शुक्ल जी द्वारा कथित मध्यम कोटिक रसानुभूति को उन्हीं के शब्दों के आधार पर रसाभास सिद्ध किया है और इस सम्बन्ध में हिन्दी में मची हुई हलचल को निरर्थक सिद्ध किया है।

सातवें अध्याय में रसास्वाद शीर्षक के अन्तर्गत क्रमशः रसास्वाद का अधिकारी, रसास्वाद का स्वरूप और ब्रह्मानन्द-सहोदरता की न्याय, दर्शन, सांख्य, योग, अद्वैत तथा शैव दर्शन की विशेषताओं के प्रकाश में परीक्षा की है। एक मात्र शैव सिद्धान्त ही उसे ब्रह्मानन्द-सहोदरता के प्रतिपादन के अनुकूल जान पड़ा है। योग के सम्बन्ध में कथित मधुमती भूमिका का विस्तार से विचार करते हुए लेखक ने रस को उससे ही नहीं विशोका से भी असम्बद्ध बताया है। शुक्ल जी के इस विचार से लेखक सहमत नहीं है कि रस का सम्बन्ध मनोमय कोश से होता है। रस की विलक्षणता की प्रामाणिकता में लेखक को अविश्वास नहीं है। तीसरा प्रश्न करुण रस की आनन्दानुभूति को लेकर किया गया है। संस्कृत ही क्या सभी भाषा-साहित्यों में यह एक विवादग्रस्त प्रश्न रहा है। अतएव लेखक ने अंग्रेजी, मराठी आदि भाषाओं के साहित्यकारों के मतों पर प्रकाश डालते हुए यह सिद्ध किया है कि उस स्थिति को कोई भी आचार्य नितान्त सुखमय नहीं मानता। अभिनवगुप्त की दृष्टि से विचार कर देखें तो हमें अनुभव तो प्रदर्शित भाव का होता है, उसी में लेखक की सफलता भी है, किन्तु वह अनुभव विघ्न-विनिर्मुक्त होने के कारण अबाध अतः सुखपूर्वक सह्य होने से औपचारिक रूप में सुखमय कहा जाता है। आस्वाद ही रस है और आस्वाद प्रदर्शित भाव का ही होता है। लेखक भारतीय अभेद-सिद्धान्त और रसवाद को समान मानता है। रसास्वाद में उपस्थित होनेवाले अभिनवगुप्त-कथित विघ्नों के विचार के साथ-साथ रसास्वाद में छन्द एवं लय के योग पर भी इस अध्याय में विचार किया गया है।

आठवें अध्याय में रसों का भेदोपभेद सहित विस्तृत वर्णन दिया गया है। हास्य रस के सम्बन्ध में अंग्रेजी में पाए जानेवाले सभी शब्दों पर विचार करते हुए उसके भेद निश्चत किए गए हैं। करुण तथा विप्रलम्भ की पृथक्ता निश्चित की गई है तथा भक्ति और वात्सल्य रसों को नौ रसों के अतिरिक्त प्रतिष्ठित किया गया है। लेखक ने वात्सल्य रस को पहली बार संयोग तथा वियोग भेदों में विभाजित करके वियोग वात्सल्य के भी गच्छत्प्रवास, प्रवासस्थित, प्रवासागत तथा करुण-वात्सल्य नामक भेदों की अवतारणा की है और सोदाहरण अपने मत की पुष्टि की है। इसके अतिरिक्त लौल्य, मृग्य, अक्ष, व्यसन, दुःख, सुख, उदात्त, उद्धत, पारवश्य, कार्पण्य, व्रीडनक, ब्राह्म, प्रशान्त, माया, प्रक्षोभ, क्रान्ति तथा देशभक्ति, पितृभक्ति आदि संस्कृत, मराठी, तथा हिन्दी में तथा-कथित रसों का सतर्क खण्डन किया गया है और मूलतः रस को एक मानकर भी औपचारिकता के लिए ग्यारह रसों का सत्कार किया गया है। लेखक को डा० वाटवे एवं काका कालेलकर द्वारा रौद्र, वीभत्स रसों की उपेक्षा स्वीकार्य नहीं है। वह डा० वाटवे द्वारा प्रस्तावित वीर में रौद्र की अन्तर्भूति को अस्वीकार करता है। इसी अध्याय में रसों की परस्पराश्रयिता, विरोध तथा रसराजत्व पर भी विचार किया गया है और शृंगार को रसराज माना गया है।

नवम अध्याय रसाभास, भावाभासादि का स्वरूप निश्चित करता है और उनके विभिन्न भेदों पर प्रकाश डालता है। लेखक का विचार है कि रसाभास का सिद्धान्त काव्य में नैतिकता का सिद्धान्त स्थिर करता है। विश्वनाथ कविराज तक के संस्कृत के प्रायः सभी मान्य आचार्यों के मतों पर विचार किया गया है और उनके द्वारा दिए गए उदाहरणों की भी परीक्षा की गई है। लेखक ने शास्त्रीय उद्धरणों के प्रकाश में प्राचीन आचार्यों द्वारा रसाभासादि को भी रस के ही अन्तर्गत मानकर उसे प्रायः रस ही मान लेने के विचार की समीक्षा करके उनके कथन का समर्थन किया है और रसाभास का अन्य रसों में परिवर्तन सिद्ध किया है। लेखक का विचार है कि रसाभास भी चरित्रोद्घाटन के हेतु काव्य में आवश्यक स्थान का अधिकारी है।

दशम अध्याय में प्राचीन अलंकार, ध्वनि, गुण, रीति, वक्रोक्ति आदि मतों का स्वरूपोद्घाटन करते हुए लेखक ने उन सबके साथ रस की अनिवार्य स्वीकृति की ओर ध्यान आकर्षित किया है। ध्वनि के अन्तर्गत रस की संलक्ष्य-असंलक्ष्यक्रमता तथा व्यंग्य-अव्यंग्य स्थिति का भी विचार किया गया है। अलंकारों का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए केलकर, जोशी तथा जोग द्वारा रस तथा अलंकार के सम्बन्ध तथा भेद पर किए गए विचार की समीक्षा की गई है और गुण के अन्तर्गत रस तथा गुण के पौर्वापर्य का विचार करते हुए डा० वाटवे तथा डा० नगेन्द्र के कथनों की आलोचना की गई है।

एकादश अध्याय में नवीन समीक्षा-शैलियों—प्रगतिवादी, मनोविश्लेषणवादी, प्रभाववादी, सौन्दर्यवादी, अभिव्यंजनावादी आदि—की परीक्षा करके उन्हें एकांगी घोषित किया गया है और प्रगतिवादी सामूहिक भाव तथा साधारणीकरण की एकता का विरोध किया गया है। अन्त में नई कविता के सिद्धान्तों और स्वरूप पर दृष्टिपात करते हुए उसके समर्थकों द्वारा उठाई गई आपत्तियों का रस-सिद्धान्तों के प्रकाश में खण्डन करते हुए इस सिद्धान्त को उदार और काव्य की अन्तरात्मा को समझने का प्रधान साधन माना गया है। लेखक का विचार है कि इस प्रकार का सार्वभौम तथा सार्वकालिक सिद्धान्त रस-सिद्धान्त के अतिरिक्त आज तक प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। भारतीयों का यह रस-सिद्धान्त काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों में अग्रणी और इन विशेषताओं से मण्डित है। उसमें नवीनता के लिए पर्याप्त अवकाश है और केवल नवीनता की खोज में न भटकनेवाले साधक यदि इस ओर ध्यान दें तो आज भी काव्य-समीक्षा का यह सर्वोत्तम मानदण्ड स्वीकार किया जा सकता है।

---

(२) तुलसीकृत रामायण के मूल स्रोत और उसकी रचना

[१९५५ में पेरिस विश्वविद्यालय द्वारा डाक्टर की उपाधि के लिए स्वीकृत कुमारी शार्लत बादवील के प्रबंध का परिचय]

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रयाग-विश्वविद्यालय

महाकवि तुलसीदास की जीवनी और उनके ग्रन्थों का अध्ययन हिन्दी साहित्य के अध्ययन का प्रमुख अंग रहा है। भारतीय संस्कृति और जीवन में उनका जो महत्व है उसी ने समय-समय पर विद्वानों को उनके साहित्य और धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों के अध्ययन की ओर प्रेरित किया है। इसीलिए गार्सां द तासी, ग्रियर्सन, ग्राउज, कार्पेटर, मैकफ़ी, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, माताप्रसाद गुप्त आदि विद्वानों की सुदीर्घ परम्परा में कुमारी शार्लत बोदवील एक नवीन शृंखला स्थापित करती हैं। आप फ्रेंच महिला हैं और 'Etude sur les sources et la composition du Ramayan de Tulsi Das' (तुलसीदास कृत रामायण के मूल स्रोतों और उसकी रचना का अध्ययन) आपका शोध-प्रबंध है जो पेरिस विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत हो चुका है। उसका प्रकाशन १९५५ में पेरिस में ही हुआ है।

ग्रन्थ के प्रारंभ में लेखिका ने तुलसीदास के महत्व, उनकी जीवनी और रचनाओं पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है। आपने तत्संबंधी लगभग सभी प्रकार की सामग्री की परीक्षा कर अपने निष्कर्ष निकाले हैं। 'रामचरितमानस' अध्ययन का विशेष विषय होने के कारण आपने उस पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। जहाँ तक उसके मूल स्रोतों से संबंध है लेखिका ने टामटरी, ग्रियर्सन, रामनरेश त्रिपाठी, शिवनन्दन सहाय, माताप्रसाद गुप्त आदि के विचारों को लेकर वाल्मीकीयरामायण, अध्यात्मरामायण, हनुमन्नाटक, भागवत, प्रसन्नराघव, भुशुण्डिरामायण, योगवाशिष्ठरामायण, अद्भुतरामायण आदि ग्रन्थों का विभिन्न रूपों में रामचरितमानस में स्थापित संबंधों और प्रभावों का विश्लेषण किया है। तुलसी के विचारों के संबंध में आप उन्हें 'तुलसी-मत' के अंतर्गत रखने के पक्ष में हैं।

संपूर्ण विषय चौदह अध्यायों में विभाजित है। पहले छः अध्यायों में बालकाण्ड के क्रमशः वन्दना, शिव-चर्चा, शिव-पार्वती-संवाद, अवतार के कारणों, राम-जन्म और बाल्यकाल, राम विवाह प्रसंगों पर, सातवें और आठवें अध्यायों में अयोध्याकाण्ड पर, नवें में किष्किंधाकाण्ड पर, दसवें में सुन्दरकाण्ड पर, ग्यारहवें में लंकाकाण्ड पर, बारहवें और तेरहवें में उत्तरकाण्ड पर विचार किया है। चौदहवें में उपसंहार है।

कुमारी शार्लत बोदवील के विवेचन का सार इस प्रकार है : सर्वप्रथम टेसिटरी ने मानस और वाल्मीकीय रामायण में संबंध स्थापित किया था। किन्तु उनके निष्कर्षों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वयं ग्रियर्सन ने उनकी आलोचना की थी और टेसिटरी द्वारा अ-वाल्मीकीय स्रोतों का उपयोग न करने की ओर संकेत किया था। किन्तु मानस और अध्यात्मरामायण में भेद संभवतः वाल्मीकीय रामायण के कारण ही है। रामचरितमानस में कुछ अंशों पर भी वाल्मीकिकृत रामायण का प्रभाव है। वास्तव में दोनों ग्रन्थों में तुलसीदास ने किसी-न-किसी रूप में प्रभाव ग्रहण किए अवश्य हैं। वैसे तुलसी और वाल्मीकि के चरित्र-चित्रण संबंधी दृष्टिकोणों में अंतर है। कथा-संगठन में भी तुलसी ने अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है। केवल अयोध्याकाण्ड में वाल्मीकि का प्रभाव विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। मानस के पाँचवें और छठें काण्डों में तुलसी ने अध्यात्म रामायण के दार्शनिक सिद्धान्तों की अपेक्षा अपनी मौलिकता प्रकट की है। वैसे बहुत-से उपदेश-पूर्ण अंशों पर अध्यात्म रामायण का प्रभाव है। पात्रों के कार्य समान होते हुए भी उनके कथनों में अन्तर है। तुलसी ने राम का दिव्य रूप ही ग्रहण नहीं किया वरन् उन्हें परब्रह्म के रूप में भी चित्रित किया है। रामनरेश त्रिपाठी द्वारा की गई भागवतपुराण और मानस की तुलना भी उपयोगी है। अवतार के कारणों, राम-जन्म और उनकी बाललीला आदि बालकाण्ड के प्रसंगों पर भागवत का प्रभाव है। अयोध्याकाण्ड पर भागवत का प्रभाव एक प्रकार से नहीं के बराबर है। तीसरे और चौथे काण्डों पर भी भागवत का न्यूनातिन्यून प्रभाव है। तत्पश्चात् सातवें काण्ड के उत्तरार्द्ध पर उसका विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। बाल-काण्ड के शिव-चरित और नारदमोह-प्रसंगों का स्रोत शिवपुराण में है। सम्यक् दृष्टि से देखने पर तुलसी ने हनुमन्नाटक से बहुत कम सामग्री ली प्रतीत होती है। सीता-स्वयंवर, परशुराम-प्रसंग और सीता का सौन्दर्य-वर्णन आदि बातों में उसका प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है। सुन्दरकाण्ड के कुछ दृश्यों के वर्णन में वे प्रसन्नराघव से प्रभावित हैं। जहाँ तक भुशुण्डि-रामायण का संबंध है, यह पता लगाना कठिन है कि इस ग्रन्थ से तुलसीदास ने कहाँ तक और कितना लिया। तो भी, उत्तरकाण्ड के उत्तर भाग पर भुशुण्डिरामायण का प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है। भुशुण्डिरामायण की रचना वल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत होनी चाहिए। तुलसीदास ने मानस में भुशुण्ड को जो महत्व प्रदान किया है वह राम-भक्ति के कारण है। बालकाण्ड के उत्तर भाग और अयोध्याकाण्ड में भुशुण्ड दृष्टिगोचर ही नहीं होते। बालकाण्ड के पूर्व भाग में भी वे कथाकार के रूप में नहीं आते। वास्तव में मानस में भुशुण्ड का उल्लेख सर्वत्र समान रूप से नहीं हुआ। संभवतः तुलसी ने उनकी कल्पना शिव से पूर्व ही कर ली थी। भुशुण्डिरामायण का प्रभाव बालकाण्ड के पूर्व भाग पर और तीसरे से लेकर छठें काण्ड पर भी पड़ा है। शिव-पार्वती-संवाद और गरुड़-मोह-वर्णन से इस संबंध में प्रमाण संकलित किए जा सकते हैं।

रामचरितमानस के मूल स्रोतों और उसकी रचना की समस्याएँ परस्पर सम्बद्ध हैं। वास्तव में मानस की सामग्री के विभिन्न स्रोत हैं और उनके तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप हम सरलतापूर्वक तीन विभिन्न श्रेणियों की कल्पना कर सकते हैं : 'राम-चरित' 'शिवरामायण' और 'भुशुण्डिरामायण'। 'राम-चरित' के अन्तर्गत अयोध्याकाण्ड की

रचना सर्व प्रथम हुई। इस संबंध में लेखिका ने डॉ० माताप्रसाद गुप्त और पं० रामनरेश त्रिपाठी के तर्कों पर संक्षेप में विचार किया है। ऐसा प्रतीत होता है 'राम-चरित' का प्रारंभिक रूप राम का अत्रि मुनि के समीप आगमन तक था। वनारस-यात्रा के कारण 'चरित' की रचना में बाधा पड़ी और चतुर्थ काण्ड की रचना काशी में ही हुई। तत्पश्चात् शेष रचना भी यहीं पूर्ण हुई। उस समय उसका रचना-क्रम भी कुछ भिन्न हो जाता है। 'शिवरामायण' के संबंध में लेखिका ने याज्ञवल्क्य, भरद्वाज-संवाद, तुलसी के लिए शिव-पार्वती का महत्व, नारद-मोह, मनु-शतरूपा-चरित, प्रतापभानु-चरित आदि पर विचार कर यह मत स्थापित किया है कि शिव-प्रसंग बाद में जोड़ा गया प्रसंग है। वास्तव में सप्तम-काण्ड के उत्तर-भाग की रचना के पश्चात् वह बालकाण्ड में जोड़ा गया। 'शिवरामायण' में सात काण्ड अवश्य हैं, किन्तु तुलसी ने 'रामचरितमानस' नाम 'भुशुण्डिरामायण' से प्रभावित होकर रखा। उन्होंने वास्तव में 'शिवरामायण' और 'भुशुण्डिरामायण' का समन्वय करने की चेष्टा की है। उनकी दृष्टि में शिव को ही प्रधानता प्राप्त थी (सप्तम काण्ड, १२६-१३०), किन्तु शिव-पार्वती, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज और भुशुण्डि-गरुड नामक तीनों संवादों में उन्होंने समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की है। 'राम-चरित' निस्सन्देह संवत् १६३१ से पहले का है। इस समय तक संभवतः ग्रन्थ समाप्त-प्राय था और उसका एक निश्चित रूप बन चुका था। विभिन्न अंशों को ग्रहण करते हुए भी 'रामचरितमानस' में एकसूत्रता और मौलिकता का सुन्दर प्रकटीकरण हुआ है।

'रामचरितमानस' की उसके मूल स्रोतों से तुलना करने पर यह प्रकट हो जाता है कि यह ग्रन्थ न तो महाकाव्य है, न वाल्मीकिकृत रामायण की भाँति काव्य और न योग-वाशिष्ठ और अध्यात्मक रामायण की भाँति दार्शनिक ग्रन्थ। किन्तु उसमें इन सब की विशेषताएँ निहित हैं और सर्वोपरि वह 'भक्ति-ग्रन्थ' है।

लेखिका ने धार्मिक तथा दार्शनिक दृष्टि से मानस के महत्त्व पर भी संक्षेप में अपने विचार प्रकट किए हैं और पं० बलदेव प्रसाद मिश्र, पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि के मतों का आश्रय लिया है। ग्रन्थ के अन्त में मानस से संबंधित एक संक्षिप्त, किन्तु उपयोगी, ग्रन्थ सूची तथा नामानुक्रमणिका है।

× × ×

कुमारी शार्लत वोदवील ने मानस के उपर्युक्त आलोचनात्मक अध्ययन के अतिरिक्त उसके अयोध्याकाण्ड का Le Lac Spirituel (the Spiritual Lake) नाम से फ्रेंच भाषा में अनुवाद भी किया है। अनुवाद के संबंध में तो कोई परिचय देने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती, किन्तु उसकी भूमिका पठनीय है। भूमिका में लेखिका ने सर्वप्रथम शताब्दियों से चले आ रहे रामायण के धार्मिक और साहित्यिक महत्त्व का उल्लेख किया है। तत्पश्चात् वाल्मीकि से लेकर कृत्तिवास ओझाकृत बँगला रामायण तक राम-कथा की परंपरा का संक्षिप्त परिचय देकर भक्ति-आन्दोलन, कबीर और तुलसी, भाषा, साहित्य की दृष्टि से मानस का महत्त्व आदि विषयों पर अपने विचार प्रकट किए हैं। लेखिका ने तुलसी (जन्म १५३२ ई०, मृ० १६२३ ई०) की जीवनी संबंधी सामग्री की, संक्षेप में, परीक्षा की है और अयोध्याकाण्ड की विभिन्न प्रतियों, छंद, रस, अलंकार, वर्णन-

सौन्दर्य, कथोपकथन आदि की दृष्टि से उसका साहित्यिक परिचय दिया है। तुलसी के विचारों का विश्लेषण करते हुए लेखिका का मत है कि अद्वैत वेदान्त का प्रभाव ग्रहण करते हुए भी वे साकारोपासना में विश्वास रखते थे। इसीलिए वे राम के मानवी और परब्रह्म वाले रूप में समन्वय स्थापित नहीं कर सके। बालकाण्ड में चारों भाई विष्णु के चार अंश हैं, किन्तु अयोध्याकाण्ड में तीन भाइयों के मनुष्य-रूप को प्रधानता मिली है। तुलसी के राम परब्रह्म हैं और वे त्रिदेव से भी बड़े हैं। उनका एकेश्वरवाद बहुदेववाद पर आधारित है। शिव राम-भक्त हैं। तुलसी यह मानते हैं कि राम ने देवताओं के त्राण के लिए अवतार लिया, तो भी उन्होंने जोर भक्तों के कल्याण पर दिया है। देवता भी पशु-पक्षी, वृक्ष, लता आदि के रूप में अवतरित हुए हैं। राम-भक्ति ही कर्म बन्धन और आवागमन से मुक्त कर सकती है। अयोध्याकाण्ड भक्ति का व्यावहारिक रूप प्रस्तुत करता है। तुलसी ने वाल्मीकि का अनुसरण करते हुए भी अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है; जैसे भरत के चरित्र-चित्रण में। लेखिका ने भरत-चरित्र पर विस्तार पूर्वक विचार किया है। वे भक्त का आदर्श रूप स्थापित करते हैं। वैसे तो कैकेयी, रावण, देवता आदि सभी राम को प्रिय हैं, किन्तु महाभक्त दुर्लभ है। शिव, हनुमान, विभीषण भी परम भक्त हैं। भरत की महिमा इन सब से ऊपर है। उनकी भक्ति में तो स्वयं राम अभिभूत हो जाते हैं।

अनुवाद करते समय लेखिका ने पाद-टिप्पणियाँ देकर उसकी उपयोगिता बढ़ा दी है। ग्रन्थ के अन्त में अयोध्याकाण्ड में आए विशिष्ट शब्दों का एक छोटा-सा कोष है।

तुलसी-साहित्य के अध्ययन के संबंध में कुमारी शार्लेत वोदेविल के दोनों ग्रन्थों का निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा।

---

(३) वार्त्ता-साहित्य का जीवनीपरक अध्ययन

[आगरा विश्वविद्यालय से १९४६ में पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का सारांश]

डा० हरिहर नाथ टंडन, सेंट जांस कालेज, आगरा

इस प्रबंध के भीतर केवल पुष्टिमार्गीय वार्त्तासाहित्य का अध्ययन किया गया है। यह अध्ययन चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता, निजवार्त्ता, घरुवार्त्ता घटश्रुत वार्त्ता, महाप्रभुजी के प्राकट्य की वार्त्ता, श्रीनाथ जी के प्राकट्य की वार्त्ता तथा भवसिंधु आदि सात ग्रन्थों तक ही सीमित है। इन पुस्तकों की सभी प्रकाशित और अधिक से अधिक हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर उनसे प्राप्त विषय, वृत्त और व्यक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है और इनके भेद पर प्रकाश डाला गया है। विविध प्रतियों की भाषा में जो अन्तर है उसकी ओर भी पूरा ध्यान दिया गया है। वार्त्तासाहित्य की जो अनेक प्रकार की प्रतियाँ प्रचलित हैं उनका यथासम्भव वैज्ञानिक वर्गीकरण किया गया है। समस्त प्रबंध ग्यारह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में भारतीय संस्कृति के आदिकाल से लेकर पुष्टिमार्गीय वार्त्तासाहित्य के विकासकाल तक का अत्यन्त संक्षिप्त साहित्यिक सिंहावलोकन करके वार्त्तासाहित्य के विकास का एक क्रम स्थापित किया गया है। दूसरे अध्याय में सभी प्रकाशित और प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों की एक सूची दी गई है। तीसरे अध्याय में वार्त्तासाहित्य की प्रामाणिकता पर विचार किया गया है और उपलब्ध सामग्री को समकालीन साहित्य के आधार पर इतिहास की कसौटी पर कसा गया है और यह सिद्ध किया गया है कि वार्त्ताओं के लेखक श्रीगोकुलनाथ जी नहीं हैं। चौथे अध्याय में वार्त्तासाहित्य के सभी कवियों की एक सूची प्रस्तुत की गई है और सम्प्रदाय के हस्तलिखित संग्रहों में से जिनकी रचनाएँ अब तक उपलब्ध नहीं हो सकी थीं उनके पदों का संग्रह किया गया है। इसी प्रसंग में उन व्यक्तियों की रचनाओं का भी संग्रह कर लिया गया है जिन्हें वार्त्ताकारों ने कवि नहीं लिखा है पर जिनकी रचनाएँ सम्प्रदाय में प्रचलित हैं। पांचवें अध्याय में तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि बम्बई और डाकोर के संस्करण मूलतः एक हैं। छठें अध्याय में वार्त्ता से प्राप्त ऐतिहासिक पुरुषों के जीवनवृत्त की परीक्षा करके यह सिद्ध किया गया है कि वार्त्ता का वृत्त सर्वथा प्रामाणिक नहीं है। सातवें अध्याय में वार्त्ताओं के वृत्त की भक्तमाल से प्राप्त वृत्त से तुलना की गई है और यह सिद्ध किया गया है कि भक्तमाल के पुष्टिमार्गीय उल्लेख प्रामाणिक नहीं हैं। आठवें अध्याय में वार्त्ता के वृत्त को इति-

हास से प्राप्त सामग्री के आधार पर अध्ययन करके उसके प्रक्षिप्त अंश को अलग कर लिया गया है। नवें अध्याय में वार्त्ता की गद्य-शैली का अध्ययन करके उस पर जातक कथामाला और राजस्थानी बात-साहित्य के प्रभाव का उल्लेख किया गया है। दसवें अध्याय में वार्त्ता साहित्य को धार्मिक साहित्य सिद्ध किया गया है और अन्तिम ग्यारहवें अध्याय में वार्त्ता-साहित्य के साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्व को आंका गया है इसी अध्याय में यह निष्कर्ष निकाले गए हैं कि वार्त्ताओं का विस्तार कथोपकथन से हुआ है और वे अशिक्षितों का सम्बल रही हैं। वार्त्ताओं के भावनात्मक संस्करण उनकी टीकाएँ नहीं हैं, वे विषय और व्यक्तियों के भेद के कारण स्वतंत्र संस्करण हैं। वार्त्ताएँ श्री गोकुलनाथ लिखित नहीं हैं। वार्त्ता की कोई भी प्रति संवत् १६६१ से अधिक प्राचीन नहीं है। इनमें से सबसे पहली प्रति के लेखक उज्जैन के कृष्णभट्ट जी हैं।

---

(२) कृषक-जीवन सम्बन्धी शब्दावली

(अलीगढ़-क्षेत्र की बोली के आधार पर)

[आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच्० डी० उपाधि के लिये १९५६ ई० में स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का सारांश]

डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन', अलीगढ़

अलीगढ़ क्षेत्र की बोली के आधार पर यह शब्द-संग्रह 'कृषक जीवन सम्बन्धी शब्दावली' के नाम से तैयार किया गया है। इस शब्दावली में केवल शब्दों का ही संकलन नहीं है, अपितु प्रचलित लोकोक्तियों और मुहावरे भी संकलित किये गये हैं। संकलन का कार्य विशेषतः अशिक्षित वृद्ध ग्रामीण मनुष्यों और स्त्रियों के मुख से निकली हुई वाक्यावली से ही किया गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में जनपदीय शब्द व्यापक रूप में बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से एकत्र किये गये हैं और ग्रन्थ के अनुच्छेदों में वे स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो सकें, इस विचार से उन्हें रेखांकित भी कर दिया गया है। जो शब्द जिस तहसील अथवा परगने में अधिक प्रचलित हैं, उसके आगे उसका स्थान भी लिख दिया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह विशेष शब्द अन्य स्थानों में बोला नहीं जाता।

जहाँ तक संभव हो सका है, कुछ जनपदीय शब्दों की व्युत्पत्तियाँ भी साथ-साथ लिख दी हैं। शब्दों का क्रमिक विकास दिखाते हुए उनकी प्रयोग-पुष्टि के लिये पाद टिप्पणी के रूप में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, अरबी तथा फारसी के ग्रन्थों से उद्धरण तथा प्रमाण भी दिये गये हैं और संकलित लोकोक्तियों के अर्थ भी लिखे गये हैं। प्रबंध में संगृहीत संपूर्ण शब्दों की संख्या लगभग तेरह हजार है और लोकोक्तियाँ पाँच सौ के लगभग हैं।

शब्द-संग्रह का कार्य कुछ नीरस-सा है, अतः विषय को रोचक तथा बोधगम्य बनाने के लिये मैंने जैसी वर्णनात्मक तथा विवरणात्मक पद्धति को अपनाया है, जिसके द्वारा कृषकों तथा शिल्पकारों की संस्कृति एवं क्रियाकलापों का परिचय भी प्राप्त हो जाता है। वस्तुओं के नामों तथा रूपों को स्पष्ट करने के लिये यथास्थान आवश्यकतानुसार रेखाचित्र तथा चित्र (फोटोग्राफ) भी दिये गये हैं और प्रत्येक प्रकरण को अध्यायों में तथा प्रत्येक अध्याय को अनुच्छेदों में विभक्त करके लिखा गया है।

व्युत्पत्तियों के द्वारा हमें शब्दों के पूर्ण जीवन और उनकी वंशपरंपरा से परिचय प्राप्त हो जाता है। व्युत्पत्तियों की छान-बीन से ही हम भूले हुए ऐतिहासिक तथ्यों तथा प्रवादों तक पहुँचते हैं और हमें यह भी ज्ञात हो जाता है कि अमुक शब्द की प्राचीनता और विकास-क्रम क्या है। अतः प्रस्तुत प्रबन्ध में शब्द की व्युत्पत्ति की ओर भी कहीं-कहीं ध्यान दिया गया

है, पर यह प्रबन्ध का उद्देश्य न था, और यह स्वतंत्र अनुसंधान का विषय होने के कारण वहाँ अधिक नहीं लिखा जा सका है।

जिला अलीगढ़ की ब्रजभाषा को सर जार्ज ए० ग्रियर्सन ने स्टैंडर्ड ब्रजभाषा माना है। आचार्यवर डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने ग्रन्थ 'ब्रजभाषा'[1] में लिखा है कि 'मथुरा, आगरा, अलीगढ़ और बुलन्दशहर की बोली पश्चिमी अथवा केन्द्रीय ब्रज मानी जा सकती है। इस रूप को सर्वमान्य विशुद्ध ब्रज भी कहा जा सकता है।' अतएव अलीगढ़ क्षेत्र की शब्दावली ब्रजभाषा-साहित्य के अध्ययन में अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा लाभप्रद सिद्ध होगी। मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत प्रबन्ध की शब्दावली प्रकाशित तथा प्रकाश्य ब्रजभाषा-ग्रन्थों के समझने में पर्याप्त सहायता प्रदान करेगी।

वर्तमान युग के भारतवर्ष में नागरिक संस्कृति एवं सभ्यता दिनोंदिन बढ़ती जा रही है, विज्ञान के नये आविष्कार प्रतिदिन गाँवों की ओर फैलते जा रहे हैं, ऐसी दशा में हमारे कृषकों और शिल्पकारों के औजारों तथा कार्य प्रणालियों के बदलने में अधिक समय न लगेगा। जब किसानों के सब खेत ट्रैक्टरों से जुतने लगेंगे और सिंचाई बिजली के कुओं से होने लगेगी तब देसी हल और पुर के कुएँ से सम्बन्धित जनपदीय शब्दावली ग्रामीण जनों की जिह्वाओं से सदा के लिए उठ जायगी। खड़ी बोली के व्यापक प्रभाव से आज भी बहुत-से शिक्षित मनुष्य ब्रजभाषा की कविताएँ नहीं समझ पाते। जायसी, सूर, तुलसी, सेनापति, बिहारी आदि की कविताओं में आए हुए बहुत-से शब्दों के अर्थ हम साधारणतः नहीं समझ पाते। उपर्युक्त कवियों के काव्यग्रन्थों में प्रयुक्त कितने ही शब्दों को मैं अब इस प्रबन्ध द्वारा समझ सका हूँ। मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत शब्द-संग्रह ब्रजभाषा-काव्यों में आये हुए पारिभाषिक शब्दों के समझने में सहायक होगा।

हिन्दी-भाषा के कोश का संकलन करते हुए हमें हिन्दी के जनपदीय शब्दों को भी लेना पड़ेगा। हम अपनी भाषा और साहित्य को जन-जीवन से बहुत कुछ दूर ही दूर हटाते चले जा रहे हैं। यह दुःखद स्थिति है। यदि हमारी राष्ट्रभाषा (हिन्दी) का सम्बन्ध जन-बोलियों से टूट जायगा तो यह सदा के लिए निष्प्राण हो जायगी। विद्वद्वर्य महापंडित श्री राहुलसांकृत्यायन का कथन है कि—"कोई भी साहित्यिक या शिष्ट भाषा आकाश से नहीं उतरती, उसका किसी न किसी बोली से विकास होता है। विद्वान यह भी मानते हैं कि जिस साहित्यिक भाषा का अपनी बोली से अटूट सम्बन्ध रहता है वह बड़ी सजीव होती है। मुहावरे, संकेत आदि जितने भाषा को सबल बनाने वाले तत्व हैं, वे बोलियों की देन हैं। जिस साहित्यिक भाषा का अपने मूल स्रोत—बोली—से सम्बन्ध टूट जाता है, उसकी सजीवता बहुत कुछ नष्ट हो जाती है।"[2]

हिन्दी का जो अपना असली रूप है, वह गाँवों की टकसाल में ही ढला था, हिन्दी के आदि जन्मदाता ग्रामीण जन ही हैं। उन्होंने ही संस्कृत, अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि के शब्दों

१—प्रकाशक: हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद, सन् १९५८ ई०, पृष्ठ २५।

२—"हिन्दी की मूल भाषा कौरवी बोली है" शांकर शेष, सम्मेलन-पत्रिका, प्रयाग, सं० २०१९, भाग ४० संख्या ४।

को हिन्दी रूप दिया है। पाणिनीय काल की संस्कृत भी लोक-भाषा के अनेक शब्दों को अपना कर चली थी, पाणिनि को विदित था कि कोई साहित्यिक भाषा तभी तक जीवित तथा प्राणवन्त बनी रह सकती है, जब तक वह लोक-भाषा की भूमि से शब्दों को निर्बाध लेती रहे। व्यापक साहित्य की भाषा संस्कृत भी समय-समय पर जन-भाषा से शब्द लेती रही है। अतएव राष्ट्रभाषा हिन्दी को भी व्यापक और सबल बनाने के लिये हमें जनपदीय बोलियों से शब्दों को लेना होगा। उन्हीं बोलियों में ब्रजभाषा की शब्दावली को प्रमुख स्थान है—जनपदीय बोली के व्यापक, सबल तथा अर्थपूर्ण शब्दों को हिन्दी में ले लेने पर धार्मिक पक्षपात या आग्रह का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। हिन्दी के कोशकारों, पारिभाषिक शब्दावली-निर्माताओं तथा साहित्यस्रष्टाओं को भाषा के इस अक्षुण्ण स्रोत अर्थात् जनपदीय शब्दावली की शरण में जाना अनिवार्य है। बोलियों की शब्दावली से साहित्यिक भाषा सदा पोषित होती रही है। एक समय था जब ब्रजभाषा सारे उत्तरी भारत की साहित्यिक भाषा बन गई थी। भक्ति-आन्दोलन के प्रसंग में इस भाषा की शब्दावली उत्तरी भारत के बड़े क्षेत्र में फैल गई। अतएव यह स्वाभाविक है कि अलीगढ़-क्षेत्र, जो ब्रज-प्रदेश का हृदय है, की शब्दावली भी व्यापक क्षेत्र में पहुँची हो।

इस शब्द-संग्रह में शब्दों का स्वरूप वही रक्खा गया है, जो जनपदीय बोली में है। यदि बोलीगत आवरण हटा दिया जाय तो आशा है कि अनेक शब्द परिनिष्ठित (स्टैंडर्ड) हिन्दी में लिये जा सकेंगे।

लोकोक्तियों के साथ-साथ कुछ बुझौवलों (पहेलियों) का भी संग्रह किया गया है। बुझौवल और लोकोक्तियाँ साहित्य में अलंकारों से भी बढ़कर अर्थवत्ता रखती हैं। लोकोक्ति के छोटे चुस्त वाक्य में युगों का अनुभव सिमटकर आ जाता है। बुझौवल जनपदीय भाषा में समासोक्ति या रूपकातिशयोक्ति का काम देती है। भद्देय डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि—

"लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के चोखे और चुभते सूत्र हैं। अनन्त काल तक धातुओं को तपाकर सूर्य-रश्मियाँ, नाना प्रकार के रत्न-उपरत्नों का निर्माण करती हैं, जिनका आलोक सदा छिटकता रहता है। उसी प्रकार लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के घनीभूत रत्न हैं, जिन्हें बुद्धि और अनुभव की किरणों से फूटनेवाली ज्योति प्राप्त होती है।"

आचार्यवर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक स्थल पर लिखा है—

"हजारों मील के विस्तृत क्षेत्र में बोली जानेवाली बोलियों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन तो दूर की बात है, उनके मुहावरों, गीतों, शब्द-भण्डारों और लोक-कथानकों का वैज्ञानिक अध्ययन भी पड़ा ही हुआ है।"[१]

इस अभाव को लेखक ने कुछ पूरा करने का प्रयत्न किया है। उस प्रयत्न का विषय-सारिणी-गत विवरण संक्षेप में इस प्रकार है—

१—डा० सावित्री सिन्हा (संपादिका): अनुसंधान का स्वरूप, आत्माराम एन्ड संस, दिल्ली, सन्

प्रकरण-क्रम से पारिभाषिक शब्दों की संख्या

प्रकरण-संख्या	संगृहीत शब्दों की संख्या
१	५१३
२	६०६
३	३४८
४	२६५
५	२०६
६	६६५
७	१०२
८	२६०
६	४७१
१०	३१३
११	११३५
१२	३७५१
१३	१७८३
१४	३८४
१५	१४४६
संगृहीत शब्दों का पूर्ण योग	११५८

प्रस्तुत प्रबन्ध में आठ हजार से अधिक हिन्दी के साभिप्राय अभिव्यंजक सबल शब्द संगृहीत हैं, जिनमें से सौ-दोसौ को छोड़कर शेष अभी तक हिन्दी के कोशों में नहीं आये हैं, उदाहरण के रूप में इस संग्रह के कुछ शब्द यहाँ प्रकरणानुसार अकारादिक्रम से लिखे जा रहे हैं। शब्दों के आगे लिखे हुये अंक प्रस्तुत प्रबन्ध की अनुच्छेद-संख्या के द्योतक हैं—

प्रकरण १

कृषि-सम्बन्धी साधन, यंत्र और उपकरण

(१) **अधियाना**—६५ (सं० अग्निधान) = आग का एक गड्ढा-सा जिसके पास बैठ कर किसान लोग प्रायः जाड़ों में तापते हैं।

(२) **कठवाही**—३ (सं० काष्ठबाहु) = चरस में ऊपरी के भाग की एक लकड़ी जिसे पकड़कर किसान पानी से भरे चरस को डालता है।

(३) **कोंड़र**—३ (सं० कुण्डल) = पुर (चरस) के मुंह पर लगा हुआ लोहे का एक गोल घेरा।

(४) **गमागमदार**—१६ = डेंकली चलानेवाला जब इतनी शीघ्रता से पानी डालता है

कि पानी की धार का तार नहीं टूटता और पानी भी तेज बहता है, तब उस क्रिया को *गमागमदार* कहते हैं।

(५) **घाँटन**—१४ (सं० घट्टन) = रस्सी या बर्त (वे० सं० वर, वा) की रगड़ से हाथों में जो निशान पड़ जाते हैं, वे *घाँटन* या *घिटना* कहलाते हैं।

(६) **जुवारा**—८ (सं० युगल) = दो बैलों की जोड़ी जो किसी जूए में जुते हों।

(७) **झंडना**—४१ = लोहे आदि की बनी हुई किसी वस्तु में जब लोहे की कील एक विशेष ढंग से जड़ी जाती है तब उस क्रिया के लिये *झंडना* धातु प्रचलित है। यह अंग्रेजी 'रिवेट' के अर्थ में बहुत प्रचलित और महत्वपूर्ण शब्द है।

(८) **नरकटा**—९ = नरम मांसवाले बैलों की जोड़ी जब कुएँ की नहँची में पहुँचती है, तब बड़ी बैलों की गर्दन पर काफी जोर पड़ता है, अर्थात् नार (गर्दन) कटने लगती है। उस जगह को *नरकटा* कहते हैं।

(९) **परोहा**—१३ (सं० प्रवोहक) = चमड़े का बना हुआ एक खुला थैला-सा जिसमें किसान सिंचाई के समय पानी को ऊँचे धरातलवाले खेत में डालता है।

(१०) **पैर चलाना**—२ = सिंचाई करने की एक क्रिया जिसमें किसान पुर, बर्त (वे० सं० वरत्र) और बैलों के द्वारा कुएँ से पानी निकालते हैं।

(११) **सुहागा**—३५ (सं० सौभाग्यक) = लकड़ी का एक बड़ा और भारी तख्ता-सा जिससे जुते हुए खेत की मिट्टी को चौरस किया जाता है। यह खेत की भूमि को सौभाग्य या सौन्दर्य प्रदान करता है, इसीलिये इसका नाम *सुहागा* है।

(१२) **सेहा और करार**—३० (सं० सेध + क—सेहा, सं० करार—करार) = जुताई के समय खेत में गहरा गड़ा कर चलने वाला हल *करार* और ऊपरी रूप में हलका चलनेवाला हल *सेहा* कहलाता है।

(१३) **हरपघा या हरचागा**—२४ (सं० हलप्रग्रह, सं० हलवल्गा) = हल में जुते हुए बैलों में बाईं ओर के बैल की नाथ में एक लम्बी रस्सी बंधी रहती है जिसे पकड़ कर हलवाहा बैलों को हांकता है। वह रस्सी *हरपघा* या *हरचागा* कहलाती है।

(१४) **हर्स**—३० (सं० हलीषा — हल + ईषा = हल का डंडा) = लम्बा और भारी डंडा-सा जो हल में लगा रहता है।

प्रकरण २
खेत और फसल की तैयारी

(१५) **अँगोला**—१११ (सं० अग्रपोतलक) = गन्ने का ऊपरी आगे का भाग जिस पर पत्तियाँ लगी रहती हैं।

(१६) खूँद—१६१ (सं० क्षुद्र — प्रा० खुद्द — दि० खूँद) = गेहूँ, जौ, जई आदि के पौधे जब हाथ सवा हाथ बढ़ जाते हैं, तब खूँद कहलाते हैं।

(१७) तेस्वर—७४ (सं० त्रिकर्ष = असाढ़ी (रबी की फसल के लिये असाढ़ से क्वार तक जुतने वाला खेत) में जब तीसरी बार जुताई की जाती है, तब उसे तेस्वर कहते हैं। जोत की ४ एकड़ धरती को संस्कृत में 'त्रिहल्या' या 'त्रिसीत्या' कहते थे।

(१८) नौदा और पेड़ी—११३, ११४ (सं० नव + वृद्ध—नौदा) नई बोई हुई ईख की फसल नौदा कहलाती है और दुबारा जब पेड़ में से ही अंकुर फूटकर ईख हो जाती है, तब उसे पेड़ी कहते हैं।

(२०) पांस—७१ (सं० पांस) = खाद के काम में आने वाला सूखा गोबर।

(२१) पिहान—८६ (सं० आधान) = कुठले (मिट्टी का बना हुआ एक पेंगा-सा जिसमें अनाज भरा जाता है) के मुंह का ढक्कन।

(२२) मेंड़िया—१८५ (सं० मोटक या मेटक) = खलियान की दांग में केन्द्र-भाग पर घूमने वाले बैल को *मेंड़िया* और बाहर किनारे वाले बैल को *पागड़ा* कहते हैं।

(२३) लावा—१६० (सं० लावक) = पकी हुई रबी की फसल (बैसाखिया फसल या सावनी की *लाई* (कटाई) करने वाला व्यक्ति *लावा* कहलाता है। सावनी (खरीफ की फसल) की फसल पक जाने पर ज्वार-बाजरे की बालें काटने वाले को *कपटा* (सं० कृत्तिका) कहते हैं।

(२४) स्याबड़ा—१८४ (सं० सीतावट्टक—सीता + वट्टक = हल के फाल का ढेला) = खलिहान का राम को पूजने के लिए किसान जंगल से *आजा* (सं० आरण्य) कंडा (उपला) और अपने खेत से मिट्टी का एक ढेला लाता है। ढेला उसी खेत का होता है, जिसमें राम के अनाज की फसल उगाई गई थी। मिट्टी का यह ढेला *स्याबड़ा* कहलाता है।

प्रकरण २

खेत और उनके नाम

(२५) कबिसा—१६३ (सं० कपिश् + क)—जिस खेत की मिट्टी काली-पीली होती है, वह *कबिसा* कहलाता है।

(२६) गाद—१६३ (सं० गर्त—प्रा० गड्ढु—गाढ—गाद) = चिकनी सी मिट्टी वाला नीचे धरातल का खेत।

(२७) पटिया—१६५ = अधिक लम्बा और कम चौड़ा खेत।

(२८) पडुआ—१६७—वे खेत जिनमें सिंचाई कुओं, नलकूपों आदि से नहीं हो सकती और जिन्हें केवल वर्षा का पानी ही मिल पाता है। पडुओं में वर्षा के कारण ही कुछ अन्न उग आता है, अन्यथा खाली पड़े रहते हैं।

(२९) **पूठा**—१९७ (सं० पृष्ठ)—जो खेत ऊँचे धरातल पर होते हैं, वे पूठा कहलाते हैं।

(३०) **डहर**—१९२ (सं० ह्रद—दहर—डहर)=नीचे धरातल का खेत, जिसके अन्दर वर्षा के दिनों में प्रायः पानी भरा रहता है, डहर कहलाता है।

(३१) **बरहे**—१९४ (सं० बहिर्)=गाँव के बाहर दूरी पर जो खेत होते हैं, वे बरहे कहलाते हैं।

(३२) **बोंहड़ी**—१९२=दो-तीन बीघे का छोटा खेत *बोंहड़ी* या *कोनियाँ* कहलाता है।

(३३) **मूड़ा**—१९३=जिस खेत की मिट्टी रेतीली और खुश्क होती है, उसे मूड़ा कहते हैं।

प्रकरण ४

खेती और पशुओं को हानि पहुंचाने वाले जंगली पशु, जीवजन्तु, कीड़े-मकोड़े तथा रोग

(३४) **अँठा**—२१२ — जौ, गेहूं आदि की पत्तियों में लगने वाला एक रोग जिससे पत्तियाँ ऐंठी-सी हो जाती हैं।

(३५) **चौरा**—२०४—(सं० चमर—चउर—चौर—चौग)=खेत की पूरी तरह से उजाड़।

(३६) **पुलारना**—२०६-धरती को पोला करने के अर्थ में 'पुलारना' धातु प्रचलित है।

प्रकरण ५

बादल, हवायें और मौसम

(३७) **उनमनि**—२१६=जब दिन भर आकाश में बादल घिरे हुए रहें, मौसम कुछ ठंड का हो और वर्षा न हो तब उस वातावरण को *उनमनि* कहते हैं।

(३८) **उमस**—२३१ (सं० उष्मा)=बदरौटी धूप हो और हवा बन्द हो, तो उस वातावरण को उमस कहते हैं।

(३९) **औचक या पंडवारी**—२११=ये दोनों शब्द सं० मृगमरीचिका के अर्थ में प्रचलित हैं,

(४०) **घमछांहीं**—२१६ (सं० घर्मछाया)=आकाश में यदि बादल थोड़ी-थोड़ी देर छा जायँ और धूप भी थोड़ी-थोड़ी देर में निकलती रहे तो उसे *घमछांही* कहते हैं।

(४१) **झर**—२१८—यदि निरन्तर एक-दो दिन तक थोड़ी-थोड़ी वर्षा होती रहे तो उसे 'झर लगना' कहते हैं।

(४२) **निवाये जाड़े**—२१२ (सं० निवात—निवाय)—जाड़े के अंतिम दिनों में जब ठंड कम हो जाती है, तब वे *निवाये जाड़े* कहलाते हैं।

(४३) **बरसोंहा बादल**—२१५=वह बादल, जो पूरी तरह से भरा हुआ होता है, बरसोंहा कहलाता है—यह अंग्रेजी "निम्बस" का उपयुक्त पर्यायवाची है।

(४४) भर—२१८ = वर्षा का झर बन्द हो जाने के उपरान्त यदि बादल छाये रहें और धूप न निकले तो उस वातावरण को भर कहते हैं।

प्रकरण ६

कृषि तथा कृषक से सम्बन्धित पशु

(४५) अनामू या नहमुआ—२४६ (सं० ऊनगशुक—अनामू) = जिस बैल की पसलियों में एक-आध हड्डी कम होती है उसे अनामू कहते हैं।

(४६) खैरा या खैला—२४०—(सं० उक्षतर...उक्खयर...खयर...खइर—खैरा—खैला) = नाथ पड़ जाने के उपरान्त चौदन्ता या छिदन्ता बैल खैरा कहलाता है।

(४७) बासनी—२१९ (सं० वस्निका) = कपड़े की अथवा सूत के मोटे धागों से बनी हुई एक लम्बी थैली, जिसमें किसान रुपये रखकर कुछ खरीदने के लिए जाते हैं। *बासनी* शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। संस्कृत में 'वस्न' का अर्थ था—'विक्रय द्रव्य' या 'मूल्य'। उसे रखने की थैली 'बासनी' (सं० वस्निका) हुई।

(४८) महेला—२६२—घोड़े को एक विशेष खुराक जो उबली हुई मोट में गुड़ मिला कर बनाई जाती है।

(४९) हिरनमुतान—२६१ (सं० हरिण + मूत्रस्थान) = एक किस्म का बैल जिसके मुतान की खाल लटकी हुई नहीं होती, बल्कि हिरन के मुतान की तरह छोटी और कसी हुई होती है।

प्रकरण ७

पशुओं से सम्बन्धित वस्तुयें और किसान की सांकेतिक शब्दावली

(५०) गोन—२६१ (सं० गोणी) = एक प्रकार का दुकखा थैला जिसे अनाज आदि से भरकर गधे की पीठ पर लाद देते हैं।

(५१) तिकारना और नहँकारना—२६६ = हल या गाड़ी में जुते हुए बाहिरे (दाहिने ओर के) बैल को 'नहन्हा' कहते हुए चलने का संकेत करना *हँकारना* या *नहँकारना* कहलाता है। अवधी में इसे *ओनाना* भी कहते हैं। भीतरे (बाईं ओर के) बैल को 'तिक-तिक' कहते हुए संकेत करना *तिकारना* कहलाता है।

(५२) मुछीका—२८३ (सं० मुखशिक्यक) = रस्सी की बुनी हुई कटोरानुमा जाली जो बैल आदि के मुँह पर लगा दी जाती है ताकि वह चारा न खाने पाए।

प्रकरण ८

किसान का घर और घेर

(५३) चौपार—१०० (सं० चतुःपालि)—किसान की बैठक जिसके आगे सपीजोदार एक बड़ा चबूतरा होता है।

(५४) जूना—३०८ (वै० सं० यून = गेहूं की नलाई से बनी हुई एक मोटी रस्सी।

(५५) चिटौरा—३०८ (सं० चिष्ट वृट)—किसानों की स्त्रियां कड़ों (उपलों) को एक जगह चिन कर उनमें एक छोटा टीला-सा बनाती हैं, उसे *चिटौरा* कहते हैं। कंडे का टुकड़ा *करसी* (सं० कर्षु) कहलाता है। जंगल में पड़े हुए गोबर के कोथ के सूख जाने पर स्वतः बना हुआ कंडा *आन्हा* (सं० आर्द्रक) कहलाता है। लोकोक्ति प्रचलित है—"जाने दईये रोटी दार। मोई देहगो कंडा चार"[१]।

प्रकरण ९

किसान के गृह-उद्योग

(५६) चलामनी या दहेंड़ी ३१३ (सं० दधि + भाण्डिका—दही + हण्डिया—दहेंड़ + ई) = मिट्टी का एक बर्तन, जिसमें रई (मथानी) से दही बिलोया जाता है, *चलामनी* या *दहेंड़ी* कहलाता है।

(५७) नौनी या लौनी ३१३ (सं० नवनीत) = औटा कर (गर्म करके) जमाये हुए दूध में से निकला हुआ घृत।

(५८) रैंटी—३११ (सं० अरण्डिका) = एक यंत्र, जिससे स्त्रियां घरों में कपास ओटती हैं, अर्थात्, रुई और बिनौला अलग करती हैं *रैंटी* या *चरखी* कहलाती है।

प्रकरण १०

बर्तन, खिलौने और संदूक

(५९) कुप्पी ३२१ (सं० कुतुपिका) = चमड़े की बनी हुई एक प्रकार की बोतल जिसमें तेल भरा रहता है।

(६०) टिस्टी—३२८ (सं० त्रिकाष्ठिका) = काठ की बनी हुई एक तिगाई सी जिस पर पानी का एक घड़ा रख लिया जाता है।

प्रकरण ११

पहनाव-ओढ़ाव, साज-सिंगार और खान-पान

(६१) गौंतरिया—३५६ (सं० ग्रामान्तरीय) = बाहर के गांव में रहने वाला रिश्तेदार जो महमान की भांति किसी के घर दो-एक दिन रहता है।

(६२) सूतना—३५३ (सं० स्यस्थान...सुत्थन...सुत्थान...सूतना) = एक प्रकार का पाइजामा जिसके पायचे टाँगों से चिपटे रहते हैं।

१—भाग्य पर पूर्ण आस्था और विश्वास रखनेवाले का कथन है कि जिस ईश्वर ने रोटी डाल दी है, वही चार कंडे भी देगा।

प्रकरण १२
जनपदीय व्यवसाय

(६३) **उकेरनी**—७७३ (सं० उत्कीर्णिका)—लोहे या पीतल आदि धातु की बनी हुई किसी वस्तु पर अक्षर या अंक खोदने की एक कलम।

(६४) **खचेरा या पंडी**—१२° = एक प्रकार का लम्बा जाल जिसके कोने पकड़कर दो मछुये पानी में चढ़ाव की ओर खींचते हैं।

(६५) **डोरालोहा और ढरालोहा**—७३१ = आग में गर्म करके और टोंक-पीटकर बनाया हुआ लोहा ढरा और गलाकर किसी साँचे की शक्ल में बनाया हुआ लोहा ढरा कहलाता है। अँग्रेजी 'रौट आइरन' और 'कास्ट आइरन' शब्दों के लिये क्रमशः 'डोरा लोहा' तथा 'ढरा लोहा' उपयुक्त पर्याय हैं।

(६६) **बेगड़ी**—७६६—(सं० वैकटिक) = रंगा, पक्का आदि रंगों को लगानेवाला कारीगर।

प्रकरण १३
जनपदीय शिल्पकार

(६७) **खड्डी**—६६५ = हाथ का करघा जिसमें कपड़ा बुना जाता है, यह अँग्रेजी के 'हैण्ड-लिलूम' जैसे लम्बे शब्द के लिये छोटा-सा उपयुक्त प्रचलित शब्द है। अँग्रेजी 'शटिल' के अर्थ में 'ढरकी' शब्द बहुत प्रचलित है। ढरकी में ही ताने में बाने का तार डाला जाता है। जिस बेलन पर बुना हुआ कपड़ा लिपटता जाता है उसे 'थुनि' (सं० थुना) कहते हैं।

(६८) **पचाना**—८६६—सुनार जब सोने में नग को इस प्रकार जड़ते हैं कि नग तथा सोने का धरातल एक हो जाता है तब उस जड़ाई के लिये 'पच्ची' कहा जाता है और उस क्रिया के लिये पचाना धातु प्रचलित है।

(६९) **पनसार या पंसार**—६२७ = मकान या दालान के नीचे धरातल को पंसार कहते हैं। अँग्रेजी 'लेविल' के लिये राजों की बोली का यह शब्द बहुत उपयुक्त है।

(७०) **बन्दरुम**—६४५ = मिट्टी की बनी हुई एक प्रकार की मकान की जाली बंदरुम कहलाती है। यह जाली रूम या कुस्तुनतुनिया की जाली की अनुकृति है। इसीलिये यह नाम पड़ा है।

(७१) **लौंखर**—८६६ = गड़ासा, खुरपी, दराँती आदि किसान के औजार, जिन्हें लुहार बनाता है, लौंखर कहलाते हैं। यह शब्द अँग्रेजी 'इम्प्लीमेंट्स' के अर्थ में प्रचलित है।

(७२) **साँट या जौर**—६८२ = कपड़े या खड्डी की कंघी की खराबी से कपड़े में तानों का एक गैरटा-सा बन जाता है। वही साँट या जौर कहाता है। अँगरेजी 'रीडमार्क' के अर्थ में यह प्रचलित शब्द है।

(७३) सावल—६३८—(सं० साधुल—साहुल—सावल) = दीवाल की चिनाई की सीध देखने के लिये राजों का एक यन्त्र। यह दीवाल की साधुता अर्थात् सीधापन बताता है, इसीलिये इसे *सावल* (सं० साधुल) कहते हैं।

प्रकरण १४

यात्रा के साधन

(७४) बहली—१११७ (सं० बाह्याली) = एक प्रकार की छतरीदार बैलगाड़ी, जिसका ऊपरी भाग तथा छतरी इक्के की छतरी से मिलती-जुलती होती है, *बहली* या *मँझौली* कहलाती है।

(७५) भारकस—१०७० (फा० बारकश)—जनपदीय जन जिन बैलगाड़ियों में माल ढोते तथा यात्रा करते हैं, वे गाड़ियाँ *भारकस* कहलाती हैं।

(७६) रब्बा—११२१ (अ० अरावा) = एक प्रकार की बैलगाड़ी जिसकी छतरी आयताकार होती है और जो आकार तथा आकृति में रहलू से कुछ मिलती-जुलती है *रब्बा* कहलाती है।

प्रकरण १५

कृषक का धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन

(७७) किंगड़ो—१२५४ = इकतारे से मिलता-जुलता एक बाजा जिसमें दो-तीन गोदे होते हैं और जो सारंगी की भाँति गज की रगड़ से बजता है।

(७८) घारगीत—[illegible] = नगरकोटवासी (दुर्गादेवी) की पूजा में प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में गाया जाने वाला एक गीत। इसे *विहान* भी कहते हैं।

(७९) नौरता—११६२ = (सं० नवरात्रक) क्वार और चैत की नौरातियाँ सं० नवरात्रिका)—आश्विन तथा चैत्र मास के शुक्ल पक्ष—में प्रतिपदा से नवमी तक के नौ दिन में गाये जाने वाले विशेष गीत।

(८०) भाँड़ी—१३११ = एक प्रकार का मर्दाना नाच जिसमें पेड़ू, कमर और कूल्हे को विशेष रूप से मटकाया जाता है।

भारतीय हिंदी परिषद्

के

त्रयोदश वार्षिक अधिवेशन, नागपुर

का

विवरण

भारतीय हिंदी परिषद् का पिछला अधिवेशन २८, २९ तथा ३० दिसम्बर १९५५ को नागपुर विश्वविद्यालय में सम्पन्न हुआ। सर्व प्रथम वहाँ के उपकुलपति पं० कुंजीलाल दुबे ने अपने स्वागत-भाषण में नागपुर-विश्वविद्यालय द्वारा हिंदी के क्षेत्र में हुई प्रगति की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की। दुबे जी ने बताया कि इंटरमीडिएट स्तर तक सभी विषयों की पाठ्य पुस्तकें विश्वविद्यालय द्वारा हिंदी में तैयार की जा चुकी हैं और आगामी वर्ष में बी-एस-सी० की भी ६ पाठ्य पुस्तकों को हिंदी में प्रकाशित करने की योजना है। यही नहीं, गत दो वर्षों से नागपुर विश्वविद्यालय की ओर से इस बात का भी प्रयत्न किया जा रहा है कि अखिल भारतीय प्रतियोगिता परीक्षाओं में सम्मिलित होने वाले परीक्षार्थियों को इस बात की सुविधा प्रदान की जाए कि यदि वे चाहें तो हिंदी माध्यम से ही प्रश्नों के उत्तर लिख सकते हैं। पंडित दुबे ने यह भी सूचना दी कि वहाँ की १९५४ ई० की बी० ए० परीक्षा के १४०० उत्तीर्ण परीक्षार्थियों में अंग्रेजी माध्यम वाले परीक्षार्थियों की संख्या केवल ४३४ थी।

उक्त अधिवेशन का संक्षिप्त विवरण 'हिंदी-अनुशीलन', वर्ष ८ के अंक ३ में प्रकाशित किया जा चुका है। आगामी पृष्ठों में सम्पूर्ण विवरण विस्तार से दिया जा रहा है।

सम्पादक

उद्घाटन भाषण

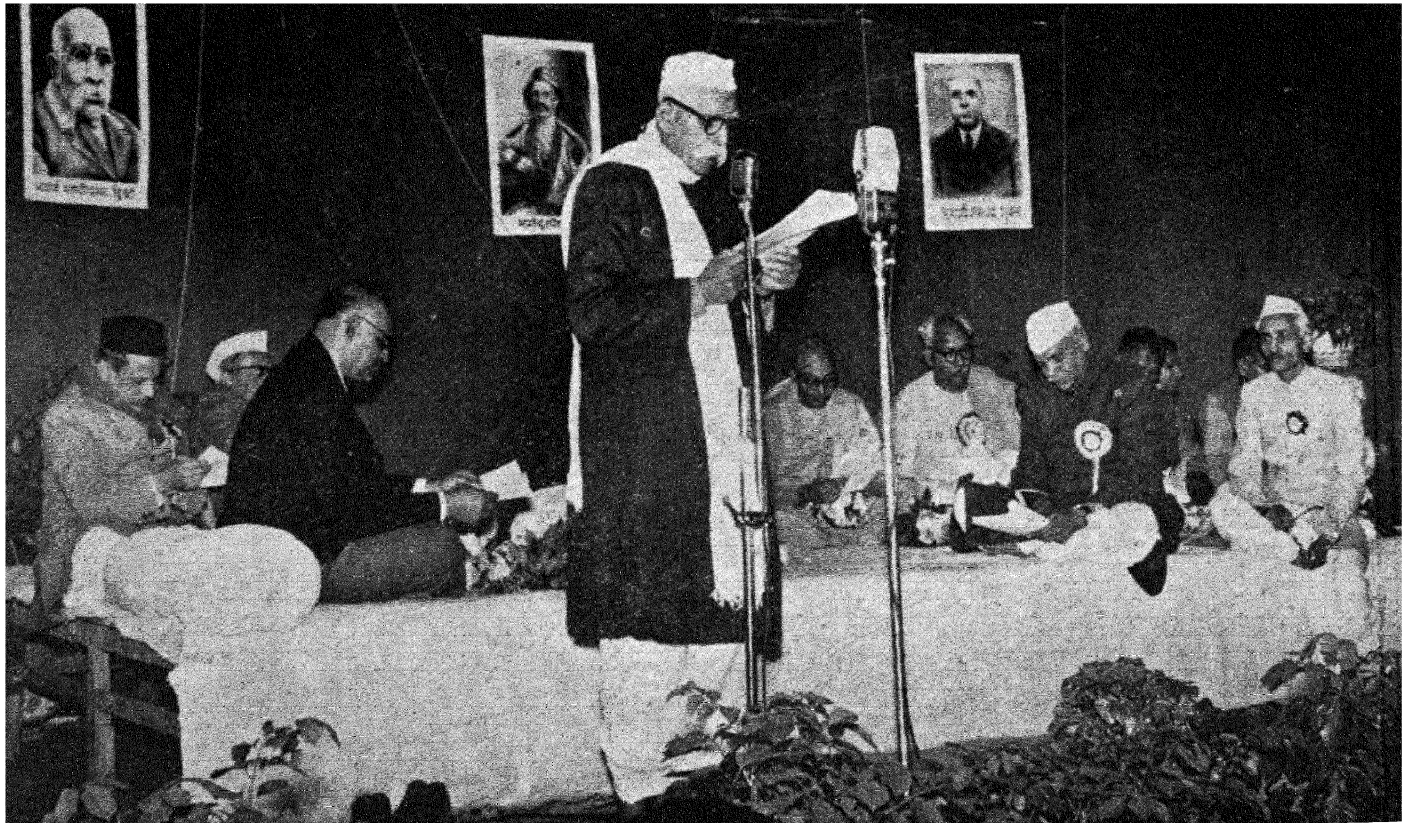
[बुधवार, दिनांक २८ दिसम्बर, १९५५]

प० रविशंकर शुक्ल, मुख्य मंत्री, मध्यप्रदेश

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, स्वागताध्यक्ष पंडित कुंजीलाल दुबे, हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वानों, देवियों तथा सज्जनों !

आज नागपुर में भारतीय हिन्दी परिषद् का तेरहवाँ अधिवेशन हो रहा है। आपको विदित ही है कि भारतीय हिन्दी परिषद् का उद्देश्य हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के अध्ययन तथा अन्वेषण-कार्य को प्रोत्साहित करना है और विशेष रूप से उसकी गति का निरीक्षण करना है। संविधान द्वारा अंग्रेजी के स्थान में हिन्दी को राज-भाषा स्वीकार करने के बाद हिन्दी के ऊपर एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ गया है। हिन्दी अब केवल साहित्य-क्षेत्र की ही भाषा नहीं रही, वरन् अब वह कानून, विज्ञान आदि अनेक क्षेत्रों की भाषा भी हो गई है। उसके प्रयोग के क्षेत्र का विस्तार होते ही हमारे सामने अनेक गंभीर समस्याएँ उपस्थित हो गई हैं, इन विविध आवश्यकताओं के लिये हमें हिन्दी की अभिव्यक्ति-शक्ति बढ़ानी है। विश्व की अन्य बड़ी भाषाओं में यह सब एक ऐतिहासिक विकास के रूप में हुआ है। परन्तु अंग्रेजी शासन काल में हिन्दी साहित्य और हिन्दी भाषा को समुचित विकास का अवसर प्राप्त नहीं हो सका। आज हमें यह विकास थोड़े से समय में करना है और इस अल्प काल में हिन्दी भाषा को इतना समृद्ध तो बना ही देना है कि जिससे हमारा राजकाज और शिक्षा की व्यवस्था उसके माध्यम से की जा सके। इसका भार आज हिन्दी के साहित्यकारों, अध्यापकों और विद्वानों के कंधों पर आ पड़ा है। हिन्दी के लेखकों को एक शक्तिशाली बहुमुखी साहित्य का निर्माण करना है, हिन्दी के अध्यापकों को विद्यार्थियों में हिन्दी साहित्य और भाषा के प्रति श्रद्धा और अध्ययन की वृत्ति उत्पन्न करना है एवं हिन्दी के विद्वानों को उसके रूप, उसके व्याकरण, उसकी पारिभाषिक शब्दावली आदि से संबंधित सभी समस्याओं को गंभीर चिन्तन और अन्वेषण द्वारा शीघ्रातिशीघ्र सुलझाना है।

हिन्दी के राज-भाषा बनते ही जो समस्याएँ हमारे सामने उपस्थित हुई हैं वे प्रधानतः चार हैं। हिन्दी का रूप क्या हो ? हिन्दी में सर्वमान्य शब्दावली का निर्माण किस पद्धति से किया जाए ? देवनागरी लिपि को आधुनिक आवश्य-



माननीय पंडित रविशंकर शुक्ल उद्घाटन भाषण देते हुए

बाएँ से दाएँ—प्रो० ना० नागप्पा, सभापति, विचार-गोष्ठी। डा० सोमनाथ गुप्त, सभापति, निबंध-गोष्ठी, भदंत आनन्द कौसल्यायन, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, सभापति, भा० हि० परिषद्, पं० कुंजी लाल दुबे, कुलगुरु, नागपुर विश्वविद्यालय, स्वागताध्यक्ष, प्रो० विनय मोहन शर्मा, स्वागत मंत्री और सभापति, विचार-गोष्ठी।

कताओं के अनुसार कैसे सक्षम बनाया जाए ? एवं हिन्दी के प्रचार करने और अध्ययन-अध्यापन का स्तर ऊंचा करने के लिए क्या-क्या किया जाए ? सबसे पहला प्रश्न हिन्दी के रूप का है। संविधान की धारा ३५१ के अनुसार राज-भाषा के विकास की ओर दिशा-निर्देश किया गया है, वैसे सामाजिक, राजनैतिक विचार-धाराओं का प्रभाव भाषा पर पड़ता अवश्य है, किन्तु भाषा की मौलिक प्रकृति इन सब तूफानों के बीच अपनी रक्षा करती चली जाती है। आज से १०० साल पहले हिन्दी और उर्दू का झगड़ा राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द और सर सैयद के बीच उठ खड़ा हुआ था। उसके बाद अभी कुछ समय पहिले एक नया झगड़ा हिन्दी और हिन्दुस्तानी का चल निकला था। आज भी किन्हीं कारणों से हिन्दी के क्षेत्र में यह मतभेद चला जा रहा है। किन्तु इस मतभेद में अब कोई सार नहीं है। आज की प्रचलित और साहित्यिक हिन्दी ने अपने द्वार सभी दिशाओं में खोल रखे हैं। उसमें संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी आदि सभी भाषाओं के शब्दों का समावेश हो चुका है और जैसे ही दक्षिणी भारत के लोग हिन्दी में साहित्य की रचना करना शुरू करेंगे, वैसे ही उन भाषाओं के शब्द और मुहावरे भी हिन्दी में सम्मिलित होते चले जाएंगे। किन्तु यह सब एक स्वाभाविक क्रम से होगा। आज तो हिन्दी के सामने न केवल उर्दू या फारसी वरन उन सभी भाषाओं से समन्वय स्थापित करने का प्रश्न है जो कि द्राविड भाषाएं कहलाती हैं और भारत के दक्षिणी भागों में बोली जाती हैं और जिनके बोलने वालों को भारतीय साहित्य और संस्कृति की महान धारा से समय समय पर लाभ होता रहा है। इसीलिए संविधान ने बड़ा सूझ-बूझ के साथ हिन्दी के विकास के लिए यह निर्देश दिया है कि :—

"हिन्दी भाषा की प्रसार-वृद्धि करना, उसका विकास करना ताकि वह भारत की सामाजिक संस्कृति के सब तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किये बिना हिन्दुस्तानी और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावलि को आत्मसात करते हुए तथा जहां आवश्यक या वांछनीय हो वहां उसके शब्द-भंडार के लिये मुख्यतः संस्कृत से तथा गौणतः वैसी उल्लिखित भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्त्तव्य होगा।"

"It shall be the duty of the Union to promote the spread of the Hindi language, to develop it so that it may serve as a medium of expression for all the elements of the composite culture of India and to secure its enrichment by assimilating without interfering with its genius, the forms, style and expressions used in Hindustani and in the other languages of India specified in the Eighth Schedule, and by drawing, wherever necessary or desirable, for its vocabulary, primarily on Sanskrit and secondarily on other languages."

के कारण झुकते हैं। हो सकता है कि शब्द-निर्माण के प्रारम्भिक प्रयत्नों में पद्धति का पूरा और व्यवस्थित विकास न होने के कारण संस्कृत का आवश्यकता से अधिक सहारा लिया गया हो। किन्तु जहाँ तक मैं सोचता हूँ इस दिशा में समन्वय का दृष्टिकोण ही सब से अच्छा है। जो यत्न अतिरेकपूर्ण होते हैं उन्हें समाज स्वीकार नहीं करता। मैं तो "प्रयोगमूलक समन्वय" का समर्थक हूँ। इस नए शब्द को जान-बूझकर मैं कह रहा हूँ। प्रयोग किए बिना प्रगति सम्भव नहीं, परन्तु वे प्रयोग इस दिशा में किए जाएँ कि उनके द्वारा ऐतिहासिक दृष्टि से एक समन्वय स्थापित होता चला जाए।

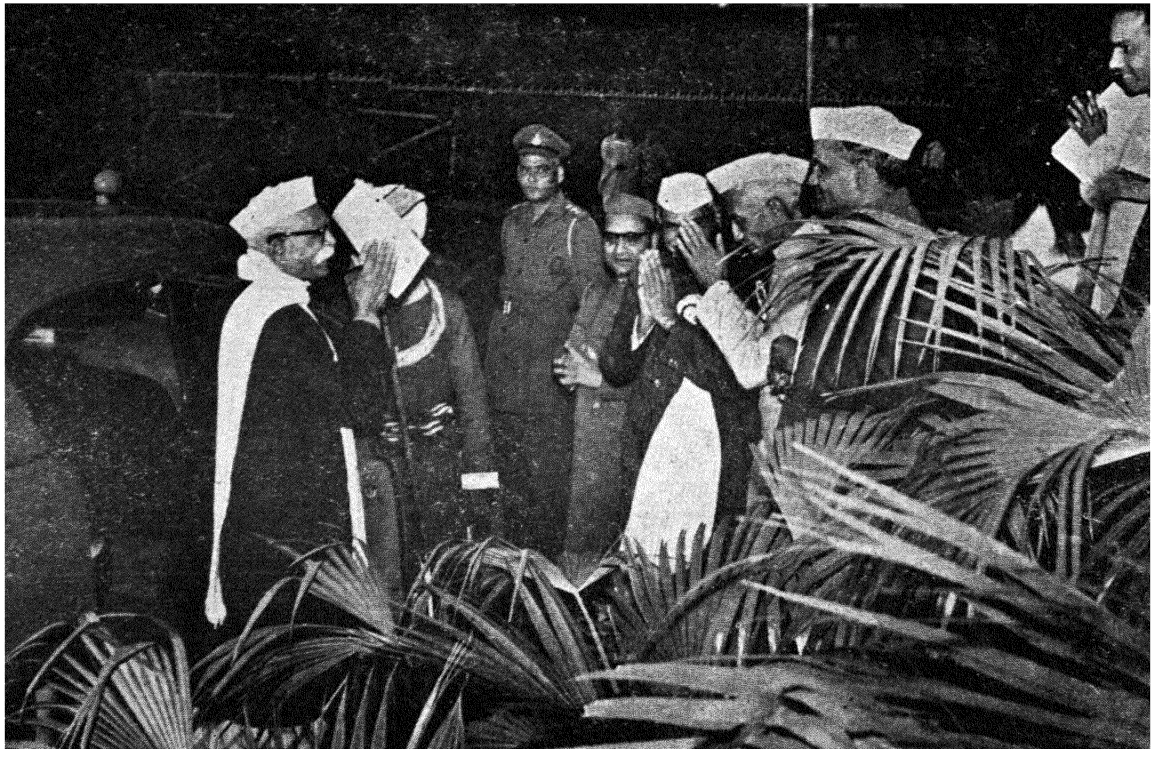
यही बात मैंने लिपि के क्षेत्र में भी स्वीकार की है। लखनऊ की कान्फ्रेंस में जो लिपि स्वीकार की गई है उसके सारे उपयोगी अंशों को मध्यप्रदेश शासन ने मान लिया है। परन्तु जो सुधार हमारे आज तक सारे ग्रंथों की लिपि से बहुत ही भिन्न रूप उत्पन्न करते हैं और आगे की पीढ़ी के सम्मुख अपनी परम्परा से निकट सम्बन्ध स्थापित करने में बाधा उपस्थित करते हैं, उन्हें स्वीकार नहीं किया गया। लिपि भाषा के ध्वनिरूप को बाँधने का एक साधन है। ध्वनियों के बाँधने का तरीका शब्द के रूप को स्थिर करता है और भाषा की मौलिकता की रक्षा करने में सहायक होता है। हलन्त या किसी ऐसे ही प्रयोग से बनाए जाने वाले शब्दों के उच्चारण कालान्तर में बिगड़ जाते हैं और वे पूरी भाषा में विकार उत्पन्न करने लगते हैं। जैसे प्रकार यदि परकार बन जाए, नम्र यदि नरम बन जाए, प्रयत्न यदि परयतन बन जाए तो भाषा के मूल स्वरूप को ही ठेस पहुँच सकती है। यंत्र की आवश्यकताओं के अनुसार लिपि में परिवर्तन नहीं, वरन लिपि आवश्यकताओं के अनुसार यंत्र में परिवर्तन ही स्वस्थ सिद्धान्त हो सकता है। मुझे बताया गया है कि चीनी और जापानी टाइपराइटरों में २०० या ३०० कुंजियाँ (कीज) होती हैं। हम कुंजियों (कीज) को कम करने, मात्राओं में सुधार करने, लिपि में गति लाने की कोशिश करें। लेकिन ऐसा कोई भी प्रयोग नहीं करना चाहिए जो राष्ट्रभाषा के स्वरूप और गठन में ही परिवर्तन कर दे और परम्परागत मूलधारा से उसे विच्छिन्न कर दे।

हिन्दी के सम्बन्ध में निष्पक्षता और उत्तरदायित्व के साथ-साथ एक वैज्ञानिक मनोवृत्ति से विचार कर निर्णय देने का अन्तिम अधिकार और उत्तरदायित्व भारतीय हिन्दी परिषद् जैसी संस्था और उसके विद्वान संयोजकों का है। यह केवल मान्यताओं के आधार पर ही नहीं, वरन प्रयोगों और अनुभवों के आधार पर भी। हिन्दी के प्राध्यापकों और आचार्यों को आज बहुत सी बातों पर प्रामाणिक मत देना है। अहिन्दीभाषियों के बीच अध्ययन कर उनकी भाषा-सम्बन्धी, व्याकरण-सम्बन्धी कठिनाइयों की तालिकाएं बनानी हैं। उनकी भाषाओं से निकट सम्पर्क स्थापित कर इस बात का पता लगाना है कि हिन्दी का उन भाषाओं से किस मात्रा तक सामंजस्य किया जा सकता है। हिन्दी की बेसिक (आधार) शब्दावली तैयार करनी है जो कि हिन्दी सीखने वालों के लिए

भारतीय हिंदी परिषद्

त्रयोदश वार्षिक अधिवेशन, नागपुर

२८, २९, ३० दिसंबर, १९५५



माननीय पंडित रविशंकर शुक्ल अधिवेशन का उद्घाटन करने के बाद नागपुर विश्वविद्यालय के दीक्षांत भवन से जा रहे हैं।

पुस्तकें तैयार करने में प्रमाणिक मानी जा सके, इसके साथ ही साथ हमें हिन्दी के अध्यापन का स्तर तो अवश्य ही उठाना है। आज हिन्दी के अध्यापक इस बात को न भूलें कि हिन्दी के प्रति उपेक्षा और अश्रद्धा उत्पन्न हो तो उसका उत्तरदायित्व सब से अधिक उन्हीं पर होगा। सारे विश्वविद्यालयों में हिन्दी की पाठ्यपुस्तकों का एक अखिल राष्ट्रीय और प्रामाणिक रूप देना अत्यंत आवश्यक है। साहित्य का उदार और निष्पक्ष चयन तथा नव साहित्य का मार्गदर्शन करने के लिए हमारे अध्यापकों को अपनी प्रादेशिक सीमा से उठ कर विशाल राष्ट्रीय मंच पर खड़ा होना पड़ेगा। उन्हें हिन्दी को आधुनिक विचार के प्रशस्त मार्ग पर प्रेरित करना होगा --वैज्ञानिक दोहन से लेकर मौलिक क्रियात्मकता का शक्तिशाली माध्यम बनाना होगा।

राज-भाषाओं को प्रवर्तित करने में जो अनुभव मुझे प्राप्त हुए हैं, और समय-समय पर इस सम्बन्ध में जो विचार मेरे मन में उठते रहे हैं, मैंने संक्षेप में उन्हें ही आप के सामने रखने का प्रयत्न किया है। मैं आशा करता हूँ कि आप इन सारी समस्याओं पर विचार करेंगे और राष्ट्र के सामने प्रामाणिक हल उपस्थित करेंगे।

भारतीय हिन्दी परिषद् १३ वर्षों से हिन्दी सम्बन्धी कार्य कर रही है। किन्तु पिछले ५-६ वर्षों में जो बातें उसके सामने आई हैं वे हिन्दी के लिए अभूतपूर्व हैं और मुझे पूरी आशा है कि भारतीय हिन्दी परिषद् जैसी संस्थाएं ऐसे समय में राष्ट्र का सच्चा मार्गदर्शन कर सकती हैं। आपने मुझे जो इस परिषद् का उद्घाटन करने का गौरव प्रदान किया है, उसके लिए मैं हृदय से आप का आभार मानता हूँ और उसकी सफलता के लिए शुभ कामनाएं व्यक्त करता हूँ।

जय हिन्द !

सभापति का भाषण

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

मित्रो,

आपने भारतीय हिन्दी परिषद् के इस अधिवेशन का सभापति चुनकर मुझे जो गौरव दिया है उसके लिये मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि यहाँ एक-से-एक विद्वान बैठे हुए हैं, सभी मुझसे सब प्रकार से बड़े हैं किन्तु फिर भी आपने जो मुझे यह सम्मान दिया है उसे मैं आपके स्नेह और विश्वास का ही निदर्शन मानता हूं। आज हम अपने देश के साहित्य और भाषा के इतिहास के बहुत महत्त्वपूर्ण मोड़ पर आ गए हैं। यहाँ बहुत सावधानी और साहस की आवश्यकता है। यहाँ से गलत कदम उठाने का मतलब है दीर्घकाल तक के लिये भटकने को बाध्य होना। इसीलिये आज के हमारे इस अधिवेशन का बड़ा ही महत्त्व है। मैं जानता हूँ कि इस महत्त्वपूर्ण समय में जिस सूझ, साहस और धैर्य की आवश्यकता है वह मुझमें बिलकुल नहीं है। किन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि हमारी इस परिषद् में ऐसे अनेक विद्वज्जन हैं जिनमें ये गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। इन विद्वानों के सम्मिलित बल का ही मुझे भरोसा है। मुझे इस अवसर पर सबसे बड़ा दुःख यह है कि आज हमारे बीच डा० अमरनाथ झा जैसे दीर्घ-दृष्टि-सम्पन्न और निर्भीक साहसी पथ-प्रदर्शक नहीं हैं। झा जी सच्चे अर्थों में बौद्धिक नेता थे। वे अपने स्वर्गवास के समय काशी नागरीप्रचारिणी सभा जैसी गौरवशालिनी हिन्दी-संस्था के सभापति थे और राष्ट्रपति द्वारा नियोजित राजभाषा-आयोग के महत्त्वपूर्ण सदस्य थे। विश्व-विद्यालयों में साहित्य के शिक्षण का स्तर ऊँचा करने और नयी पीढ़ी के विद्यार्थियों में विद्या के प्रति सहज अनुराग और दृढ़ चरित्र-बल उत्पन्न करने में उनकी अद्भुत शक्ति परीक्षित हो चुकी थी। यह हमारे लिये परम दुर्भाग्य का विषय है कि वे उसी समय महाकाल देवता के दरबार में बुला लिए गए, जिस समय उनकी सबसे अधिक जरूरत थी। मेरा विश्वास है कि इतिहास-विधाता अमंगल के भीतर से भी मंगल का निर्देश किया करते हैं। और इसीलिये मैं सोच रहा हूँ कि झा जी के अचानक स्वर्गवास का भी उनकी दृष्टि में कुछ अर्थ होगा। जो हो, इस समय तो हम शोक से अभिभूत हैं और कुछ सूझ नहीं पड़ता कि ऐसे महान् बौद्धिक नेता का पथ-प्रदर्शन हमें कैसे प्राप्त होगा। भरे हृदय से हम

भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि झा जी का व्यक्तित्व परलोक से भी हमारा मार्ग प्रदर्शन करता रहे।

मुझे इस बात से बड़ी प्रेरणा अनुभव हो रही है कि हम लोग अद्धेय पं० रविशंकर शुक्ल के प्रदेश में यह अधिवेशन कर रहे हैं। शुक्ल जी से बढ़कर प्रेरणा और स्फूर्ति देनेवाला व्यक्तित्व इस समय हिंदी में नहीं है। आपने अपार साहस और अद्भुत अभिनिवेश के साथ हिन्दी को और मराठी को अपने-अपने क्षेत्र में राजभाषा के स्थान पर अभिषिक्त किया है। आपने दिखा दिया है कि काम करने का तरीका क्या है। यह हमारे लिये बड़े सौभाग्य की बात है कि हम आज के अत्यन्त गुरुतर संधि-क्षण में शुक्ल जी का नेतृत्व और आशीर्वाद प्राप्त करने का शुभ अवसर पा सके हैं।

हम लोग विश्वविद्यालयों में अध्यापन कार्य करते हैं। हमारा मुख्य आलोच्य विषय यही है कि हम विश्वविद्यालयों में सम्प्रति होने वाले अध्ययन और अध्यापन का स्तर किस प्रकार ऊंचा करें, शोध कार्य को किस प्रकार अधाधिक, गंभीर और उच्चस्तरीय बनाएं। हिन्दी के अध्यापन और शोध कार्य को, अन्यान्य विषयों के इन्हीं कार्यों की तुलना में अधिक महत्त्व मिलना चाहिए, क्योंकि हम केवल अध्ययन-अध्यापन और शोध का कार्य ही नहीं करते, भारतवर्ष के नये साहित्य का निर्माण भी कर रहे हैं। इसीलिये अन्यान्य विषयों की भाँति हम केवल शुष्क ज्ञान दान से ही सन्तुष्ट नहीं रह सकते। हमारे द्वारा किया हुआ प्रत्येक काम नवीन भारतवर्ष के साहित्यिक निर्माण की ईंट का काम कर रहा है। इन दिनों नाना कारणों से हिन्दी की ओर लोगों की दृष्टि आकृष्ट हुई है और इसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव विश्वविद्यालयों के शिक्षण कार्य पर पड़ रहा है। केवल इसी दृष्टि से हमें इस पर ध्यान देना आवश्यक है।

(१) हिन्दीतर प्रान्तों के अनेक शिक्षार्थी छात्र हमारे विश्वविद्यालयों में हिन्दी की उच्च शिक्षा पाने के लिये आ रहे हैं और विभिन्न विषयों के शोध कार्य में भी जुटे हुए हैं। यद्यपि हमारी केन्द्रीय सरकार ने इस प्रकार के साहित्यिक अध्यवसाय को उचित मात्रा में प्रोत्साहन नहीं दिया है परन्तु इस बात के लक्षण दिखलाई देने लगे हैं कि वह एकदम निश्चेष्ट भी नहीं है। आशा करनी चाहिए कि शीघ्र ही इस प्रकार के अध्यवसाय को सरकार की ओर से अधिकाधिक प्रोत्साहन और प्रश्रय दिया जाएगा और हिन्दीतर प्रान्तों के सैकड़ों विद्यार्थी हमारे विश्वविद्यालयों में ऊंची शिक्षा पाने के लिये और शोध कार्य करने के लिये उत्साहित होंगे। विभिन्न प्रादेशिक साहित्यों के वातावरण में पले हुए ये शिक्षार्थी हिन्दी साहित्य को नवीन पार्श्वों से देखने का अवसर पाएंगे। उनकी दृष्टि सब समय हमारी धारणाओं के साथ मेल नहीं भी खा सकती है। हम लोग जिस प्रकार से अपने साहित्य के इतिहास को देखते आ रहे हैं वह इन नवीन कोणों से देखनेवाले जिज्ञासुओं द्वारा किस प्रकार आलोचित होगा यह कहना बड़ा कठिन है परन्तु मुझे इस बात में रंचमात्र भी संदेह नहीं है कि नवीन संपर्कों के कारण

हमारी बहुत-सी धारणाएँ बदलेंगी और भारतवर्ष के विभिन्न साहित्यों के साथ हिन्दी साहित्य की युक्त वेणी निकट भविष्य में एक सर्व-भारतीय साहित्य की सृष्टि करेगी। यह बहुत महत्त्वपूर्ण और मंगलजनक संवाद है।

(२) यह सौभाग्य की बात है कि इन दिनों भारतवर्ष के प्रादेशिक साहित्यों के प्रति सर्वत्र प्रबल जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। भारतवर्ष की प्रायः सभी भाषाओं में नितर प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का थोड़ा बहुत अनुवाद होने लगा है। हिन्दी में तो यह क्रम और भी पुष्ट होकर प्रकट हो रहा है। ऐसा जान पड़ता है कि थोड़े ही दिनों में प्रादेशिक भाषाओं का बहुत ही मूल्यवान साहित्य संगृहीत हो जाएगा और इसी प्रकार दूसरे प्रदेशों में थोड़ा बहुत हिन्दी का साहित्य भी संगृहीत हो जाएगा। मुझे ऐसा लग रहा है कि यह क्रम ठीक से चलता रहा तो आगामी दस वर्षों के भीतर केवल नवीन भारतीय साहित्य की रूपरेखा ही स्पष्ट न हो उठेगी बल्कि हमें उस आधुनिक भारतीय दृष्टि का भी सन्धान मिलेगा जो पिछले डेढ़ दो-सौ वर्षों के पाश्चात्य संपर्क और संघर्ष से निखरी है। इस प्रकार भारतवर्ष के प्रत्येक क्षेत्र के साहित्यिक की दृष्टि अधिक परिष्कृत, अधिक उदार और अधिक परिमार्जित होती जाएगी। मेरी दृष्टि में यह दूसरा शुभ लक्षण है।

(३) हिन्दी आन्दोलन का स्वरूप भी बदलने जा रहा है। हमारे हिन्दी प्रदेशों में संघर्ष का प्रथम रूप था हिन्दी और उर्दू की प्रतिद्वन्द्विता। इसने अन्त में साम्प्रदायिक रूप धारण किया और दोनों ही भाषाओं के साहित्यिकों में अस्वस्थ मनोवृत्ति पैदा की। परिणाम यह हुआ कि हममें सहज भाषा के स्थान पर कृत्रिम और बोझिल भाषा गढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ती गई। हिन्दी क्षेत्रों के बाहर इस ऐतिहासिक विकास की अवस्था को समझने में प्रायः गलती की जाती है। सौभाग्य से अब वह अवस्था समाप्त हो गई है और हम स्वस्थ और सहज गति को अपनाते जा रहे हैं। उर्दू हिन्दी से कोई भिन्न भाषा नहीं थी। सच पूछिए तो जिस खड़ी बोली को आज हमने अपने सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक विचारों और व्यवहारों का वाहन बनाया है उसे पहले पहल मुसलमान भाइयों का ही आश्रय अधिक प्राप्त था। इस भाषा के पुराने अस्तित्व के बारे में शंका उत्पन्न करना हमारा उद्देश्य नहीं है। भाषा तो दिल्ली के आसपास पहले से ही विद्यमान थी—नाथों, निरंजनियों और निर्गुणियों के पुराने पदों में उसका थोड़ा-बहुत प्रयोग भी मिल ही जाता है, किन्तु उसे साहित्यिक और सामाजिक विचारों के लिये अपने क्षेत्र से बाहर ले जाने और लोकप्रिय बनाने में मुसलमान साहित्यकारों का बड़ा हाथ रहा। हिन्दू साहित्यकार अधिकतर ब्रजभाषा, अवधी, डिंगल, मैथिली आदि भाषाओं में ही अपने धार्मिक और काव्य जातीय साहित्य का निर्माण करते रहे। वस्तुतः ये भाषायें ही प्राकृत और अपभ्रंश से प्राप्त साहित्यिक परंपरा की वास्तविक उत्तराधिकारिणी हैं। संयोगवश बाहर जिस खड़ी बोली को मुसलमान कवियों और लेखकों का आश्रय प्राप्त हुआ वह पुरानी परम्परा से क्रमशः दूर ही हटता गया। १८ वीं शताब्दी के अन्त में हिन्दी के गद्य-लेखकों ने इस नयी भाषा को

(अर्थात मुसलमान भाइयों द्वारा साहित्यिक प्रयोग के लिये नवीकृत रूप को) ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली आदि के साहित्य में उपलब्ध पुरातन सांस्कृतिक परम्परा के साथ जोड़ दिया। इस प्रकार मुसलमान भाइयों द्वारा सवारी और मांजी हुई भाषा में जो कमी रह गई थी उसे १८ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में पूरा कर दिया गया। ज्योंही उसे यह सहारा प्राप्त हुआ, त्योंही साहित्यिक वाहन के रूप में खड़ी बोली देखते देखते समूचे उत्तर भारत में व्याप्त हो गई। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में तो वह देश की सर्वाधिक शक्तिशालिनी भाषा के रूप में प्रकट हुई। कुछ लोगों को यह देखकर आश्चर्य होता है कि यह डेढ़ सौ वर्षों की भाषा कैसे इतनी व्यापक और महत्त्वपूर्ण हो गई। वस्तुतः यह शक्तिशालिनी भाषा डेढ़ सौ वर्षों की नहीं थी। डेढ़ सौ वर्ष पहले यह विशाल भारतीय साहित्यिक परम्परा के साथ पुनर्मिलित हुई थी। जिस समय यह पुनर्मिलन हुआ उस समय इस मिलन को गलत समझा गया। विदेशी शासकों की कृपा से इसके महत्त्व को अधिकाधिक गलत समझने का क्रम चलता रहा। जिस बात से मैत्री बढ़नी चाहिए थी उससे द्वेष और शत्रुता का वातावरण उत्पन्न कर दिया गया। अब स्थिति बहुत कुछ सुलझ गई है और हम सहज भाव से सोचने और समझने की स्थिति में आ गए हैं। अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि उर्दू का पूरा साहित्य देवनागरी अक्षरों में आ जाय तो हिन्दी भाषा के लिये बहुत बड़ा शक्ति का स्रोत सिद्ध होगा। वस्तुतः हिन्दी और उर्दू दो भाषाएं हैं ही नहीं। केवल लिपि के कारण इन्हें दो भाषाएं मान लिया गया है और मध्यवर्ती काल की संकीर्ण साम्प्रदायिकता के कारण अधिकाधिक कृत्रिम भाषा बनाने की रुग्ण मनोवृत्ति ने दोनों के व्यवधान को आवश्यकता से अधिक बढ़ा दिया है। इस सहज और स्वाभाविक मनोवृत्ति का क्रमशः पुष्ट होना मुझे तीसरा शुभ लक्षण जान पड़ता है। हिंदी और उर्दू का व्यवधान जितना ही कम होगा उतना ही मंगलजनक होगा।

(४) हिन्दी प्रचार का एक दूसरा आन्दोलन देश की भाषागत विभिन्नता को दूर करने के उद्देश्य से चलाया गया। जिस समय देश में राष्ट्रीयता की लहर अपनी सर्वाधिक ऊंचाई पर थी उस समय राष्ट्रभाषा की आवश्यकता समझी गई और किसी भी क्षेत्र से उसका कोई कड़ा विरोध नहीं हुआ। किन्तु ज्योंही स्वाधीनता प्राप्त हुई और विदेशी शत्रु को उखाड़ फेंकने की लालसा तृप्त हुई त्योंही एक भाषा का प्रश्न अपने वास्तविक रूप में उपस्थित हुआ। वस्तुतः यह नया प्रश्न एक भाषा या राष्ट्रभाषा का नहीं है, बल्कि राजभाषा का है। राजकीय भाषा होने का मतलब है अनेक प्रकार की ऊंची सरकारी नौकरियों का विषय बनना। हाईकोर्ट, सुप्रीम कोर्ट के जज और वकील, पार्लियामेन्ट के सदस्य, विभिन्न क्षेत्रों से सर्व भारतीय सेवाओं के प्रार्थी तथा विविध विश्वविद्यालयों के उच्चतर शिक्षा वितरण करनेवाले प्राध्यापक, सभी किसी-न-किसी प्रकार इसकी लपेट में आ जाते हैं। विदेशों के राजदूत, विभिन्न औद्योगिक अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालक, विभिन्न वैज्ञानिक अनुसन्धानों के पुरस्कर्ता और विविध शिल्प-कौशलों

के विशेषज्ञ भी राजभाषा की लपेट में आ जाते हैं। इसीलिये हिन्दी के इस नये रूप के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। कुछ तो पुराने अभ्यास के कारण विदेशी भाषा को छोड़ना नहीं चाहते कुछ ऐसे पुराण पंथी हैं कि परिवर्तन मात्र से घबरा उठते हैं और कुछ लोग ऐसे हैं जिन्हें अपने देश की भाषाओं के प्रति किसी प्रकार की आस्था और विश्वास ही नहीं है। ऐसे लोग तरह तरह के आरोप लगाने लगे हैं। कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दी का कोई परिनिष्ठित (स्टैंडर्ड रूप) ही नहीं है; न इसमें वाक्यगठन की कोई एकरूपता है, न किसी एक रूप व्याकरण की सम्भावना ही। इस तर्क का वास्तविक अर्थ यह है कि हिन्दी कोई भाषा ही नहीं है! कुछ और लोग हैं जो इतना तो मान लेते हैं कि हिन्दी का एक रूप है किन्तु उन्हें यह यकीन ही नहीं होता कि इस भाषा में कोई साहित्य भी है। आज से कोई तीस या चालीस वर्ष पहले किसी ने कहा था कि आधुनिक खड़ी बोली में साहित्य का अभाव है। तब से गंगा जमुना का बहुत-सा जल समुद्र में गिर चुका किन्तु ये लोग भले आदमियों की तरह उसी पुराना बात पर अड़े हैं यदि तीस वर्ष पहले कोई साहित्य नहीं था तो आज भी नहीं है! इस प्रकार की बातें बिना समझे बूझे ही की जाती हैं। एक तीसरी श्रेणी के लोग हैं जो यह कहते हैं कि प्रान्तीय भाषाओं में कदाचित सभी ऐसी हैं जिनका आधुनिक साहित्य हिन्दी के समकक्ष है और कुछ तो ऐसी हैं जिनका साहित्य अधिक समृद्ध भी है। ऐसी स्थिति में प्रादेशिक भाषाओं से हिन्दी में ऐसी कौन-सी विशेषता है जिसके कारण हम अपनी प्रान्तीय भाषाओं को छोड़कर इस असमृद्ध भाषा का सहारा लें। अगर हमें किसी बाहरी भाषा का आश्रय ही लेना है तो अंग्रेजी क्या बुरी है, उसी को क्यों न राजभाषा स्वीकार कर लिया जाय। अन्तिम विश्लेषण के बाद ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी के राजभाषा के प्रश्न को अब दो दृष्टियों से देखना चाहिए - हिन्दी बनाम अंग्रेजी, और हिन्दी बनाम प्रादेशिक भाषाएँ। हिंदी की अंग्रेजी के साथ तो अवश्य प्रतिद्वंदिता है, अन्य भारतीय भाषाओं की भी अंग्रेजी के साथ प्रतिद्वंदिता है, किन्तु हिंदी का अन्य भारतीय प्रादेशिक भाषाओं से कोई संघर्ष नहीं है। जो लोग ऐसा समझते हैं वे अकारण आशंकित हैं। मैं इस सम्बन्ध में कोई निर्णय या फैसला देने नहीं जा रहा हूँ। मैंने इस विषय में अपने को सब प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त रखने का प्रयत्न किया है। हम विश्व-विद्यालयों के अध्यापकों के लिये इस प्रश्न पर केवल उतनी ही दूर तक विचार केन्द्रित करने की आवश्यकता है जितनी दूर तक वह हमारे विश्वविद्यालयों के अध्ययन, अध्यापन और शोध कार्य को प्रभावित कर रहा है। मुझे जान पड़ता है कि यद्यपि इस दृष्टि से विचार करनेवालों का तर्क बहुत कुछ गलतफहमी और गलत जानकारियों पर अवलम्बित है तथापि हिन्दी के कार्यकर्ताओं के लिये वह एक चुनौती का भी काम करता है। क्या कारण है कि इस प्रकार का भ्रम अभी भी फैला हुआ है? क्या हमारे विश्वविद्यालयों के प्रोफेसरों ने और शोध कार्य करनेवालों ने ऐसा कोई गंभीर और ठोस प्रयत्न किया है जिससे हम अहिन्दी भाषी विद्वानों को बता सकें कि हमारी भाषा का यह परिनिष्ठित रूप है, इस

प्रकार का परिनिष्ठित व्याकरण है, और उसकी अमुक प्रकार की वाक्य-बन्ध की प्रणाली है। फिर मैं पूछना चाहता हूँ कि हमलोगों ने क्या कोई ऐसा प्रयत्न किया है जिससे इस देश में अन्य क्षेत्रों में काम करनेवाले विद्वान या इस देश के बाहर के जिज्ञासु पंडित समझ सकें कि हिन्दी के आधुनिक लेखक किन नवीन प्रेरणाओं से चालित हुए हैं, संसार की विचार धारा में उनका उल्लेख-योग्य दान क्या है, किस प्रकार के साहित्य-रूपों और शैलियों के प्रयोग से उन्होंने भाषा में कौन-सी अभिव्यंजना प्रदान की है और ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में इस भाषा ने क्या और कितना जोड़ा है। हमारे पास किस प्रकार का सूचनात्मक साहित्य है और किस श्रेणी का रचनात्मक साहित्य है। जब तक हम ऐसा कुछ प्रयत्न नहीं करते तब तक बाहर के लोग यदि भ्रान्त धारणाएं बना बैठें तो सिर्फ उन्हें ही दोष नहीं दिया जा सकता। साधारणतः मैं इस प्रकार की चर्चा से विरत ही रहता हूँ। लेकिन यह ऐसी बातें हैं कि इनसे विश्वविद्यालयों के अध्यापक चाहें भी तो नहीं बच सकते। यह उनका दायित्व है। इसलिये मैंने यहाँ इसकी चर्चा की है। मैं भारतीय हिन्दी परिषद् के कर्मठ सदस्यों से अनुरोध करता हूँ कि वे इसे ध्यान में रखें और ऐसा कुछ करें जिससे यह भ्रान्तियाँ अधिक न फैलने पाएं।

मित्रो, निःसन्देह अंग्रेजी बहुत समृद्ध भाषा है। आज लगभग आधी दुनिया में इसी का बोलबाला है। केवल अंग्रेजों ने ही इस भाषा को समृद्ध नहीं बनाया बल्कि संसार भर के समुन्नत देशों के पंडितों ने उसको ज्ञान के प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन बना दिया है। पिछले सौ डेढ़-सौ वर्षों में हमारे देश के भी अनेक श्रेष्ठ पंडितों ने इसी भाषा में अपने विचारों और खोजों को लिपिबद्ध किया है। हमारे इस देश के धर्माधिकरण के क्षेत्र में और प्राचीन विद्याओं के शोध-संबंधी क्षेत्र में जो कुछ श्रेष्ठ है वह सब इसी भाषा में सुरक्षित है। हमारे जन-समूह के परिगणन और विश्लेषण संबंधी साहित्य, हमारी भाषाओं के परिगणन और विश्लेषण संबंधी विवरण और हमारी प्राकृतिक संपत्ति के सम्बन्ध में सारा लेखा-जोखा इसी भाषा के भांडार में सुरक्षित है। परन्तु इतने दिनों के सर्वव्यापी प्रभाव के होते हुए भी अंग्रेजी भारतवर्ष की एक प्रतिशत जनता से अधिक विस्तार में नहीं जा सकी है। अंग्रेजों के इस देश से हटते ही उसके अध्ययन और जानकारी का स्तर इतने वेग से नीचे उतरने लगा है कि हमारी पुरानी पीढ़ी के बुद्धिमान लोग अत्यन्त चिन्तित हो उठे हैं। यह निश्चित है कि अंग्रेजी भाषा हमारे सारे जन-समूह की भाषा नहीं हो सकती। विदेशी प्रभुत्व से आक्रान्त होने के कारण हमारी देशी भाषाएं अब तक दबी हुई थीं, वे अब सिर उठा रही हैं। अब तो अंग्रेजी उतने से अधिक का दावा नहीं कर सकेगी जितना वस्तुतः उसे प्राप्य है। मेरे विचार से इस देश में कुछ-कुछ अंग्रेजी का प्राप्य अवश्य है। हम चाहें भी तो अंग्रेजी को अपने स्थान से हटा नहीं सकते। परन्तु उसका स्थान निश्चित और सीमित है। जो लोग हमारे पुराने इतिहास का शोध करेंगे या संसार के उन भागों से अपना संपर्क स्थापित करना चाहेंगे, जहाँ अंग्रेजी

अन्तर-राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्वीकृत है, उन्हें अवश्य अँग्रेजी पढ़नी होगी। परन्तु यह समझना कि सारा देश-का-देश इस विदेशी भाषा में विशेषज्ञता प्राप्त करेगा अपने आप को धोखा देना है। देशी भाषाएँ अपना उचित स्थान ग्रहण करेंगी और अँग्रेजी को उन सब स्थानों से हटना पड़ेगा जहाँ उसने अनुचित रूप से और अस्वाभाविक रूप से प्रवेश किया है। इसलिये प्रश्न वस्तुतः हिन्दी और अँग्रेजी के झगड़े का नहीं है। यह अवश्य है कि हिन्दी को अँग्रेजी की समूची समृद्धि प्राप्त करने के लिये दीर्घकाल तक साधना करनी पड़ेगी। इस देश में ऐसे लोग हैं जिन्हें पर्याप्त रूप में अनुभवी और समझदार समझा जाता है, परन्तु जो इस मामूली सी बात को नहीं समझ पाते कि हिन्दी प्रयत्न करके उसी प्रकार अँग्रेजी के समकक्ष हो सकती है जिस प्रकार अँग्रेज शासकों को हटाकर भारतीय लोग उनके समक्ष, और कई बार उनसे बढ़कर भी, हो गए हैं। ऐसे बुद्धिमान लोग मनुष्य की कर्मशक्ति में विश्वास ही नहीं रखते। कभी-कभी उच्च पदस्थ लोग भी अँग्रेजी और संस्कृत आदि भाषाओं के पक्ष में ऐसी बहकी हुई बात कर जाते हैं जो न तो उनकी मर्यादा के अनुकूल होता है और न भारतीय जनता की सम्मिलित सुबुद्धि द्वारा उद्भावित अपने संविधान के ही अनुरूप होता है। ये लोग अपने अविचारित वक्तव्यों के द्वारा जनता में यह भ्रम फैलाते हैं कि भारतीय जनता का कोई भी निर्णय अन्तिम निर्णय नहीं होता। उसे जब कभी और जिस किसी मौके पर बदल दिया जा सकता है। जो हो कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाय अब जनता की भाषाओं को उनके उचित अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकेगा।

जहाँ एक ओर हमारी भाषाओं का यह दौर्बल्य है कि उनमें अपने देश को अपने आधुनिक अर्थों में शिक्षित और सुसंस्कृत बनाने योग्य साहित्य नहीं है वहीं हमारी यह बड़ी भारी शक्ति भी है कि हमें संस्कृत-जैसी एक ऐसी भाषा का उत्तराधिकार प्राप्त है जिसमें किसी भी विचार को स्पष्ट करने योग्य शब्द देने की अपार शक्ति है। संस्कृत भाषा कामधेनु के समान है। उससे आप जो चाहिए प्राप्त कर सकते हैं। अगर हमको अपने साहित्य में नये विचारों को व्यक्त करनेवाले शब्द भांडार की आवश्यकता है तो संस्कृत के सिवाय दूसरी गति नहीं। संस्कृत से निरन्तर प्रेरणा और शब्द भांडार पाते रहना परम सौभाग्य की बात है। परन्तु यह समझना कि संस्कृत कभी इस देश की राजभाषा बन सकेगी, गलत ढंग से सोचने का नतीजा है। संस्कृत सदा हमारी प्रेरणादायी भाषा रही है और रहेगी। मुझे अत्यन्त खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि आजकल हिन्दी के कुछ विद्वानों ने संस्कृत की उपेक्षा शुरू की है। वे कहते हैं कि हिन्दी संस्कृत से स्वतन्त्र भाषा है, इसलिये हिन्दी के विद्वान के लिये संस्कृत की जानकारी आवश्यक नहीं है। मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि स्वतन्त्र भाषा होने के कारण संस्कृत की जानकारी प्राप्त करने में क्या अड़चन आ जाती है। अँग्रेजी से भी तो हिन्दी स्वतन्त्र है। जितनी वह संस्कृत से स्वतन्त्र है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक वह अँग्रेजी से

स्वतन्त्र है। परन्तु क्या यह सत्य नहीं है कि आज भी हिन्दी भाषा और साहित्य की बारीकियों के विश्लेषण और चिन्तन के लिये और उन्हें ठीक-ठीक प्रकट करने के लिये अंग्रेजी की जानकारी आवश्यक है? स्वतन्त्र भाषा होने मात्र से हिन्दी का विद्वान अपने को संस्कृत की जानकारी से वंचित नहीं रख सकता। वस्तुतः हमारा वह समूचा ज्ञान और समस्त परम्परा जो हमारे विचारों, शैलियों और शब्द भांडार को चरितार्थ कर रही है संस्कृत में ही सुरक्षित है। इसलिये संस्कृत की पूर्ण जानकारी हिन्दी की सेवा के लिये आवश्यक है। उसकी उपेक्षा करने से हमारी भाषा और अभिव्यक्ति-शैली कमजोर हो जाएगी और अपने ही देश में दूसरे प्रदेशों में फैली हुई भाषाओं के यथार्थ स्वरूप को समझने में हमें कठिनाई होगी। जिस प्रकार संस्कृत या अंग्रेजी को राजभाषा के रूप में स्वीकार करने की सलाह देने वाले भ्रम पैदा किया करते हैं उसी प्रकार हिन्दी को स्वतन्त्र भाषा मानने की आड़ में अंग्रेजी या संस्कृत को न पढ़ने की सलाह देने वाले भी भ्रान्ति ही फैलाते हैं। हमें उन्मुक्त आधुनिक दृष्टि पाने के लिये जिस प्रकार अंग्रेजी का अध्ययन करना आवश्यक हो गया है उसी प्रकार अपनी भाषा, शब्द-भांडार, संस्कृति और परम्पराओं की गहराई में जाने के लिये संस्कृत भाषा की पढ़ाई परमावश्यक है। संस्कृत की उपेक्षा करने से हम उस विशाल साहित्य को उत्पन्न करने में एकदम अशक्त हो जाएंगे जिसकी आज सर्वाधिक आवश्यकता है।

मित्रो, सन् १९५० में हमारी संविधान-सभा ने हिन्दी को भारतवर्ष की राजकीय भाषा बनाने का निश्चय किया था। जैसा कि मैंने पहले ही कहा है राजकीय भाषा की लपेट में हमारे सभी श्रेष्ठ बौद्धिक स्थान आ जाते हैं। हमारे सबसे उच्च न्यायालय और विश्वविद्यालय भी इसकी लपेट में आ जाते हैं। बिना विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त किए न तो देश में उत्तम श्रेणी के कानून-विशेषज्ञ पाए जा सकते हैं न प्रथम श्रेणी के अध्यापक और प्रशासक ही। पाँच वर्ष बीत गए लेकिन हिन्दी को उस महान पद के उपयुक्त बनाने की दिशा में कुछ भी प्रयत्न नहीं किया गया। केन्द्रीय सरकार ने सिर्फ कुछ 'प्राविजनल' शब्दों का निर्माण किया है। आजतक न अंग्रेजी के श्रेष्ठ ग्रन्थों का अनुवाद हुआ है न ला रिपोर्टों और विश्वविद्यालीय पाठ्यक्रमों को रूपांतरित करने का प्रयत्न ही किया है। मैं अत्यन्त दुःख के साथ कहना चाहता हूं कि पाँच मूल्यवान वर्षों को हमने व्यर्थ खो दिया है। न तो हिन्दी राज्यों की सरकारों ने ही लगन के साथ और सम्मिलित भाव से कोई प्रयत्न किया, न केन्द्रीय सरकार ने ही। अब हमारे पास केवल दस वर्ष रह गए हैं। इन दस वर्षों के ही भीतर हिन्दी को तथा अन्य देशी भाषाओं को उन सब उच्च स्थानों पर अधिकार करना है जिनपर अनुचित और अस्वाभाविक रूप से अंग्रेजी भाषा ने अधिकार कर रखा है। मेरा अनुमान है कि आगामी दस वर्षों में हमें कम-से-कम दो लाख शब्दों के बारे में निर्णय करना पड़ेगा कि इनके स्थान पर देशी भाषाओं के कौन से शब्द रखे जायँ या

कितनी दूर तक अंग्रेजी की शब्दावली ही देशी उच्चारण के अनुकूल बनाकर अपना ली जाय। इसका मतलब यह हुआ कि प्रति वर्ष कम से कम हमें २० हजार शब्दों के निर्माण की गति से चलना है। जहाँ तक अंग्रेजी भाषा का हिन्दी में रूपान्तर करने का प्रश्न है वहाँ तक हमें नवीन शब्दों के निर्माण की ओर प्रयत्नशील होना ही है। परन्तु मैं अपने अनुभव के बल पर कहना चाहता हूँ कि केवल शब्दों के स्थान पर प्रतिशब्द रख देने मात्र से अनुवाद का कार्य नहीं चल सकता। हमें सैकड़ों वाक्यांशों का भी ललित और गठित हिन्दी में रूपान्तर करना है। मेरा अनुमान है कि कम से कम छ हजार ऐसे वाक्यांशों का हमें तुरन्त अनुवाद करना पड़ेगा। इसी प्रकार अनेक कानूनी मसविदों का भी प्रामाणिक हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित होना चाहिए। मैं इस विषय का जानकार नहीं हूँ लेकिन अनुमान से कह सकता हूँ कि कम से कम पाँच सौ मसविदे जो विभिन्न प्रकार के कानूनी और राजकीय कार्यों में निरन्तर व्यवहृत हो रहे हैं तुरन्त हिन्दी में आ जाने चाहिए। महत्त्वपूर्ण ला रिपोर्ट, हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट के फैसले और पार्लियामेन्ट तथा प्रादेशिक धारा-सभाओं द्वारा पास किए हुए कानूनों का हिन्दी रूपान्तर तुरन्त प्रकाशित होना चाहिए। पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृत और अब भी व्यवहार में आने वाले कानून (unrepealed acts) लगभग दस हजार पृष्ठों के हैं। इनका भाषान्तर तो अवश्यमेव करना ही पड़ेगा। अनुमानतः लगभग १० से २० हजार तक पारिभाषिक शब्द इनमें व्यवहृत हुए होंगे। एक बार इस काम को हाथ में ले लिया जाय तो कानूनी कार्रवाई के लगभग सभी शब्द अनायास बन जाएंगे। लगभग दस हजार पृष्ठों में अन्य महत्त्वपूर्ण कानून कार्रवाई को आरम्भिक कार्य के लिये समेट लेना पड़ेगा। यह बहुत आवश्यक काम है। इसके आरम्भ करने में एक क्षण का भी विलंब नहीं होना चाहिए। जनता को अपनी भाषा में न्याय प्राप्त करने के अधिकार से बहुत देर तक वंचित नहीं किया जा सकता। मेरा अनुमान है कि इस कार्य को यदि लगन से किया जाय तो आगामी दस वर्षों में कम-से-कम बीस हजार पृष्ठ की सामग्री हिन्दी में रूपांतरित करके छापनी पड़ेगी। अर्थात् प्रतिवर्ष कम-से-कम २ हजार पृष्ठ की छपाई और अनुवाद प्रतिवर्ष आवश्यक होगा। इस प्रकार हिन्दी को सरकारी दफ्तरों में प्रवेश कराने के लिए प्रतिवर्ष कम-से-कम २० हजार नये शब्दों का निर्माण; ६ सौ वाक्यांशों का गठन; लगभग सौ मसविदों का हिंदी रूपान्तर और दो हजार पृष्ठों की कानूनी कार्यवाही सम्बन्धी सामग्री हमें अविलंब प्रकाशित करनी पड़ेगी। ये काम साथ-साथ चलते रहेंगे। उदाहरणार्थ, जिन ला-रिपोर्टों और कानूनों का रूपान्तर होगा उनसे नये शब्द और वाक्यांश प्राप्त होंगे और उनका निर्माण तत्काल कर लिया जाएगा। जब तक इस प्रकार की किसी कार्य समिति का संघटन नहीं किया जाता तब तक यह कार्य ठीक गति से चल नहीं सकता। मैं तो इस बात के पक्ष में भी हूँ कि यदि उचित शब्द न प्राप्त होते हों तो अंग्रेजी के शब्द भी तब तक स्वीकार कर लिए जायँ जब तक उनके लिए देशी भाषा का उपयुक्त शब्द नहीं प्राप्त होता। हमारे ज्योतिष शास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने ग्रीक और अरबी

भाषा से शब्द लेने में भी संकोच नहीं किया है। ज्ञान के क्षेत्र में छुत-छात का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, शब्दों को लेने के समय इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि वे हमारे उच्चारण पद्धति के अनुकूल हों और देवनागरी लिपि में सरलता से लिखे जाते हों। मैं समझता हूँ कि हिन्दी को सरकारी भाषा बनाने के लिये यह कम-से-कम कार्य है। विभिन्न राज्यों और केन्द्र की सरकारों से हम अब भी आशा रखते हैं कि वे समय न नष्ट करें और निश्चित समयसारिणी बनाकर इतना कार्य कर दें। यह इतना महत्त्वपूर्ण कार्य है कि केन्द्रीय सरकार को इसके लिये एक पृथक् मंत्रालय स्थापित करने में भी नहीं हिचकना चाहिए।

किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि केवल दफ्तरों में आ जाने से हिन्दी भाषा में वह शक्ति आ जाएगी जो आधुनिक युग में उन्मुक्त और उदार दृष्टि की प्रतिष्ठा करती है और संसार के जटिलतर होते जाने वाले रूप को समझने और सहज बनाने में सहायक हो सकती है। हिन्दी का साहित्य भी पूर्ण रूप से समृद्ध होना चाहिए। इसके लिये कला, विज्ञान, दर्शन, सामाजिक विज्ञान, शिल्प शास्त्र, औद्योगिक शास्त्र आदि के सम्बन्ध में ऐसी पुस्तकों का निर्माण अति आवश्यक है जिनका स्तर ऊँचा हो और भाषा सहज हो। सहज, अर्थात विषय के गाम्भीर्य के और प्रवाह के अनुरूप। सरलता के नाम पर कृत्रिम और अशक्त भाषा के बनाने के पक्ष में मैं नहीं हूँ। वस्तुतः भाषा सहज होनी चाहिए, न कृत्रिम और न दुरूह। इसके लिये कम-से-कम दो हजार पुस्तकों के निर्माण और अनुवाद की योजना तुरन्त बनानी चाहिए। प्रतिवर्ष कम-से-कम दो सौ पुस्तकें अवश्य तैयार हो जानी चाहिए। हिन्दी और अन्य प्रान्तीय भाषाओं के शब्दकोष, मुहावरों का कोष और शब्दसमूह तथा व्याकरण ग्रन्थों की विशेष आवश्यकता है। इस प्रकार विभिन्न भाषाओं के कोष, व्याकरण आदि के लिये कम-से-कम २२० पुस्तकों की योजना बनानी चाहिए। यह संख्या मैंने १४ भाषाओं को दृष्टि में रखकर निश्चित की है। लेकिन जैसा कि मैंने पहले ही कहा है अंग्रेजी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसलिये कम से कम तीन विभिन्न साइजों के हिन्दी अंग्रेजी और अंग्रेजी-हिन्दी कोष भी बनने चाहिए। इस तरह यह संख्या ३६ को के आस पास पहुँच जाएगी। इसी प्रकार दो आकारों के विभिन्न भाषाओं के अच्छे व्याकरणों की भी आवश्यकता है। यह संख्या तीस होगी। फिर विश्वकोष की भी बहुत बड़ी आवश्यकता है। यदि हम पाँच हजार पृष्ठों के हिसाब से दस वर्षों में विश्वकोष के निर्माण और प्रकाशन की योजना बनाएं तो सन १९६८ तक बीस जिल्दों में पचास हजार पृष्ठों का विश्वकोष तैयार कर सकते हैं। इन कार्यों को अर्थात उत्तम साहित्य के अनुवाद, कोश और व्याकरण संबंधी ग्रन्थ और विश्वकोश बनाने के काम सरकार को स्वयं अपने हाथ में नहीं लेना चाहिए। इस कार्य को विभिन्न संस्थाओं को आर्थिक सहायता देकर करा लेना चाहिए। इसी कार्य के साथ एक महत्त्वपूर्ण कार्य और है। वह है ऐतिहासिक अभिलेखों और फरमान आदि का प्रामाणिक हिन्दी रूपान्तर। अनुमानतः लगभग पाँच हजार अभिलेख और फरमान हिन्दी

रूपान्तर के साथ प्रकाशित हो जाने चाहिए। इस कार्य को भी किसी संस्था के द्वारा करवाना उचित होगा। कुछ विश्वविद्यालयों को भी इन कार्यों में अग्रणी होना चाहिए। हमारे विश्वविद्यालयों में पिटे पिटाए मार्ग पर चलने-चलाने की प्रवृत्ति ही जोरों पर है। समय आ गया है जब उन्हें अधिक निर्माण-शक्ति का और उद्भाविनी वृत्ति का परिचय देना चाहिए।

यह जनता की कम-से-कम माँग है। यदि हम सचमुच भारतवर्ष की भाषाओं को उन्नत और समृद्ध बनाना चाहते हैं और अपने देशवासियों को देशी भाषा के माध्यम से शिक्षित और सुसंस्कृत बनाना चाहते हैं तथा देशी भाषा के द्वारा उनके झगड़ों का फैसला सुनाना चाहते हैं तो यह कम-से-कम करणीय कार्य है। मैं दृढ़ता के साथ कहना चाहता हूँ कि यह भारतीय जनता का जन्मसिद्ध अधिकार है। कोई सरकार इसकी उपेक्षा नहीं कर सकती। देश की जनता को अपनी भाषा में उच्चतर ज्ञान प्राप्त करने, कौशल सीखने और न्याय प्राप्त करने का जन्मसिद्ध अधिकार है। किसी कठिनाई का बहाना बनाकर इस अधिकार की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

यहाँ यह उल्लेख आवश्यक है कि कई राज्यों की सरकारों ने उच्च स्तर के साहित्य-निर्माण में कुछ-कुछ योग भी दिया है। बिहार राष्ट्र भाषा-परिषद् ने बिहार राज्य-सरकार की सहायता से अनेक मूल्यवान ग्रन्थों का प्रकाशन कराया है। श्रद्धेय श्री शिवपूजन सहाय जी की तपस्या और सेवा ने इसे प्रथम श्रेणी का कार्य बना दिया है। मध्य-प्रदेश की सरकार ने भी इस प्रकार की एक शासन-साहित्य-परिषद् स्थापित की है, और आशा की जानी चाहिए, कि वह भी महत्त्व-पूर्ण साहित्य का प्रकाशन करेगी। उत्तर-प्रदेशीय-सरकार ने भी हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्य के प्रकाशन के लिये एक बड़ी योजना बनाई है। हिन्दी के श्रद्धेय साहित्य-कार डा० संपूर्णानन्द जी की छत्रच्छाया में यह कार्य सुचारुरूप से संपन्न होगा, ऐसी आशा है। हमारी पुरानी संस्था नागरी-प्रचारिणी-सभा ने नवीन उत्साह के साथ बड़े-बड़े कार्यों को आरम्भ किया है। हिन्दी-शब्द-सागर के संशोधन के लिये केन्द्रीय सरकार ने उसे एक लाख रुपयों की सहायता दी है। सभा ने हिंदी-साहित्य के बृहद् इतिहास की भी योजना बनाकर काम शुरू कर दिया है जिसमें उसे अनेक राज्यों की सरकारों ने आर्थिक सहायता दी है। केन्द्रीय सरकार की सहायता से सभा ने आकर ग्रन्थ-माला की योजना चालू की है और माननीय सेठ घनश्यामदास जी बिड़ला की सहायता से महत्त्वपूर्ण प्राचीन हस्तलेखों के प्रकाशन के लिये राजा बलदेवदास बिड़ला-ग्रन्थ-माला की भी योजना बनाई है। उत्तर-प्रदेश की सरकार की उदार सहायता से सभा ने १९२६ ई० के बाद से पड़े हुए अमुद्रित खोज विवरणों के चार जिल्द प्रकाशित कर दिए हैं और आशा की जा रही है कि बाकी सामग्री के प्रकाशन के लिये उत्तर-प्रदेश की सरकार से उसको उदार सहायता प्राप्त होगी। मुझे यह बताने में अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि हस्त-लिखित ग्रन्थों की खोज को प्रोत्साहन देने के लिये उत्तरप्रदेश की सरकार ने

वार्षिक सहायता की मात्रा ढाई गुनी अर्थात् दो हजार के स्थान पर पाँच हजार कर दी है। सभा का यह महत्त्वपूर्ण कार्य कई वर्षों से शिथिल पड़ गया था अब उसमें कुछ तेजी आने लगी है। परन्तु यह कार्य और भी बड़े पैमाने पर होना चाहिए। उत्तरप्रदेश की सरकार की सहायता से केवल उत्तरप्रदेश में ही ग्रन्थों की खोज की जा रही है। किन्तु अभी भी उत्तरप्रदेश के बाहर यह खोज का कार्य नहीं के बराबर ही हुआ है। विंध्यप्रदेश की सरकार की एक हजार की सहयता से सभा ने विंध्यप्रदेश में जो कार्य करवाया है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। मुझे यह प्रसन्नता है कि विंध्यप्रदेश की सरकार ने इस सहायता को कुछ और बढ़ा देने का निश्चय किया है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास के शोध और पुनर्गठन की दृष्टि से यह कार्य बहुत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। बिहार राज्य की सरकार ने बिहार-राष्ट्र-भाषा परिषद् को सहायता देकर यह कार्य भी शुरू किया है किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि हस्त-लिखित ग्रन्थों के विवरण लेने का कार्य एक ही केन्द्रीय संस्था के द्वारा हो तो अच्छा हो। संग्रह और सम्पादन का कार्य अलग-अलग राज्य करें तो उचित ही होगा, किन्तु जहाँ तक ग्रन्थों के विवरण लेने का प्रश्न है वह यदि एक ही केन्द्रीय संस्था के द्वारा हो तो शोध कार्य को बहुत बल मिलेगा। मेरी दृष्टि में नागरी-प्रचारिणी-सभा इस कार्य के लिये सर्वाधिक अनुभवी और उपयुक्त संस्था है। वह सर्व भारतीय संस्था है इसलिये उसके द्वारा हिन्दी-राज्यों की सभी सरकारें आसानी से काम करा सकती हैं। राजस्थान से भी हस्तलिखित ग्रन्थों के कुछ महत्त्वपूर्ण विवरण प्रकाशित हुए हैं, किन्तु मुझे ठीक पता नहीं कि राजस्थान की सरकार ने इसमें क्या सहायता की है। मैं समझता हूँ इस कार्य को और अधिक उत्साह से बड़े पैमाने पर शुरू करना चाहिए। हमारी पुरानी संस्थाओं में हिन्दुस्तानी एकेडेमी भी महत्त्वपूर्ण साहित्य का प्रकाशन करती जा रही है। परन्तु मुझे इस बात का बड़ा दुःख है कि हमारा सबसे प्रमुख संगठन हिन्दी साहित्य सम्मेलन, अभी भी मुकदमे के दलदल में फँसा हुआ है। हमें बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस मामले में हम हिन्दी-भाषियों ने अपने आप को दुनियाँ की दृष्टि में ऊँचे नहीं उठाया है। जैसे भी हो हमें अपनी इस महत्त्वपूर्ण संस्था को इस दलदल से उबारना ही चाहिए। मुझे यह जानकर हर्ष हुआ है कि हमारे साहित्य के मनीषियों ने इस समस्या को हल करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है। आशा करनी चाहिए कि इस विषय में साधारण हिंदी जनता की सम्मिलित इच्छा-शक्ति की विजय होगी, और सम्मेलन का मामला सुलझ जाएगा। जो लोग सम्मेलन के भाग्य का फैसला मुकदमा लड़के करना चाहते हैं वे भी अपने ढंग से सम्मेलन का कल्याण ही चाहते होंगे किंतु जिस हिन्दी-भाषी सामान्य जनता के सम्मिलित शुभ-संकल्प और अपराजेय निष्ठा के बल पर सम्मेलन शक्तिशाली संस्था बना है वह निश्चित रूप से चाहती है कि सम्मेलन की शक्ति छोटे-छोटे झगड़ों में समाप्त न होकर देश के लिये कल्याण-जनक रचनात्मक कार्यों में लगे। आज का प्रत्येक दिन अत्यन्त मूल्यवान है। आपसी झगड़ों में हम जितना भी समय नष्ट कर रहे हैं वह हमारी

प्रगति को अधिक से अधिक पीछे ढकेल रहा है। आशा की जाए, कि अंग्रेजी नये वर्ष का प्रथम दिन सम्मेलन के दुर्दिन के अवसान का दिन होगा।

यद्यपि सम्मेलन पर ग्रहण लगा हुआ है तथापि वह कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों का संचालन अब भी किए जा रहा है। यह प्रसन्नता की बात है कि सम्मेलन ने एक अच्छा अंग्रेजी-हिंदी का बृहत् कोष इसी बीच तैयार कराया है। वस्तुतः हिंदी में कोष-रचना का कार्य अब भी बाल्यावस्था में ही है। इस प्रसंग में हमें इस बात का उल्लेख करते हुए हर्ष हो रहा है कि हमारे वयोवृद्ध कोषकार श्री रामचन्द्र जी वर्मा ने हिंदी-पर्याय-मालाओं का कार्य आरंभ किया है जो बहुत उपयोगी है। उनकी 'शब्द-साधना' नाम की पुस्तक अभी प्रकाशित हुई है। इस वृद्धावस्था में स्वास्थ्य ठीक न रहने पर भी वर्मा जी जिस उत्साह से कार्य कर रहे हैं, वह अनुकरणीय है। मेरा विचार है कि वर्मा जी को उत्साह-परायण नवयुवकों और आवश्यक द्रव्य की सहायता देकर यथाशीघ्र ही यह विशाल कार्य पूरा करा लेना चाहिए। केन्द्रीय सरकार ने साहित्य अकादमी की स्थापना करके सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के प्रकाशित ग्रन्थों की सूची बनवाने का कार्य आरम्भ किया है जो निस्संदेह अभिनंदनीय है। अकादमी विभिन्न भारतीय भाषाओं को एक दूसरे के निकट लाने का जो प्रयत्न कर रही है वह श्लाघ्य है। हिन्दी भाषी क्षेत्र के बाहर 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा', 'राष्ट्र-भाषा-प्रचार समिति' आदि महत्त्वपूर्ण गैर-सरकारी संस्थाओं ने बहुत ही प्रशंसनीय कार्य किए हैं। यह सन्तोष की बात है कि हिन्दी प्रचार के साथ ही साथ ये संस्थाएं तत्तद् प्रदेशों में प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य के उन्नयन और शोध का भी प्रयास कर रही हैं। हिन्दी भाषी प्रान्त के बाहर कई विश्वविद्यालयों ने हिन्दी को अनिवार्य या ऐच्छिक विषय बनाया है। कलकत्ता, विश्वभारती, पूना, बम्बई और हैदराबाद आदि विश्वविद्यालयों ने हिन्दी में स्नातकोत्तर शिक्षा की भी अच्छी व्यवस्था की है। कलकत्ता विश्वविद्यालय तो इस विषय में सबका अगुआ ही है। इस प्रकार प्रसार की दृष्टि से हिंदी का काम थोड़ा बहुत आगे ही बढ़ा है। परन्तु इससे हिंदी की आवश्यकताएं और भी बढ़ गई हैं और हमारा प्रयत्न-दारिद्र्य और भी नग्न रूप में प्रकट हुआ है। यह समय है जब हिंदी के अध्यापकों और शोधप्रिय छात्रों को अक्लान्त भाव से काम करने की आवश्यकता है।

एक और आवश्यक और विचारणीय विषय की ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। ज्यों ज्यों हिन्दीतर प्रान्तों के विद्यार्थी विश्वविद्यालयों की उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने के लिये अग्रसर होते जा रहे हैं त्यों त्यों यह स्पष्ट होता जा रहा है कि ऐसे विद्यार्थियों के लिये हिन्दी के अनेक उपभाषाओं के साहित्य को पढ़ाना कठिन होता जा रहा है। वस्तुतः उन्हें हिन्दी के नाम पर कई ऐसी भाषाएं पढ़नी पड़ती हैं जिनसे हिन्दी-भाषी विद्यार्थी तो पूर्ण परिचित होता है लेकिन अहिन्दी-भाषी के लिये वे बहुत-कुछ नवीन भाषा के रूप में सामने आती हैं। मेरे एक दक्षिण भारतीय विद्यार्थी ने बताया कि आपके विश्वविद्यालयों में

हमें अनेक भाषाएँ हिन्दी के नाम पर सीखनी पड़ती हैं। मुझे ऐसा लगता है कि गैर हिन्दी-भाषी विद्यार्थियों के लिए एक ऐसा पाठ्यक्रम निश्चित होना चाहिये जिसमें खड़ी बोली के साहित्य का प्राधान्य हो। हमारी अन्य उपभाषाओं के पूर्ववर्ती साहित्य का ज्ञान उन्हें हिन्दी साहित्य के इतिहास और आलोचना-संबंधी ग्रंन्थों के माध्यम से ही कराना चाहिए।

मित्रो, आज आलस्य छोड़कर काम करने की आवश्यकता है। आपके सामने अनेक होनहार विद्यार्थी हैं जो काम चाहते हैं। इस महान् जनशक्ति को उपयोगी कामों में लगाना आवश्यक है। विश्वास के साथ और दृढ़ता के साथ यदि हम काम करना चाहें तो संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है। मैं हिन्दी को संसार की श्रेष्ठ भाषाओं के समकक्ष बनाने के कार्य को बिलकुल ही असाध्य नहीं मानता। यदि यह असाध्य भी होता तो भी हमें करना तो पड़ता ही। हमारे सौभाग्य से हमें संस्कृत भाषा की अपार निर्मात्री शक्ति प्राप्त है और देशी भाषाओं में हजारों की संख्या में ऐसे अर्थप्रसू शब्द हैं जो अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं है। कोई कारण नहीं कि हम अपनी भाषा को संसार की श्रेष्ठ भाषाओं के समकक्ष न बना सकें। हम महान् देश के निवासी हैं और महान साहित्य और सांस्कृतिक परम्परा के उत्तराधिकारी हैं। हम हार मानने को तैयार नहीं हैं—

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः॥

हिन्दी में विविध साहित्य निर्माण की योजना

गोष्ठी-सभापति प्रो० विनयमोहन शर्मा का भाषण

देवियो तथा सज्जनो, आज की कार्यवाही की अध्यक्षता के लिए पहले डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी जी का नाम प्रस्तावित किया गया था, परन्तु त्रिपाठी जी कार्याधिक्य के कारण यहाँ नहीं आ सके। वे राजभाषा आयोग के सदस्य हैं और बहुत संभव है कि वे इस समय इस प्रदेश में भी न हों, इसलिए आज के कार्य-संचालन के लिए कार्यसमिति को यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि वह किसी एक व्यक्ति को काम चलाऊ सभापति चुनकर बैठाये। और चूँकि स्वागत-समिति के एक सदस्य के नाते हमारा काम ही सेवा करना है इसलिए यह सेवा-कार्य भी जो मुझे मिला है उसे स्वीकार करना मेरे लिए सौभाग्य की बात है।

आज का विषय 'हिन्दी में विविध साहित्य निर्माण की योजना' है और इस विषय के प्रवर्त्तक डाक्टर श्री माताप्रसाद जी गुप्त हैं। मैं डाक्टर साहब से इस विषय में अपने विचार रखने के लिए अनुरोध करने के पूर्व दो शब्द आपसे कहना चाहता हूँ।

हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में अहिन्दी-क्षेत्रों में अनेक प्रकार की किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। जब मैं दक्षिण में जाता हूँ तो लोग तरह-तरह के प्रश्न पूछते हैं और कहते हैं कि हिन्दी में साहित्य ही कहाँ है! यदि है तो अल्प है, और नगण्य है। फिर उसको पढ़ाने के लिए हमें क्यों बाध्य किया जाता है! उसमें ऐसी कौनसी चीज है जो हमारे साहित्य से अनूठी हो, भिन्न हो! वे कहते हैं कि हमारा साहित्य हजारों वर्ष पुराना है। आप लोग हिन्दी-साहित्य के इतिहास को खींचतान कर लाते हैं तो वह ज्यादा से ज्यादा एक हजार वर्ष पुराना हो सकता है, फिर भी वह हमारे साहित्य की अपेक्षा नया ही है। आप सुदूर दक्षिण में, केरल में जाइए, मैसूर, तमिलनाड में जाइये, सब जगह आपको इसी प्रकार की चर्चा सुनने को मिलेगी। एक सज्जन ने तो विनोद में कहा कि हम हिंदी साहित्य क्यों पढ़ें और उसमें पढ़ें तो क्या पढ़ें! वहाँ तो हमें दो ही कृतियाँ मिलती हैं। उसमें तुलसीकृत रामायण है या रेलवे टाइम टेबल है। दूसरे बोले, 'हिन्दी में विभिन्न प्रकार का जैसे, ब्रजभाषा, अवधी और मैथिली आदि भाषाओं का साहित्य है। इसलिए हमारे सामने समस्या यह आती है कि हम विभिन्न प्रकार के हिन्दी साहित्य को कैसे पढ़ें'! फिर वे यह भी कहते हैं कि आप सिर्फ सूर, तुलसी, कबीर के साहित्य पर गर्व कर सकते हैं। पर इस साहित्य में जो है वह हमारे संतों की वाणी में भी मिलता है। यद्यपि ऐसे कवियों ने हिन्दी साहित्य का अध्ययन नहीं किया तो भी अपने हृदय में वे इस प्रकार की भावना रखते हैं। उनका कथन अधिकतर सुनी सुनाई बातों पर आश्रित रहता है। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी भाषा के प्रवर्त्तकों का यह कर्त्तव्य हो जाता है

भारतीय हिंदी परिषद्

त्रयोदश वार्षिक अधिवेशन, नागपुर

२८, २९, ३० दिसंबर, १९५५

सदस्यों, प्रतिनिधियों तथा कार्यकर्त्ताओं का समूह चित्र



कि वे हिन्दी साहित्य का इतने ऊँचे पैमाने पर निर्माण करें कि अधिक से अधिक व्यक्ति उसको पढ़ने की आवश्यकता महसूस करें। अभी तो हमारे अहिन्दी भाइयों की हिन्दी साहित्य के प्रति यही भावना है कि चूँकि हिन्दी राजभाषा हो गई है इसलिए हमें हिन्दी पढ़नी चाहिए, क्योंकि हमें हिन्दी क्षेत्रों में जाना है और दिल्ली पर अधिकार करना है, इसलिए हिन्दी सीखना हमारे लिए आवश्यक है। लेकिन मजबूरी से हिन्दी पढ़ना एक बात है और उसी के लिए सीखना दूसरी बात है। अतएव हमें ऐसा साहित्य निर्माण करना है जिसे पढ़ने के लिए लोगों में आकर्षण पैदा हो, उमंग पैदा हो। सीखना दूसरी बात है। यों हिन्दी का दक्षिण में पर्याप्त साहित्य है। यदि आप प्राचीन पुस्तकों की खोज में निकलेंगे तो आपको पता चलेगा कि यहाँ बहुत-सी पुस्तकों का जखीरा है। मौलिक रूप में है, अनुवाद रूप में है। पिछले साल जब मैं महाराष्ट्र में गया तो मैंने देखा कि रामदासी मठों में जो मराठी में पोथियाँ मिलीं उनमें सूर, तुलसी, कबीर के अतिरिक्त कमाल तक के दोहे मिले हैं यानी वहाँ तो कमाल ने वास्तव में कमाल कर दिया, उसने कबीर का वंश नहीं डुबाया। इन हिन्दी पद-युक्त पोथियों का उन्होंने बड़े आदर के साथ संकलन किया है। त्रावनकोर, मैसूर आदि स्थानों में मणि-प्रवाल शैली की रचनाओं में हिन्दी पद मिलते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि प्राचीन साहित्य के प्रति दक्षिण में अपार श्रद्धा है। आधुनिक साहित्य में वे मुन्शी प्रेमचन्द तथा श्री जयशंकरप्रसाद को पहचानते हैं; श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी जी आदि की पुस्तकों को भी वे ध्यान तथा श्रद्धा से पढ़ते हैं। मलयालम के सम्बन्ध में तो मैं यह कह सकता हूँ कि वहाँ के कथा-साहित्य पर हिन्दी का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। वहीं के एक पंडित ने मुझे बताया कि उनके साहित्य पर हिन्दी साहित्य का बहुत असर पड़ा है। प्रेमचन्द, श्री इलाचन्द्र जोशी और श्री यशपाल के कथा-साहित्य का भी वहाँ असर हुआ है। श्री जयशंकर प्रसाद की कामायनी तथा आँसू का तेलगु तथा कन्नड में अनुवाद हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ ही आधुनिक साहित्यकार दक्षिण की भाषाओं में पहुँच सके हैं।

इस परिस्थिति को देखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि ललित वाङ्मय के अतिरिक्त उपयोगी साहित्य तथा वैज्ञानिक साहित्य को भी हम हिन्दी में तैयार करें। हमारे यहाँ हिन्दी में दिल्ली विश्वविद्यालय में डाक्टर नगेन्द्र के नेतृत्व में शास्त्रीय संस्कृत-ग्रन्थों का अनुवाद हुआ है तथा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने भी इस ओर ध्यान दिया है। स्व० श्री रामदहिन जी ने भी संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी में रूपान्तर किया है। ये प्रयत्न स्तुत्य एवं अनुकरणीय हैं।

इस क्षेत्र के अनुवादकों को यह ध्यान रखना चाहिए कि उनके अनुवाद ऐसे हों जिनको स्टैंडर्ड कहा जा सके और जो आदर्श रूप हों। यह काम यदि हिन्दी परिषद अपने हाथ में ले ले तो अच्छा होगा। हिन्दी परिषद में ऐसे अनेक साहित्यकार हैं जो हिन्दी में विभिन्न भाषाओं से अनुवाद कर सकते हैं। अतः मेरी राय है कि अगर उनके द्वारा सहायता ली जाय तो हिन्दी साहित्य को आगे बढ़ाने में हम सफल हो सकते हैं। अब मैं डा० माता-प्रसाद जी गुप्त से प्रार्थना करूँगा कि वे आज के विषय का प्रारम्भिक भाषण दें। हिन्दी साहित्य जगत् उनसे इतना परिचित है कि मैं समझता हूँ कि उनके परिचय की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। उन्होंने अनेक हस्त पोथियों का संकलन-सम्पादन किया है। अनेक वर्ष अनु-

संधान कार्य में लगाए हैं। अनुसंधान कार्य में कितनी दिक्कतें पड़ती हैं यह सर्वविदित ही है। एक महाराष्ट्र सज्जन ने आयु के अपने ४० वर्ष हस्त पोथियों के संकलन तथा उनकी छानबीन में ही लगा दिए। उन्होंने अनुभव सुनाते हुए कहा कि एक बार वे एक रामदासी सज्जन के पास गए। ये सज्जन बड़े सम्मानित तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। पहुँचते ही उन्होंने बड़ा आदर किया तथा अपने ही यहाँ भोजन करने के लिए विशेष आग्रह किया। उन्होंने स्वीकार तो कर लिया, लेकिन जब भोजन करने को आए तो आतिथेय को इसी बीच में यह मालूम हो गया कि ये सज्जन मेरे यहाँ की पोथियाँ लेने आए हुए हैं तो फिर इतने बिगड़े कि भोजन की बात तो दूर रही, मामूली बात तक नहीं की। फिर भी उन्होंने कहा कि आप तो रामदासी सज्जन हैं आपके पास तो बहुत से ग्रन्थ हैं, पोथियाँ हैं। कृपया आप मुझे अध्ययन करने के लिए ही दीजिए। परन्तु उन्होंने साफ इन्कार कर दिया कि मेरे पास कुछ नहीं है। ये महाराष्ट्रीय सज्जन कहते थे कि मैंने प्रयत्न नहीं छोड़ा। मैं प्रतिवर्ष उनके पास जाता रहा और उनसे प्रार्थना करता रहा कि कृपया आप मुझे एक बार ग्रन्थ दिखा ही दें परन्तु उनका हमेशा यही जवाब मिलता कि मेरे पास ग्रन्थ नहीं हैं। आखिर एक बार मुझे समाचार मिला कि उनका देहावसान हो गया है। मैं समवेदना प्रकट करने के लिए उनके यहाँ गया। तब उनके पुत्र ने मुझसे कहा कि यह पिताजी के ग्रन्थों का गट्ठर पड़ा हुआ है। इसे आप ही ले जाइए। मैं इसे रखकर क्या करूँगा और उसने मुझे यह गट्ठर दे दिया जिसके लिए मैं इतने दिनों से प्रयत्नशील था। तो इस तरह की हमारे अन्वेषक साहित्यकारों की हालत है। कितना कठोर श्रम करना पड़ता है। गुप्त जी ने भी इसी तरह का श्रम पोथियों के संग्रह करने में किया होगा। न जाने कितने अनुनय-विनय के बाद और कितनी मनौती के बाद उन्हें ग्रन्थ मिले होंगे। इतने अधिक परिश्रम के बाद जब पोथियाँ इकट्ठी की जाती हैं तब भी लोग कह दिया करते हैं कि यह गुप्त जी की खोज और पाठ-रूप कल्पना है कुछ प्रामाणिक तत्त्व नहीं है, इत्यादि। तो गुप्त जी ऐसे चोट खाए हुए साहित्यकार हैं।

हिन्दी में विविध साहित्य निर्माण की योजना

विषय-प्रवर्तक डा० माताप्रसाद गुप्त का भाषण

श्री सभापति जी और मित्रो,

इसके पहले कि आप से और कुछ कहूँ, मैं आप से यह कहना चाहता हूँ कि मैं राजभाषा आयोग की ओर से इस विषय पर कोई विचार न रखूँगा। अभी जो कुछ भी आप मुझसे सुनेंगे, वे एकमात्र मेरे निजी विचार होंगे। इस प्रकार की भ्रांति होने की संभावना है, क्योंकि हिन्दी की अन्य समस्याओं के साथ यह समस्या भी आयोग के सामने है। इसीलिए मैंने यह आवश्यक समझा कि यह बात आप से प्रारंभ में ही कह दूँ।

आपके सामने विचारणीय विषय है हिन्दी में विविध साहित्य-निर्माण की योजना। इस शीर्षक के विविध और साहित्य शब्दों पर कुछ स्पष्ट होने की आवश्यकता है। 'विविध' शब्द की व्याप्ति बहुत बड़ी हो सकती है, और 'साहित्य' शब्द की भी व्याप्ति कुछ कम न होगी। 'साहित्य' शब्द के अंतर्गत वे सभी रचनायें आती हैं जो मानव के द्वारा भाषा का माध्यम ग्रहण करके उसके उपयोग के लिए प्रस्तुत की जाती हैं उनका लक्ष्य जो भी हो। यदि मानव के जीवन में किसी भी रूप में उनकी उपयोगिता है, तो वे साहित्य के अंतर्गत आ जाएंगी। साहित्य के इस अर्थ के साथ 'विविध' शब्द का प्रयोग उसकी व्याप्ति को किसी प्रकार भी सीमित नहीं करता है। किन्तु मेरा अनुमान है कि इतने व्यापक अर्थों में इन शब्दों का प्रयोग परिषद् का प्रस्तुत अभीष्ट नहीं है।

मेरी समझ में परिषद् का आशय विविध साहित्य से 'ललितेतर साहित्य' से है। कलाओं की भाँति साहित्य भी मुख्यतः दो प्रकार का होता है : ललित तथा उपयोगी।

यों तो सभी प्रकार का साहित्य उपयोगी होता है, क्योंकि वह मानव को लक्ष्य करके निर्मित होता है, फिर भी स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि एक प्रकार का साहित्य तो उसकी भावनाओं और कल्पनाओं का स्पर्श करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर प्रस्तुत किया जाता है, और एक अन्य प्रकार का साहित्य उसके ज्ञान-विज्ञान की सीमाओं को अधिक व्यापक और उन्हें अधिक जीवनोपयोगी बनाने के उद्देश्य से प्रेरित हो कर प्रस्तुत किया जाता है। पहले प्रकार के साहित्य को ललित या सरस साहित्य और दूसरे प्रकार को उपयोगी साहित्य कहा जा सकता है। प्रस्तुत प्रसंग में विविध साहित्य से, जहाँ तक मैं समझता हूँ, अभिप्राय इसी दूसरे प्रकार के साहित्य से है, क्योंकि ललित साहित्य का निर्माण न योजनाओं से संभव ही लगता है, और न उसके लिए योजनाओं की आवश्यकता ही प्रतीत होती है।

उपयोगी साहित्य पुनः स्थूलतः दो प्रकार का हो सकता है : एक तो वह जो किसी विषय अथवा उसके किसी पक्ष अथवा अंश का विषयानुक्रम से विवेचन करता है, और पूरा का पूरा प्रयास एक इकाई के रूप में होता है, यथा, किसी विषय पर लिखा गया निबंध अथवा पाठ्य ग्रन्थ जो किसी विशेष मनःस्थिति अथवा योग्यता के पाठकों के लिए उस विषय का एक क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत करता है, दूसरा वह, जो किसी विषय के सम्यक् अध्ययन में सहायक होता है, और उसके पक्ष-विशेष अथवा अंश-विशेष पर ज्ञान-वर्धन करता है, यथा, विश्व-कोश। हिन्दी के विविध साहित्य और उसके सृजन की समस्याओं पर विचार करते समय हमें दोनों प्रकार के साहित्य पर ध्यान रखना होगा।

इन दोनों प्रकार के उपयोगी ग्रन्थों पर हमें हिन्दी की अपनी आवश्यकताओं की दृष्टि से विचार करना है, इसलिए सबसे पहले प्रश्न यह उठता है कि हिन्दी की हमारी आवश्यकतायें क्या हैं। मुख्यतः हमारी आवश्यकतायें दो हैं, हिन्दी के देशव्यापी प्रचार के साथ-साथ क्षेत्रीय भाषाओं और उनके साहित्य से संपर्क-स्थापन और हिन्दी माध्यम से प्रत्येक विषय के उच्चतम कोटि के साहित्य का सृजन। हमारी पहली आवश्यकता के लिए हमें विभिन्न स्तरों के सरल, विविधता के बीच हमारी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक अभिन्नता के समर्थक, चरित्र-निर्माण में सहायक और जनतंत्रवादी विचारों के पोषक पाठ्य ग्रन्थ तथा संग्रह, सुबोध व्याकरण, अनुवाद-ग्रन्थ, रचना और निबन्ध-ग्रन्थ, हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास तथा कोश ग्रन्थ देश की समस्त क्षेत्रीय भाषाओं के लिए चाहिए। और इसी प्रकार हमें हिन्दी में उन भाषाओं के संग्रह, व्याकरण, अनुवाद-ग्रन्थ आदि चाहिए जो अन्य क्षेत्रों में बोली जाती हैं। हमारी दूसरी आवश्यकता के लिए हमें हिन्दी माध्यम से प्रत्येक विषय के सम्यक् अध्ययन-अध्यापन के लिए विभिन्न स्तरों के समस्त विषयों के पाठ्य ग्रन्थ तो चाहिए ही, उनके साथ ही उन दूसरे प्रकार के ग्रन्थ भी चाहिए जिन्हें सहायक ग्रन्थ कहा जाता है। सहायक ग्रन्थ अनेक प्रकार के होते हैं, यथा :—

१—मार्ग निर्देशक ग्रन्थ	(Guides)
२—भूमिका ग्रन्थ	(Introductions)
३—कोश ग्रन्थ	(Dictionaries)
४—पद और वाक्य संदर्भ ग्रन्थ	(Indices and Concordances)
५—विश्व कोश ग्रन्थ	(Encyclopaedias)
६—पूर्ण सूचना ग्रन्थ	(Handbooks)
७—इतिहास ग्रन्थ	(Histories)
८—लेखकों और विचारकों के चरित्र ग्रन्थ	(Biographies)
९—आंकिक सूचना ग्रन्थ	(Statistics)
१०—मानचित्र ग्रन्थ	(Atlases)
११—वार्षिक सूचना ग्रन्थ	(Year Books)
१२—साहित्य सूची और साहित्य परिचय-ग्रन्थ	(Bibliographies and Abstracts)

यहाँ पर हमें संक्षेप में यह भी समझ लेना चाहिए कि इन दोनों प्रकार के ग्रन्थों की वर्तमान स्थिति हमारे साहित्य में क्या है। जहाँ तक हिन्दी तथा क्षेत्रीय भाषाओं के प्रचारात्मक ग्रन्थों का प्रश्न है, वे प्रायः सभी क्षेत्रों में किसी न किसी परिमाण में पाए जाते हैं। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि वे सर्वत्र वांछित प्रकार के नहीं हैं, कारण यह है कि वे अधिकतर किसी सुनियोजित प्रणाली पर निर्मित नहीं हैं। इनमें भी कोश ग्रन्थ अर्थात् हिन्दी से क्षेत्रीय भाषाओं के और क्षेत्रीय भाषाओं से हिन्दी के कोश ग्रन्थ बहुत ही कम हैं।

जहाँ तक हिन्दी माध्यम के विभिन्न विषयों के अध्ययन अध्यापन ग्रन्थों का प्रश्न है, हिन्दी राज्यों में माध्यमिक परीक्षा तक का माध्यम हिन्दी हो जाने के कारण उपयुक्त पाठ्य ग्रन्थों का कोई अभाव नहीं है। विश्वविद्यालयों की प्रथम उपाधि-परीक्षा के स्तर की पुस्तकों के सम्बन्ध में स्थिति यह है कि उन विषयों पर जो कला और व्यापार वर्ग (Faculties) में आते हैं, धीरे-धीरे पुस्तकें आने लगी हैं। किन्तु विज्ञान तथा विज्ञानमूलक किसी भी वर्ग पर पुस्तकों का प्रायः अभाव है। विश्वविद्यालयों की द्वितीय उपाधि-परीक्षाओं के लिए उपयुक्त पाठ्य ग्रन्थों का एक प्रकार से सर्वथा अभाव है। और जहाँ तक उपर्युक्त प्रकार के सहायक ग्रन्थों का प्रश्न है, वे प्रायः किसी भी स्तर के लिए हमारे पास अभी तक नहीं हैं।

ऐसी दशा में इस दिशा में हमें जो कुछ करना है यह प्रकट है। यह किस प्रकार करना है, यह देखना है।

प्रत्येक कृति के लिए एक तो उपयुक्त लेखक की आवश्यकता होती है, और दूसरे उपयुक्त प्रकाशक की। जहाँ तक लेखकों का प्रश्न है, हिन्दी में लेखकों की कमी नहीं है, और जहाँ पर कमी ज्ञात हो अनुवाद द्वारा उसकी पूर्ति की जा सकती है किसी भी योग्य भारतीय विद्वान् से उसकी भाषा में ठीक पुस्तक लिखा कर उसका हिन्दी अनुवाद कराया जा सकता है, इससे दोनों भाषाओं का हित होगा। और यदि किसी भी भाषा में उपर्युक्त प्रकार की पुस्तक है तो अनुमति मिलने पर उसका अनुवाद कराना भी संभव होगा।

जहाँ तक प्रकाशकों का प्रश्न है, उनके सम्बन्ध में कठिनाई है। जिन पुस्तकों का विक्रय पर्याप्त संख्या में हो सकता है, उनके प्रकाशक सुगमता से मिल जाते हैं। किन्तु जिनके विक्रय में किसी प्रकार से भी कमी की आशंका होती है, उनके प्रकाशक नहीं मिलते। इस विषय में स्थिति पहले भी अच्छी नहीं थी, किन्तु अब कदाचित् कुछ और भी बुरी हो गई है। कुछ हिन्दी संस्थाएँ पाँच सात वर्ष पूर्व कुछ ऐसे प्रकाशनों को स्वीकार कर लेती थीं। किन्तु अब या तो वे अपनी आन्तरिक कठिनाइयों में उलझ गई हैं, अथवा उनका दृष्टिकोण कुछ व्यावसायिक हो चला है, जो आज की उनकी आर्थिक कठिनाइयों को देखते हुए अस्वाभाविक भी नहीं माना जा सकता।

प्रसन्नता की बात है कि इस प्रकार के ग्रन्थों के सम्बन्ध में इधर केन्द्रीय तथा हिन्दी राज्यों की सरकारों का ध्यान जाने लगा है। उन्होंने कुछ पुरस्कार तथा अनुदान इस प्रकार के ग्रन्थों के लिए दिए हैं। इससे लेखकों तथा हिन्दी की संस्थाओं को प्रोत्साहन मिला है। किन्तु हमारी आवश्यकताओं को देखते हुए यह प्रोत्साहन पर्याप्त नहीं है। इस क्षेत्र में प्रकाशन का कार्य उल्लेखनीय रूप से केवल मध्यप्रदेश की सरकार ने प्रारम्भ किया है। उसने माध्यमिक

स्तर तक के विज्ञान के प्रायः समस्त ऐसे विषयों के ग्रन्थ हिन्दी और मराठी में प्रस्तुत कर दिये हैं जिनके लिए उपयुक्त ग्रन्थों का अभाव था। और अब मध्यप्रदेश की सरकार विज्ञान-विषयक उन ग्रन्थों को भी इन्हीं एक दो वर्षों में हिन्दी और मराठी में प्रस्तुत कराने जा रही है, जो विश्वविद्यालयों की प्रथम उपाधि-परीक्षा के लिए आवश्यक होंगे। किन्तु विश्व-विद्यालयों की द्वितीय उपाधि-परीक्षा के उपयुक्त ग्रन्थों के प्रकाशन की कोई योजना नहीं है।

इस क्षेत्र में सबसे अधिक उपयोगी हिन्दी प्रदेशों के विश्वविद्यालय हो सकते थे। किन्तु वे अभी इधर बिल्कुल अग्रसर नहीं हो रहे हैं। वे सभी स्वतंत्र (Autonomous) हैं, और एक सम्मिलित योजना के अनुसार परस्पर कार्य-विभाजन करके यह कार्य सुगमता से कर सकते हैं। जहाँ तक आर्थिक सहायता का प्रश्न है, केन्द्र तथा हिंदी प्रदेशों की सरकारें उन्हें, मेरा विश्वास है, अवश्य देंगी, यदि वे अपनी योजनायें इन सरकारों के सामने रखेंगे। और निश्चित योजना के कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हो जाने पर उनके विक्रय से प्रकाशन-कार्य का आर्थिक प्रश्न और भी सुगम हो जाना चाहिए। यदि केन्द्रीय और प्रादेशिक सरकारें इस सम्बन्ध में अपने-अपने विश्वविद्यालयों को प्रेरित करेंगी तो यह कार्य और भी सुगमता से हो सकेगा।

सहायक ग्रन्थों का कार्य एकदम अछूता है। इस कार्य में अभी हाथ भी नहीं लगाया गया है। यद्यपि यह कितना आवश्यक है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। विश्वविद्यालय की द्वितीय उपाधि-परीक्षा तथा अनुसंधान-कार्य के लिए यह कार्य अनिवार्य है। कहा जा सकता है कि इस प्रकार के ग्रन्थों की उपादेयता अधिक न होगी क्योंकि ये परीक्षाओं के आधार ग्रन्थ न होंगे और इस श्रेणी के विद्यार्थी अँग्रेजी के अपने ज्ञान की सहायता से इस प्रकार के अँग्रेजी ग्रन्थों का उपयोग कर सकेंगे। किन्तु बात इतनी ही नहीं है। अँग्रेजी माध्यम से प्रस्तुत किए गए इस प्रकार के प्रायः समस्त ग्रन्थ अँग्रेजी दृष्टिकोण से ही प्रस्तुत किए गए हैं, और उनमें दी हुई सूचनाओं में अधिकांश में भारतीय आवश्यकताओं की उपेक्षा हुई है।

ये सहायक ग्रंथ विद्यार्थियों परीक्षार्थियों से भी अधिक देश के प्रत्येक क्षेत्र के नेताओं, विचारकों, पत्रकारों, और विधायकों के काम के हुआ करते हैं। इसलिए इनका प्रस्तुत किया जाना हमारी वर्तमान आवश्यकताओं के लिए जब कि हमने हिन्दी को अँग्रेजी के स्थान पर राजभाषा के रूप में स्वीकार किया है, अनिवार्य होगा। अध्ययन-अध्यापन क्षेत्र में जितना उपर्युक्त प्रथम प्रकार की कृतियों का महत्त्व है, उतना ही व्यावहारिक क्षेत्र में इन दूसरे प्रकार के ग्रन्थों का महत्त्व है, और हमें इनके लिए भी उतना ही प्रयत्न करना चाहिए जितना उनके लिए। यह कार्य सरकार और विश्वविद्यालयों द्वारा ही संपन्न हो सकता है, और यदि वे इसकी ओर दत्त-चित्त हों तो सुगमता से हो सकता है।

इस प्रकार यह प्रकट है कि विविध साहित्य के क्षेत्र में कार्य हमें बहुत करना है और कदाचित् कोई एक संस्था या सरकार इस समस्त कार्य को पूरा नहीं कर सकेगी। यदि इस कार्य को शीघ्र संपन्न करना है तो यह और भी आवश्यक हो जाता है कि सभी शक्तियाँ मिल कर कार्य करें और उनमें कार्य विभाजन हो।

मेरी समझ में हिन्दी के प्रचारात्मक कार्य में विभिन्न अहिन्दी-प्रदेशों की सरकारों को लगना चाहिए, जिसके लिए उन्हें केन्द्र से आवश्यक सहयोग तथा सहायता मिलनी चाहिए।

विभिन्न विषयों के हिन्दी माध्यम के पाठ्य ग्रन्थों और उनकी श्रेणी के अन्य ग्रन्थों के लिए हमें प्रकाशन संस्थाओं को प्रेरित करना चाहिए। हिन्दी राज्यों के विश्वविद्यालयों में प्रथम उपाधि तक माध्यम हिन्दी होने के कारण इस प्रकार की पुस्तकें आने लगी हैं, और हमें आशा करनी चाहिए कि हिन्दी राज्यों की सरकारों की थोड़ी भी सहायता और प्रोत्साहन से यह कार्य शीघ्र संपन्न हो जाएगा। विज्ञानमूलक जिन विषयों के ग्रन्थों के लिए प्रकाशक नहीं मिल रहे हैं, उनके लिए ही इस प्रकार की सहायता और प्रोत्साहन की अपेक्षा होगी।

विश्वविद्यालयों की द्वितीय उपाधि के लिए आवश्यक इस प्रकार के ग्रन्थों के लिए हिन्दी क्षेत्रों तथा केन्द्र के विश्वविद्यालयों को अग्रसर होना चाहिए। वे आपस में कार्य बाँट कर थोड़े ही समय में यह कार्य सुगमता और उत्तम रीति से संपन्न कर सकते हैं। इस कार्य के लिए केन्द्रीय तथा हिन्दी प्रदेशों की सरकारों की प्रेरणा और सहायता उपयोगी होगी।

सहायक ग्रन्थों का कार्य देश भर के समस्त विश्वविद्यालयों के सहयोग से केन्द्रीय सरकार को अपनाना अधिक उपयुक्त होगा। इस कार्य के लिए विभिन्न विषयों के विद्वानों को देश-विदेश के विद्वानों से उनकी भाषाओं में सामग्री प्राप्त कर उसका उन केन्द्रीय-अनुवाद-संस्थान द्वारा अनुवाद कराया जा सकेगा जो वैज्ञानिक शब्दावलि के लिए दिल्ली में स्थापित है।

प्रत्येक योजना में अवधि का भी प्रश्न होता है। मैं समझता हूँ, हिन्दी तथा क्षेत्रीय भाषाओं के प्रचारात्मक साहित्य के लिए दो या तीन वर्षों का समय पर्याप्त है।

विश्वविद्यालयों की प्रथम उपाधि-परीक्षा तथा उसके स्तर के इतर सुपाठ्य ग्रन्थों के लिए भी दो या तीन वर्षों का समय पर्याप्त होना चाहिए।

विश्वविद्यालयों की द्वितीय उपाधि-परीक्षा तथा उसके स्तर के उच्च कोटि के ग्रन्थों के लिए पाँच वर्षों का समय कम न होगा।

सहायक ग्रन्थों के लिए दस वर्षों का समय अधिक से अधिक अपेक्षित होगा, यद्यपि भरपूर चेष्टा करने पर इससे कम समय में भी उसे निपटाया जा सकता है।

मैं समझता हूँ कि विषय पर सम्यक् रूप से विचार करने के लिए यह भूमिका पर्याप्त होगी। मैं भारतीय हिन्दी परिषद् का आभारी हूँ कि उसने इस विषय का प्रवर्तन करने और इस संबंध में अपने विचार आप सब विद्वानों और हिन्दी अनुरागियों के सामने रखने का मुझे अवसर दिया।

हिन्दी में विविध साहित्य निर्माण की योजना

विचार-विनिमय

डा० शम्भूनाथ सिंह

सभापति जी, आज जो प्रश्न हमारे सामने उपस्थित है वह बहुत ही सुन्दर ढंग से रखा गया है और विषय के संबंध में मैं अत्यधिक आवश्यक केवल दो बातें आपके सामने रखना चाहता हूं।

हमारे यहाँ काशी विद्यापीठ में विभिन्न भाषाभाषी विद्यार्थी अध्ययन के लिए आते हैं उनसे हमें ऐसा पता लगता है कि वहाँ आज कल हिन्दी भाषा के संबंध में काफी मतभेद है। इसका कारण यह है कि इस संबंध में ठीक तरह से हर भाषा का इतिहास उपलब्ध नहीं है जिस कारण हर बात में हमें संदेह पैदा होता है। इस तरह का इतिहास लिखा जाना बहुत आवश्यक है। भारतवर्ष का जैसा इतिहास लिखा गया है उसी तरह भारतीय साहित्य का इतिहास लिखा जाना आवश्यक है जो कि संस्कृत और पाली भाषाओं का ठीक-ठीक अध्ययन कर लिखा जा सकता है। इस संबंध में हमें अन्य भाषाओं का भी अध्ययन करना पड़ेगा और इस प्रकार प्रत्येक भाषा का इतिहास एकत्र संग्रहीत कर, आज हम प्रांतीय एकता और भाषाओं में एकता लाने में बहुत हद तक सफल हो सकेंगे।

दूसरी बात जिसकी तरफ मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं वह यह है कि अपभ्रंश साहित्य ज्यादातर प्राकृत भाषा में मिलता है उसका रूपांतर विदेशी भाषाओं में ही प्रकाशित हुआ है। हिन्दी में यह सब एक प्रकार से अलभ्य ही है। हिन्दी में इस अभाव की पूर्ति का अधिक से अधिक प्रयत्न होना चाहिए।

किंतु साथ ही हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि अनुवाद में अधिक से अधिक सतर्कता रखी जाय, जिससे वह पूर्ण रूप से ग्राह्य तथा विश्वसनीय हो सके। यह कार्य विश्वविद्यालय के अध्यापकगण ही अधिक उत्तमता से संपादित कर सकते हैं। मेरा विचार है कि ऐसी पुस्तकों के लिए प्रकाशक भी सरलता से मिल जाएँगे। ये ही दोनों बातें मुझे आपके सामने रखनी थीं।

डा० उदयनारायण तिवारी

विचार-विनिमय के लिए आज का विषय जिस रूप में हमारे सामने रखा गया है, वह समय की आवश्यकताओं को देखते हुए अत्यधिक सराहनीय कहा जा सकता है।

विविध ज्ञान-विज्ञान की जो पुस्तकें अन्य भाषाओं में लिखी गई हैं उनका अनुवाद हिंदी में प्राप्त करना आज हमारी पहली आवश्यकता है। प्रश्न यह उठता है कि कार्य कौन करेगा। मेरे विचार से विश्वविद्यालयों में अध्यापन कार्य करने वाले विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ ही इस

कार्य को उत्तम रूप से कर सकते हैं। जब वे अपने विषय में अँग्रेजी में उत्कृष्ट कोटि की पुस्तकें लिख सकते हैं तो उनका अनुवाद भी वे सरलता से कर सकते हैं। एक समय था जब कि हमारे यहाँ का साहित्य इतना प्रकृष्ट था कि यहाँ से जो बौद्ध भिक्षु तिब्बत में धर्म प्रचारार्थ जाते थे तो वहाँ की स्थानीय भाषाओं में भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद करने के लिए नियुक्त किए जाते थे। अब स्थिति यह पैदा हो गई है वहाँ जिन संस्कृत ग्रन्थों से अनुवाद किया गया था वे मूल ग्रन्थ ही आज उपलब्ध नहीं हैं। अब पुनः उनके उद्धार के लिए हमें तिब्बती और चीनी भाषाओं की जानकारी प्राप्त करनी पड़ेगी।

एक विचारणीय बात यह भी है कि विदेशी भाषाओं में अधिकतर अँग्रेजी में लिखी हुई पुस्तकों का ही अनुवाद हिन्दी में किया जा रहा है और वह भी प्रामाणिक रूप में बहुत ही सीमित संख्या में मिलता है। हमें चाहिए कि फ्रेंच, जर्मन तथा चीनी आदि अन्य भाषाओं में लिखी पुस्तकों के भी हिन्दी रूपांतर योग्य विद्वानों से करवाएँ।

किन्तु जहाँ तक संभव हो सके, उन भाषाओं से सीधे ही हिन्दी में अनुवाद किया जाय। कभी-कभी ऐसा होता है कि पहले उनका अँग्रेजी रूपांतर करा कर तब उसके आधार पर हिन्दी में उसका अनुवाद किया जाता है। इसमें समय भी अधिक लगता है और हिन्दी अनुवाद मूल से अधिक दूर भी जा पड़ता है। इस प्रकार जर्मन में लिखी हुई किसी पुस्तक को हिन्दी में अनुवादित होने के लिए लगभग १२ साल तक लग जाते हैं। हमें अब ऐसा प्रबंध करना चाहिए जिससे विविध भाषाओं में प्रकाशित ग्रन्थ सीधे ही हिन्दी में अनुवादित हो जाएँ। मैं चाहता हूँ कि इस तरह की योजना केंद्रीय सरकार या प्रादेशिक सरकारें अपने हाथ में लें और युरोप की कोई दूसरी भाषा जानने वालों को यह काम करने में मदद और प्रोत्साहन दें जिससे कि अन्य भाषाओं में उपलब्ध अच्छे से अच्छे ग्रन्थ हिन्दी में तुरन्त सीधे रूपांतरित किए जा सकें। इसके लिए हमें अपने अधिकांश छात्रों को विदेशी भाषाओं का सम्यक् अध्ययन करने के लिए भी प्रोत्साहित करना चाहिए जिससे हमें उन भाषाओं में प्राप्त आधुनिकतम ज्ञान-विज्ञान का साहित्य, शीघ्रातिशीघ्र हिन्दी रूपांतरों के माध्यम से प्राप्त हो सके।

अन्य प्रांतीय भारतीय भाषाओं में भी ऐसा बहुत सा साहित्य पड़ा है जिसका अनुवाद हिन्दी में करके हम अपने साहित्य के अनेक अभावों की पूर्ति कर सकते हैं। अतः मेरा विचार है कि केवल हिन्दी भाषा का ही ज्ञान बढ़ाने से हम हिन्दी की पर्याप्त उन्नति नहीं कर सकते।

हिन्दी के साथ साथ हमें अन्य प्रांतीय भाषाओं की जानकारी भी प्राप्त करनी चाहिए। डा० गुप्त ने इस तरह की योजना हमारे सम्मुख रखी है और इस विषय में मैं उनसे पूर्णतया सहमत हूँ।

इस संबंध में मैं आप लोगों का ध्यान एक विशेष पहलू की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ। इस कार्य को सुसंबद्ध रूप में सम्पन्न करने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि हिन्दी में विविध विषयों के अनुसंधान तथा अनुवाद के लिए अलग-अलग इंस्टीट्यूट खोले जाएँ। रूस में वैज्ञानिक साहित्य की असाधारण उन्नति इसी प्रकार के इंस्टीट्यूटों द्वारा संपन्न हो सकी है। वहाँ पर उत्कृष्ट कोटि के वैज्ञानिक प्रायः इंस्टीट्यूटों में ही अपना

अनुसंधान कार्य करते हैं, विश्वविद्यालयों में वे केवल आवश्यकतानुसार ही भाषण देने जाते हैं। भारतवर्ष में भी इसी प्रणाली से यदि कार्य किया जाय तो इन विषयों का अध्ययन अधिक सुचारु रूप से हो सके और साथ ही हिन्दी में विविध साहित्य की पुस्तकों की अभिवृद्धि भी संभव हो सके।

आप लोग मेरे विचारों पर उचित ध्यान देंगे, ऐसी आशा करते हुए मैं अपना भाषण समाप्त करता हूँ।

प्रो० विनयमोहन शर्मा

अब आपके सामने प्रोफेसर नागप्पाजी इस विषय पर अपने विचार प्रकट करेंगे। आप मैसूर विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। आपने हिन्दी की सेवा में अपना जीवन अर्पित कर दिया है। जिस समय महात्मा गान्धीजी ने दक्षिण भारत में हिन्दी आन्दोलन आरम्भ किया था उस समय आपने इस आन्दोलन को अग्रसर करने में योग-दान दिया था। आपने मद्रास हिन्दी प्रचारिणी सभा में एक विद्यार्थी के नाते अध्ययन कर के अध्यापन का कार्य आरम्भ किया और धीरे-धीरे जब मैसूर विश्वविद्यालय में हिन्दी का प्रवेश हुआ तो इनकी सेवायें ली गईं। इसलिये हिन्दी कार्य इनका जीवन लक्ष्य रहा है और आज तक आप लगन के साथ हिन्दी को अपनी सीमा में अग्रसर करते जा रहे हैं। आपने हिन्दी की एक व्यावहारिक पुस्तक अहिन्दी भाषा-भाषियों के लिए प्रकाशित की है। इस तरह नागप्पाजी दक्षिण में हिन्दी प्रसार के अगुवा हैं और हिन्दी साहित्य के प्रति जो इनकी आस्था और श्रद्धा है वह इनको हिन्दी के क्षेत्र में अग्रसर किये हुए है। इनके विश्वविद्यालय में हिन्दी को एक विशेष स्थान प्राप्त है। बी० ए० तक हिन्दी में पढ़ाई होती है। यदि इनका प्रयत्न जारी रहा तो आशा है, भविष्य में वहाँ की पाठशालाओं में हिन्दी विषय को अनिवार्य रूप में स्वीकार कर लिया जावेगा। एक अहिन्दी भाषी प्रदेश के हिन्दी प्रेमी आपके सम्मुख हैं। अब वे अपने विचार इस विषय पर आपके सामने रखेंगे।

प्रो० नागप्पा

सभापतिजी तथा उपस्थित सज्जनो, मैं आपके सम्मुख हिन्दी में विविध साहित्य निर्माण की योजना पर बोलनेवाला हूँ। किसी भाषा की दो वृत्तियाँ होती हैं : एक रागात्मिका वृत्ति और दूसरी निश्चयात्मिका वृत्ति। रागात्मिका वृत्ति में काव्य, उपन्यास, कहानी आदि की रचनाएँ आती हैं। निश्चयात्मिका वृत्ति में उस भाषा की गणित शास्त्र, भूगोल विज्ञान और खगोल विज्ञान आदि की पुस्तकें आती हैं। ऐसे शास्त्रों में आजकल हमारी भाषाओं में केवल अनूदित पुस्तकें ही मिल रही हैं। खासकर दक्षिण भारतीयों की यह अपेक्षा है कि भविष्य में ऐसे ग्रन्थों का निर्माण किया जाय जिनसे निश्चयात्मिका बुद्धि को स्फुरण मिले। जब ऐसे-ऐसे क्षेत्रों में काम करनेवालों, खोज करनेवालों का प्रयास बढ़ेगा और वे अपनी मौलिक खोज लोगों को अपनी भाषाओं में सुलभ करेंगे तभी हिन्दी पढ़ाने की आवश्यकता बढ़ेगी। आज तो इनके लिए कोई अँग्रेजी भाषा सीखता है तो कोई फ्रेन्च।

मैं यह इसी उद्देश्य से कह रहा हूँ कि मैं पहले गणित व विज्ञान का विद्यार्थी था। बाद में मैंने हिन्दी में एम० ए० किया। उस समय मैथेमेटिक्स में रूसी भाषा में एक पुस्तक

निकली थी उसका अँग्रेजी में रूपान्तर हुआ था। हमसे यह आशा की जाती थी कि जो भी उपलब्ध ग्रन्थ हों वे सब हम पढ़ डालें। हमने उसका किसी न किसी तरह रूपान्तर पढ़कर काम निकाल लिया। यदि हम उसे रूसी भाषा से पढ़ लेते तो और भी अच्छा हो सकता था। इन साइन्सों का गहरा अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि ज्ञान को आगे बढ़ाने की दृष्टि से प्योर या हायर मैथेमेटिक्स में कोई भी पुस्तक भारतीय भाषा में नहीं है। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो अखिल भारतीय हिन्दी परिषद का संगठन बहुत व्यापक दृष्टि से होने की आवश्यकता है। इसके लिए हमें विश्वविद्यालयों की गणित, दर्शन, रसायनशास्त्र आदि से संबद्ध अन्य परिषदों में ग्रन्थनिर्माण सम्बन्धी चर्चा करनी होगी। उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हम इसी प्रकार से कर सकेंगे। मैं तो यह भी चाहूँगा कि तामिल, तेलगु या मलयालम के इन विषयों के विद्वानों द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली का भी तुलनात्मक अध्ययन करते हुए हमें इस शब्दावली को अखिल भारतीय रूप देने का प्रयत्न करना चाहिए। आजकल जो नवीन पारिभाषिक शब्द चलाए जा रहे हैं वे वैसे ही हैं जैसे टकसाल से रुपये ढलकर निकलते हैं। पर ये शब्द अभी लीगल टेन्डर नहीं हैं। ये जब लीगल टेन्डर होकर निकलेंगे तभी इनका मूल्य होगा; क्योंकि टकसाल से जो रुपये निकलते हैं यदि उनका प्रयोग करना आप छोड़ दें तो उनका क्या मूल्य रहेगा? एक-एक शब्द एक एक लाख रुपये के बराबर है किन्तु यह मूल्य इन शब्दों का तभी होगा जब भारतीय विद्वान्, भारतीय भाषाओं में पढ़ानेवाले वे सभी लोग जिनकी समस्यायें एक सी हैं—कम से कम कन्नड, तामिल, तेलगु और मलयालम और हिन्दी भाषावाले सब मिलकर विचार विनिमय करें,।

दूसरी विशेष बात यह है कि सर सी० वी० रमण जैसे उच्चकोटि के भारतीय वैज्ञानिकों को चाहिये कि वे देशी भाषाओं में ही अपनी कृतियों को सुलभ करें। महात्मा गान्धीजी ने एक बार सर सी० वी० रमण से यह कहा भी था कि क्या ही अच्छा होता कि वे यदि देशी भाषा में अपने ज्ञान व खोज को रख सकते। भारतवर्ष के किसी भी कोने का विद्वान चाहे क्यों न हो और वह चाहे भारत में कहीं भी पैदा हुआ हो उसे चाहिये कि वह अपनी भाषा के द्वारा ही अपना अनुसंधान-कार्य प्रकट करे। इससे हिन्दी को भी लाभ होगा और देश को भी।

हिन्दी-साहित्य में संदर्भ-ग्रन्थों (रेफरेंस बुक्स) का भी नितांत अभाव है। अँग्रेजी साहित्य में तो रेफरेन्स बुक्स बहुत मिलती हैं पर हिन्दी में इस तरह की पुस्तकों की बहुत आवश्यकता है। और भाषा विज्ञान के क्षेत्र में भी ऐसी पुस्तकों की बहुत आवश्यकता है। मराठी में फानेटिक्स की पुस्तक है। इसी तरह भाषा विज्ञान के और भी कितने अंग हैं; उन अंगों पर हिन्दी पुस्तकों के उपलब्ध होने से भाषा-विज्ञान का पढ़ाना सुलभ हो जावेगा। मेरा आशय यह है कि इस दिशा में काम करने से दक्षिण भारत में विशेषकर कुछ शास्त्रों की पढ़ाई में लोगों को बहुत सहायता मिलेगी।

डा० रघुवंश

सभापतिजी व उपस्थित सज्जनो! प्रायः सारी बातें कही जा चुकी हैं। अभी-अभी प्रोफेसर नागप्पाजी ने ध्यान आकर्षित किया कि हमारी परिषद में विभिन्न विषयों के भी वर्ग होने चाहिए। वस्तुतः इसी कारण मेरा ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। भारतीय हिन्दी परिषद जैसी अखिल भारतीय कहलाने वाली संस्थाएँ कई हैं, जैसे हमारी

भारतीय दर्शन परिषद, भारतीय विज्ञान परिषद और भारतीय इतिहास परिषद हैं। इस प्रकार की सभी विषयों की अलग-अलग भारतीय संस्थाएं हैं। यदि हमको अपने कार्य को अग्रसर करना है तो निश्चय ही हमें देखना है कि इन सब परिषदों की कार्य-विधि किस प्रकार चल रही है। अभी दो महीने पहले यहाँ दर्शन परिषद का एक अधिवेशन हुआ था। क्या ही अच्छा होता कि इन संस्थाओं का कार्य अँग्रेजी व हिन्दी दोनों माध्यम से अथवा केवल हिन्दी माध्यम से ही होता। भारतीय हिन्दी परिषद में इस समय विशेषतया हिन्दी भाषा तथा साहित्य पर कार्य करने वाले विद्यार्थी या विद्वान् हैं; अन्य विषयों के विद्वान् कम हैं। अतः स्वाभाविक रूप से यदि इस दिशा में हमारी कोई योजना है और उसे यदि कार्य रूप में परिणत करना है तो हमें निश्चित रूप से इसके लिए उक्त परिषदों के विद्वानों से सहायता प्राप्त करनी होगी। उन विद्वानों को भी सोचना चाहिए कि यह उत्तरदायित्व अकेले हमारा ही नहीं उनका भी है क्योंकि इस सम्बन्ध में हम योजनाएँ रख सकते हैं किन्तु उन्हें कार्य रूप में परिणत करने का भार तो उन्हीं के ऊपर रहेगा।

अंत में मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि इस प्रकार का कोई प्रयत्न परिषद की ओर से शीघ्र ही होना चाहिए कि उन विभिन्न अखिल भारतीय परिषदों में हिन्दी को स्थान मिल सके। प्रोफेसर नागप्पाजी ने जो बातें कहीं, उस तथ्य को लेकर मेरे मस्तिष्क में यह बात आई थी। सम्भव है कि इस पर परिषद द्वारा गम्भीरतापूर्वक विचार किया जा सके।

प्रो० विनयमोहन शर्मा

डाक्टर रघुवंशजी ने जो स्पष्टीकरण किया उसमें उन्होंने साहित्य का व्यापक अर्थ लिया है और उसमें उन्होंने दर्शन, इतिहास, गणित आदि को भी सम्मिलित कर लिया है। इस सम्बन्ध में परिषद में कुछ मतभेद है। इस परिषद का सम्बन्ध केवल ललित वांगमय से ही नहीं है। अभी परिषद की ओर से वैज्ञानिक कोश का प्रकाशन हुआ है। मैं समझता हूँ कि जहाँ तक पाठ्य पुस्तकों की निर्माण-योजना का सम्बन्ध है क्या हम केवल साहित्यिक ग्रन्थों को ही सामने रखकर पुस्तकें लिखेंगे या इतिहास, दर्शन तथा अन्य विज्ञान आदि की भी पाठ्य पुस्तकें बनायेंगे। कृपया डाक्टर रघुवंशजी दो शब्द इस सम्बन्ध में और स्पष्ट कर दें।

डा० रघुवंश

वस्तुतः मेरी बात ऐसी नहीं कि हम किसी प्रकार का निर्देशन नहीं दे सकते हैं या सम्पर्क नहीं स्थापित करते हैं। सभापतिजी ने मेरा ध्यान आकर्षित किया कि इस प्रकार के कोशों का निर्माण हम कर सकते हैं। मेरे कहने का आशय यह है कि इस प्रकार के कोशों का निर्माण हम नहीं करते हैं ये तो वे ही विद्वान करते हैं जो कि हिन्दी भाषा के साथ-साथ उस विषय को भी जानते हैं। वे हिन्दी भाषा भी जानते हैं और गणित तथा अन्य विज्ञानों के भी पंडित होते हैं। केवल भाषा के ज्ञान से ही हम गणित के शब्द नहीं बना सकते हैं। हमें यह विविध साहित्य के निर्माण का कार्य उन्हीं विद्वानों के द्वारा कराना होगा जो हिन्दी भाषा के साथ-साथ उस विषय के भी पंडित हों। मेरा विचार मुख्यतया यह है कि साहित्य के जो अन्य क्षेत्र हैं उनके साथ वस्तुतः जब तक हम एक प्रकार से कोआर्डिनेशन स्थापित नहीं कर लेंगे तब तक सफलता नहीं मिल सकती है। हम इस काम को अपने आप ही नहीं कर सकेंगे। हम योजना रच सकते हैं कि

हिन्दी में विविध साहित्य का निर्माण कैसे हो किन्तु उनकी सहायता के बिना हम इसको सम्पन्न नहीं कर सकते हैं। पाठ्य पुस्तकों के बनाने का जब प्रश्न आएगा तो वे ही लोग बनावेंगे जिनका कि उन विषयों से सम्बन्ध है।

प्रो० विनयमोहन शर्मा

डाक्टर रघुवंशजी ने जो विचार व्यक्त किए हैं उस सम्बन्ध में हमारे सदस्यों में मतभेद है। 'हिन्दी में विविध विषयक साहित्य के निर्माण की योजना' में साहित्य का अर्थ कुछ सज्जन ललित वांगमय करते हैं और कुछ उसका अर्थ उपयोगी साहित्य। इस सम्बन्ध में नागप्पाजी ने ये विचार रखे हैं कि परिषद को अपना ध्यान केवल ललित वांगमय की ओर केन्द्रित नहीं रखना चाहिए, वरन् उसे गणित, राजनीति, विज्ञान आदि अन्य विषयों के साहित्य-निर्माण की योजना को भी अपने सामने रखना चाहिए। अभी डाक्टर रघुवंशजी ने कहा कि परिषद का यह क्षेत्र नहीं है। उनका कहना है कि परिषद केवल विचार कर सकती है, परिषद ऐसे ग्रन्थों के निर्माण करने के लिए कोई योजना नहीं बना सकती, क्योंकि परिषद के पास ऐसे विद्वान् नहीं हैं जो गणित, दर्शन आदि के ज्ञाता हों। पर हमने देखा कि परिषद ने एक विज्ञान का कोश प्रकाशित किया है। परिषद अन्य विषयों के विद्वानों की सहायता प्राप्त कर सकती है। योजना तो हम ललित वांगमय की नहीं बना सकते हैं। यदि आप कहें कि किसी से कामायनी या कृष्णायन लिखा डालिए तो यह नहीं होगा क्योंकि यह तो कवि या लेखक की स्फूर्ति पर निर्भर है। हाँ, उपयोगी साहित्य के निर्माण की योजना हम बना सकते हैं।

इस सम्बन्ध में परिषद का उद्देश्य और आशय क्या है, इसका स्पष्टीकरण डाक्टर ब्रजेश्वर वर्मा करेंगे।

डा० ब्रजेश्वर वर्मा

सभापतिजी, डाक्टर रघुवंशजी ने जो अपना दृष्टिकोण रखा है वह सही है। हमारी भारतीय हिन्दी परिषद् का कार्य भाषा, साहित्य और संस्कृति के अनुसन्धान-कार्य को संचालित करना है तथा उस ओर अपने को अग्रसर करना है। तथा दिशा साहित्य के विभिन्न पाठ्यक्रम पर विचार करना है, दिशा-निर्देश करना है। यह हमारा प्रधान उद्देश्य है। किन्तु जब १९४२ ई० में परिषद् की स्थापना हुई थी, उस समय प्रधान उद्देश्य परिषद के सामने यह रहते हुए भी उसने इस बात का अनुभव किया था कि हिन्दी में अन्य विषयों के साहित्य निर्माण से सम्बद्ध संस्थाओं के अभाव में उसे कुछ समय तक उनका भी उत्तरदायित्व निभाना पड़ेगा। हम आशा करते थे कि इस बीच विज्ञान परिषद, इतिहास परिषद आदि भिन्न-भिन्न विषयों की परिषदें हिन्दी के माध्यम से अपना काम करने लगेंगी और हिन्दी में विविध विषयों के ग्रन्थ प्रचुर मात्रा में दिखाई पड़ने लगेंगे किन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि इतना समय बीतने पर भी स्थिति बहुत अधिक सुधरी नहीं है। हिन्दी में विभिन्न विषयक साहित्य अब भी बहुत नगण्य सा ही है। डाक्टर माताप्रसाद गुप्त की योजना से हमको विदित हुआ है कि इस दिशा में कितना कार्य कितने कम समय में हमें करना है। कितनी विडम्बना है कि हमारे विश्वविद्यालयों द्वारा संचालित विभिन्न परिषदें

जिनमें अधिकांश भारतीय विद्वान् ही कार्य कर रहे हैं यह प्रस्ताव भी नहीं स्वीकार कर सकती कि उनके यहाँ हिन्दी को स्थान मिले अथवा कम से कम उनके भाषण ही हिन्दी में हुआ करें। भारतीय हिन्दी परिषद् प्रधान रूप में न सही पर जितना भी विविध साहित्य हिन्दी में निर्माण कर सकी करती रही है।

साथ ही सूचनार्थ यह भी विवेदन कर देने की आवश्यकता है कि हिन्दी में रुचि रखने वाले हिन्दी के माध्यम से अन्य विषयों के पढ़ाने वाले अध्यापक तथा अन्य विद्वान् भी जिन्हें परिषद् के उद्देश्य मान्य हों, उसके सदस्य हो सकते हैं। परिषद् द्वारा आमन्त्रित विश्व-विद्यालयों के प्रतिनिधियों में भी एक निश्चित संख्या ऐसे सदस्यों की निर्धारित रहती है जो विभिन्न विषयों के विद्वान् हों और जो हमें अपना सहयोग प्रदान कर सकें। हम इन विद्वानों का सहयोग इसीलिए प्राप्त करने का उद्योग करते हैं कि प्रस्तुत योजनाओं को हम उनके सहयोग द्वारा कार्यान्वित कर सकें।

मैं एक सूचना आपको और भी दे देना आवश्यक समझता हूँ कि दो तीन वर्ष हुए हम लोगों ने हिन्दी में पाठ्यग्रन्थों के निर्माण की योजना बनाने का विचार किया था और वह योजना भी डाक्टर माताप्रसाद गुप्त के द्वारा प्रवर्तित की गई थी। उस योजना के प्रति आचार्य नरेन्द्रदेवजी ने भी बहुत दिलचस्पी दिखलाई थी और उस समिति के वे प्रधान भी थे। यद्यपि दुर्भाग्यवश उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता है, तथापि उनका आशीर्वाद हमें प्राप्त है। डाक्टर गुप्त जी ने उस योजना में दो सूचियाँ प्रस्तुत की थीं एक सूची में दिया हुआ है कि हिन्दी में कितना साहित्य विविध विषयक है जो अंडर ग्रेज्युएट (पूर्व स्नातक) परीक्षा के लिये उपयोगी है। दूसरी सूची में ऐसी पुस्तकों के नाम जिनका अनुवाद तत्काल अंडर ग्रेज्युएट शिक्षा के लिए हो जाना चाहिए। उस सूची में उन विद्वानों के नाम भी दिए हुए हैं जो इस कार्य के लिए तैयार हैं और जिनकी विद्वत्ता का उपयोग इस कार्य के लिए किया जा सकता है। परिषद् ने उस योजना को थोड़ा बहुत कार्यरूप में भी परिणत किया। मेरा तो विश्वास है कि भारतीय हिन्दी परिषद् जो कि अखिल भारतीय स्वरूप की है और जिसको विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों का भी सहयोग प्राप्त है, यह कार्य सुचारु रूप से कर सकती है। उसके साथ किसी प्रकार की कुंठाएँ नहीं हैं, गलत धारणायें नहीं हैं। इसलिए मैं चाहूँगा ऐसी संस्था को हमारी प्रान्तीय व केन्द्रीय सरकारें प्रश्रय प्रदान करें और अनुदान द्वारा उसकी योजनाओं को सफल बनाने में सहायता दें।

मैं समझता हूँ कि अभी जो थोड़ा सा सैद्धांतिक भ्रम पैदा हो गया था वह अब समाप्त हो जाएगा। अब आप लोगों से प्रार्थना है कि डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा प्रस्तावित योजना पर व्यापक दृष्टि से विचार कर आप लोग यह सुझाव दें कि कहाँ तक वह योजना व्यावहारिक है और किस प्रकार वह कार्यान्वित की जा सकती है।

इसके पश्चात् सभापति महोदय ने श्री भी० ना० बनहट्टी से प्रस्तुत विषय पर अपने विचार व्यक्त करने की प्रार्थना की।

श्री भी० ना० बनहट्टी

डाक्टर माताप्रसादजी का भाषण सुना तो मेरे मन में कुछ विचार आए और कुछ स्मरण भी हो आया जिसे मैं आपके सामने रख देना चाहता हूँ। विशेषकर मराठी

में विविध विषयों के साहित्य निर्माण करने के जो प्रयत्न हुए हैं उनकी कुछ कल्पना और उनके कुछ विवरण आपके सामने रखने का मेरा विचार है। मराठी में जो प्रयत्न हुआ है, संक्षेप में अगर कहा जाय तो उसके संबंध में मैं कहूंगा कि सन् १८५० से यह प्रयत्न चला हुआ है। आधुनिक विज्ञान और शास्त्र जैसे ह्यूमन साइंस, नेचुरल साइंस आदि विषयों के निर्माण करने का प्रयत्न प्रोफेसर बालाजी मोड ने, जो कोलहापुर में प्रोफेसर थे, प्रारम्भ किया था। उन्होंने केवल अपनी प्रेरणा से और अपने वैयक्तिक प्रयत्नों से करीब करीब २० ग्रन्थ लिखे और प्रकाशित भी किए। वे ग्रन्थ हैं पदार्थ विज्ञान, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र इत्यादि। कुछ ग्रन्थों को लिखने में थोड़ी बहुत दूसरों से सहायता भी ली है और बाकी के कुछ उन्होंने स्वतन्त्र रूप से लिखे हैं। उनका यह प्रयत्न १८५० से १८८५ तक चलता रहा। इसके बाद दाबोलकर नाम के एक प्रकाशक सामने आए और उन्होंने शास्त्रीय ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना बनाई और शायद उन्होंने भी इतने ही अर्थात् २०-२५ ग्रन्थ प्रकाशित किए। इनका यह प्रयत्न १८६० से १६१० तक अर्थात् १५-२० वर्षों तक चलता रहा। उन्होंने ऐसे विद्वानों का सहारा लेकर, जिन्हें साइंस का ज्ञान था, यह प्रयत्न किया था। उस जमाने में कालेजों में माध्यम का सवाल ही नहीं था। लेकिन उनका जो प्रयत्न था वह इसी उद्देश्य से था कि जनता में शास्त्र का और विज्ञान का कुछ ज्ञान प्रसारित हो। इसी दृष्टि से उन्होंने यह कार्य आरम्भ किया था और उसका फल यह हुआ कि २०-२५ ग्रन्थ उनकी लेखनी द्वारा निकल आए। हर्बर्ट स्पेंसर के भाषणों का भी उन्होंने रूपांतर किया। जान स्टुअर्ट का जो जीव शास्त्र का ग्रन्थ था उसका भी भाषान्तर करके उन्होंने जनता के सामने रखा।

इसके बाद एक प्रयत्न और हुआ जिसे शायद कुछ लोग जानते भी होंगे। डाक्टर श्रीधर केतकर ने एक मराठी ज्ञान कोश तैयार किया। इसके तैयार करने में सरकार से कुछ संबंध नहीं था। मैं आपके सामने जो बातें रख रहा हूं उनका सरकार से कोई संबंध नहीं है। यह साहित्य केवल वैयक्तिक प्रेरणा और व्यावहारिक रूप से ही जनता के सामने आया है। ये ग्रन्थकार लगन से ही ग्रन्थ लिखते थे। उसमें द्रव्योपार्जन का भी कोई सवाल नहीं था। वे इस काम को अपना कर्तव्य जानकर ही करने में लगे थे। श्री दाबोलकरजी ने लिखा है कि केवल ८०० ग्राहकों को तैयार करने से ही हमारा प्रकाशन का खर्चा निकल आता है और उसमें हम खुश हैं। मुझे अपनी रोजी के लिए कोई चिंता नहीं है क्योंकि मेरे पास दूसरा धंधा है जिससे मेरी गुजर-बसर हो जाती है। उन्होंने ऐसे काम के लिए कभी भी पैसों की चिंता नहीं की। श्री दाबोलकरजी केवल प्रकाशक थे, लेखक नहीं थे। श्री केतकर जी के मराठी ज्ञान कोश का प्रयत्न अत्यधिक सराहनीय है। अपनी उस एनसाइक्लोपिडिया में उन्होंने अपनी खुद की धारणाएँ और संशोधन, जो कि वैदिक विज्ञान और इतिहास पर हैं, पाँच ग्रन्थों में वाचकों के सामने प्रस्तुत किए और शेष को अकारादि क्रम से प्रकाशित किया। यह कार्य भी केतकरजी ने जनता की सहायता से ही किया था। उन्होंने इस कोश के कार्य को पूरा करने के लिए एक लिमिटेड कंपनी बनाई जिसमें छोटे-छोटे शेयर्स रखे गए, जिससे साधारण स्थिति के लोग भी पैसा देकर उसमें भाग ले सकते थे। ऐसी कठिन परिस्थितियों में द्रव्य एकत्र कर केतकरजी ने कोश-निर्माण का कार्य चलाया जो लगभग दस वर्षों के कठिन परिश्रम से समाप्त हुआ।

कहने का मतलब यह कि इस तरह से जो प्रयत्न हुए हैं वे काफी प्रेरणास्पद हैं। इस अवसर पर मैं अपने निजी प्रयत्नों की यदि कुछ चर्चा कर दूँ तो बुरा न होगा।

मैंने 'नवभारत ग्रन्थ माला' नाम से एक माला चलाई थी जिसमें कुछ शास्त्रीय वैज्ञानिक तथा कुछ साहित्यिक ग्रन्थ हैं। इस माला के अंतर्गत अब तक २१ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। इन २१ ग्रन्थों में ६, ७ ग्रन्थ ऐसे हैं जो साइन्स, इतिहास और साहित्य पर भी हैं। साथ ही इसमें ह्यूमन साइन्स पर भी एक ग्रन्थ है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह भी एक प्रयत्न था। इसमें किसी भी संस्था या किसी धनी व्यक्ति या सरकार का प्रश्रय नहीं लिया गया था। अब तो जमाना बदल गया है। मैंने आपके सामने इन बातों की चर्चा इसी उद्देश्य से की कि आप प्राचीन और नवीन परिस्थितियों का अंतर समझ सकें और यह निश्चय कर सकें कि जिस प्रकार का कार्य आप करने जा रहे हैं उसमें किस प्रकार की निष्ठा तथा त्याग वृत्ति अपेक्षित रहती है। क्या इन उदाहरणों से हमें अपने मार्ग पर अग्रसर होने के लिए पर्याप्त प्रेरणा नहीं मिलती? मैंने ये बातें अपनी अल्प धारणा के अनुसार ही आपके सामने रखी हैं।

डा० रामकुमार वर्मा

सभापति महोदय, देवियो और सज्जनो! आज यह अत्यन्त सुविधाजनक अवसर प्राप्त है कि विश्वविद्यालयों में काम करने वाले अध्यापक यहाँ पर एकत्रित हुए हैं और उनके अनुभव तथा विचारों को सुनने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ। लेकिन जिस दृष्टि से यह विषय डाक्टर माताप्रसादजी गुप्त ने उपस्थित किया है और जो रूपरेखा भारतीय हिन्दी परिषद् ने रखी है उस दृष्टि से यहाँ पर किसी भी वक्ता ने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया। उसकी पकड़ कैसी होनी चाहिए इसके सम्बन्ध में मैं कुछ कहना चाहता हूँ। हिन्दी को राजभाषा बनाने के लिए जो पन्द्रह वर्ष की अवधि भारतीय संविधान में रखी गई है उसमें से पाँच वर्ष तो बीत चुके हैं। लेकिन इन ५ वर्षों में हमने अभी तक कोई ऐसा कार्य नहीं किया है जिससे कि हिन्दी को अँग्रेजी के स्थान पर रख सकें। इसका विशेष कारण यही है कि हमारे विश्वविद्यालयों की ओर से या हमारी संस्थाओं की ओर से ही कोई योजना प्रस्तुत नहीं हो सकी है जिससे कि उपयोगी साहित्य का निर्माण संभव हो सके। उपयोगी साहित्य के निर्माण की आवश्यकता सभी स्वीकार करते हैं; किन्तु किस दृष्टि से किस प्रकार और किनके सहयोग से यह कार्य संपन्न होना चाहिए इस सम्बन्ध में कोई सक्रिय योजना नहीं प्रस्तुत की जा सकी। विश्वविद्यालयों में हिन्दी माध्यम से शिक्षा आरम्भ करने के सम्बन्ध में अब तक यही बात दुहराई जा रही है कि हिन्दी में अभी इस प्रकार का साहित्य नहीं निर्मित हुआ जिसके आधार पर हिन्दी को माध्यम बनाया जाय। इसी प्रकार की बातें कहकर यह प्रश्न टाला जा रहा है। अतः आज की इस सभा में इस बात पर विचार किया जाना चाहिए कि किस योजना से कार्य किया जाय कि हिन्दी को शीघ्रातिशीघ्र विश्वविद्यालयों में माध्यम के रूप में स्थान मिल सके। क्या हम विश्वविद्यालयों के पास ऐसे पत्र भेजें जिसमें कि वे अपने विभागों के अध्यक्षों को इस प्रकार निर्देश दें कि वे अपने विषय सम्बन्धी पाठ्य पुस्तकों में ६ महीने में तैयार करवा लें! अथवा राज्य सरकार को लिखकर निर्धारित समय के भीतर अलग-अलग विषयों की पाठ्य पुस्तकें तैयार करवाई

आएँ ? अथवा इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार को ही कहा जाय कि अमुक समय तक हमें विश्वविद्यालयों में हिन्दी माध्यम में अमुक-अमुक विषय की शिक्षा आरम्भ करनी है अतः कोई व्यवस्था की जाय ? या फिर भी नागप्पाजी के निर्देशानुसार अपनी परिषद् में ही विभिन्न विषयों की समितियाँ संगठित की जायँ और उनके द्वारा निर्धारित समय के भीतर विभिन्न विषयों की पुस्तकें तैयार कराई जायँ ? कहने का तात्पर्य यह है कि निश्चित् अवधि के भीतर यह कार्य पूरा करने के लिए हमें कोई सुनिश्चित योजना अवश्य बनानी पड़ेगी। आज की गोष्ठी में हमें विशेष रूप से इसी पहलू पर प्रकाश डालने की आवश्यकता थी। भारतीय हिन्दी परिषद् के तत्त्वाधान में इस प्रकार की पाठ्य पुस्तकों का निर्माण हो सकता है किन्तु इसके लिए धन की आवश्यकता पड़ेगी, जो हमारे पास नहीं है। यदि राज्य सरकारों से या केन्द्रीय सरकार से हमें कुछ आर्थिक सहायता मिले तो हम इस कार्य में अवश्य ही अग्रसर हो सकते हैं। डाक्टर माताप्रसादजी ने जब वे हिन्दी साहित्य के सम्मेलन के मंत्री थे, तब ऐसी ही एक योजना बनाई थी लेकिन समयाभाव के कारण और भी बहुत सी आवश्यक चीजों का समावेश नहीं कर पाए थे। वे आज भी प्रयत्न कर रहे हैं लेकिन परिस्थिति यह है कि धनाभाव के कारण लोगों का सहयोग न मिलने से सारी योजनाएँ सफलीभूत नहीं हो पा रही हैं। अतः आप से प्रार्थना है कि आप ऐसे विचार प्रकट करें जिससे इस दिशा में ठोस कदम उठाया जा सके। इस सम्बन्ध में हम यह चाहते हैं कि दो साल में समस्त विषयों में हिन्दी माध्यमिक की पाठ्य पुस्तकें तैयार कर विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों को हिन्दी की पाठ्य पुस्तकों से भर दें। आज तक जिस बहाने से यह प्रश्न टाला जाता रहा है उस पर हमें जल्दी ही आक्रमण करना चाहिए। इसलिए मेरी आपसे प्रार्थना है कि अभी न सही तो एक सप्ताह में अथवा एक महीने में इस सम्बन्ध की योजना हमारे भारतीय हिन्दी परिषद् के कार्यालय में लिख कर भेज दें।

जहाँ तक मैं जानता हूँ हमारे नागपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति के प्रयास से वहाँ की उच्च कक्षाओं में हिन्दी और मराठी माध्यम से पढ़ाई आरम्भ हो गई है। नागपुर विश्वविद्यालय के लिए यह बड़े गौरव की बात है कि उसने इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए सबसे पहले कदम उठाया।

यही कार्य अब हमें अखिल भारतीय स्तर पर करना है। इसके लिए प्रत्येक प्रांत के विद्वानों को अब कटिबद्ध हो जाना चाहिए। विभिन्न विषयों के विद्वान देश के चाहे जिस भाग में मिलें हमें उनसे यही प्रार्थना करनी है कि अपने विषय पर हमें हिन्दी में प्रमाणिक पाठ्य पुस्तकें दें। यदि समयाभाव के कारण स्वतः लिख कर देने में असमर्थ हैं तो किसी से लिखवा कर उसे सुधार कर हमें दें।

हमें यह कार्य अविलंब ही करना है जिससे हम विश्वविद्यालयों की ५ वर्षों के भीतर ऊँची से ऊँची कक्षा में पढ़ाने के लिये शुद्ध हिन्दी में अनूदित अथवा मौलिक पाठ्य पुस्तकें दे सकें। अब तक हम लोग इसे नहीं कर सके यह हमारे लिए कलंक की बात है। हमें यह कलंक का टीका धोना है और इस समस्या पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर लेना है।

डा० माताप्रसाद गुप्त

सभापति महोदय, भूमिका के विचार पर डाक्टर रामकुमार वर्मा जी ने मेरे बोलने के लिए कुछ भी बचा नहीं रखा है। हमारे सामने जो हिन्दी में विविध

साहित्य में निर्माण की योजना है और उसे हल करने की जो समस्या है उस पर विचार करना है। उसे पूरा करने के लिये किन साधनों का अवलंबन किया जाय जिससे कि यह योजना शीघ्र से शीघ्र पूरी हो जाय। ऐसी अवस्था में मेरा सुझाव यह है कि यह परिषद् राज्य सरकारों से इस बात की प्रार्थना करे कि सबसे पहले विभिन्न विषयों की पाठ्य पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद का कार्य वे अपने हाथ में लें। मैं आपको इस बात का विश्वास दिलाना चाहता हूं कि कुछ सरकारें इस कार्य को पहले से ही कर रही हैं और कुछ करने के लिये उद्यत हैं। किन्तु उसके लिए हमें भी कुछ प्रयास करना पड़ेगा और राज्य सरकारों से प्रार्थना करना पड़ेगा। इससे यह लाभ होगा कि ऊँचे स्तर का कुछ साहित्य अनुवाद के माध्यम से सामने आ जाएगा। दूसरी योजना है इंटर यूनिवर्सिटी बोर्ड की। जिस प्रकार वे प्रत्येक वर्ष इसका अधिवेशन करते हैं और बहुत से विषयों पर निर्णय करते हैं उसी प्रकार ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त करने के लिए जिन पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता है उसका उत्तरदायित्व अपने पर ले और उसको कार्यान्वित करें। प्रत्येक विश्वविद्यालय को इस हिसाब से काम दे दिया जाय कि वे अपने यहाँ के विषयों की पारिभाषिक शब्दावली तैयार करें और यह काम हमें उनसे जबर्दस्ती से लेने की आवश्यकता है। नागपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति यहाँ पर इस समय उपस्थित हैं इसलिये मैं उनसे प्रार्थना करता हूं कि वे इस काम को करने के लिए हमें पूर्ण सहयोग दें। तीसरी बात यह है कि इस योजना को शीघ्र कार्य रूप में परिणत करने के लिए सरकारों को चाहिए कि वे विज्ञप्ति निकालकर अपने-अपने शिक्षा-संचालकों के पास भेजें कि उनके अन्तर्गत जितने भी अध्यापक हैं वे अपने जिले के हिसाब से, अपने ग्राम के हिसाब से शब्दों की एक सूची तैयार करें और मैं समझता हूं कि, यह काम अध्यापक लोग अपने विद्यार्थियों के द्वारा सरलता से करा लेंगे। उदाहरणस्वरूप मान लीजिए हमें चिड़ियों का हिन्दुस्तानी नाम ज्ञात करना है। इसके लिए हमें जनजीवन और जनदर्शन के निकटवर्ती विद्वानों से संपर्क बढ़ाना होगा। मैं समझता हूं कि गाँव के विद्यार्थी इस काम को अधिक सही ढंग से कर सकते हैं और यदि हम शिक्षा-संचालकों के द्वारा ज्ञातव्य विषयों की सूची उनके पास भेज सकें तो थोड़े ही समय में अनेक पर्यायवाची शब्दों का ढेर हमारे पास पहुँच जाएगा जो हमारे लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

मैं समझता हूं, इन उपायों से काम लेने पर हम बहुत सी कठिनाइयों से बच जायँगे। और कार्य भी अधिक शीघ्रता से हो सकेगा।

प्रो० इन्द्रदेव आर्य

सभापति जी, देवियो तथा सज्जनो, डाक्टर गुप्त जी ने जो योजना रखी कि पाँच वर्ष में विश्वविद्यालय स्तर की सारी शिक्षा हिन्दी माध्यम के द्वारा हो तथा हिन्दी में ही साहित्यिक और वैज्ञानिक लेख तैयार हों उसके लिए हम सभी को मिलकर प्रयत्न करना चाहिए। प्रायः ऐसा होगा कि बी० ए०, बी०एस-सी० में विद्यार्थी हिन्दी माध्यम से शिक्षा प्राप्त कर आगे जब एम० ए०, एम० एस-सी० में जाते हैं तो हिन्दी की पाठ्य पुस्तकों के अभाव के कारण पुनः उन्हें अँग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने को बाध्य होना पड़ता है। शिक्षा की यह परिपाटी नितांत ही त्रुटिपूर्ण है और इससे विद्यार्थीवर्ग को हताश

हो जाना पड़ता है। अतः हमें शीघ्रातिशीघ्र एम०, ए० तथा एम० एस-सी० स्तर के विविध विषयों की हिन्दी पाठ्यपुस्तकें तैयार करा लेनी चाहिए। नागपुर विश्वविद्यालय ने इस दिशा में भली प्रकार मार्ग प्रदर्शन किया है। अन्य विश्वविद्यालयों को भी इसी आदर्श पर कार्य आरम्भ कर देना चाहिए। हैदराबाद में उस्मानिया यूनिवर्सिटी ने भी उर्दू में इस तरीके से कार्य शुरू किया है। अब आवश्यकता इस बात की है कि हम लोग परस्पर कोऑर्डिनेशन स्थापित करें और प्रति वर्ष यदि पचास-पचास ग्रन्थ भी तैयार कराएँ तो कुछ समय के अनन्तर हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाएगी। यदि हम लोग एक सुनिश्चित योजना के अनुसार कार्य करना आरम्भ कर दें तो कोई कारण नहीं कि हमें सरकारी सहायता न मिले।

किन्तु यदि आज ही हम सब कुछ करने के विचार से बैठेंगे अथवा केन्द्रीय सरकार पर ही सब कुछ छोड़ कर बैठेंगे तो यह कार्य कभी भी संभव नहीं हो सकेगा। अतः मेरा यह सुझाव है कि यदि यह कार्य करना है तो यह सब कार्य पाँच वर्ष में बिलकुल असंभव नहीं है। परन्तु सारा कार्य हमें दृढ़ता के साथ करने की आवश्यकता है। इसके लिए हमें दक्षिण के विद्वानों का सहयोग लेने की आवश्यकता है। यह हो सकता है कि अभी हिन्दी के शब्द मिलने में कठिनाइयाँ आएँ। इस दशा में हम अँग्रेजी शब्दावली को लेकर ही अपना काम चला सकते हैं। ये मेरे सुझाव हैं। आशा करता हूँ कि आप लोग इस ओर ध्यान देंगे।

इसके पश्चात् सभापति महोदय ने डा० माताप्रसाद गुप्त से इस विषय पर पुनः अपने विचार प्रकट करने की प्रार्थना की।

डा० माताप्रसाद गुप्त

सभापतिजी और उपस्थित विद्वज्जन, आपके सामने अभी जो भाषण हुए उनके बारे में संदेह प्रकट किया गया कि वे विषय से, कहाँ तक संबंधित थे। मैं तो समझता हूँ कि प्रायः सभी भाषण विषय से संबंधित ही थे, इसलिये मैं इस चर्चा में सम्मिलित होने वाले सभी विद्वानों को बधाई देता हूँ। इन्होंने काफी ऊँचे स्तर से अपने विचार सभा के सामने रखे और कुछ ठोस सुझाव भी दिए।

इनमें से एक सुझाव यह है कि समस्त भारतीय साहित्य के निर्माण का इतिहास लिखा जाए, लेकिन जो योजना यहाँ पर रखी गई है उसमें यह बात आ जाती है और इस तरह की कार्रवाई इसी योजना के भीतर हो सकती है। जब आप इस भाषा को समृद्ध बनाने के प्रयास में लग जाएँगे तो वैसा करते समय बहुत सी चीजें हमारे सामने स्वतः ही आ जाएँगी और उस समय यदि किसी ने साहित्य का इतिहास लिखकर हमारे सामने रखा है तो उसका स्वागत किया जाएगा। उसके लिए अलग से कोई योजना बनाने की आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं होती।

फिर यह भी एक सुझाव आया कि अन्य भाषाओं में जो ग्रन्थ हैं उनका अनुवाद-कार्य होना चाहिए। यह केन्द्रीय सरकार करे या वह स्वतंत्र रूप से किया जाए। लेकिन उसकी आवश्यकता आज बहुत है। हमने जो आपके सामने योजना रखी है वह ऐसी व्यापक है कि उसमें यह विषय भी समाहित है। यदि किसी दूसरी भाषा में किसी विषय पर मौलिक ग्रन्थ है तो उसका आप हिन्दी में अनुवाद करवा सकते हैं। यदि वे मूल रूप में भारतीय भाषा में हैं

तो उनको हिन्दी में आप यदि लिख सकते हैं तो जरूर लिखिए। इससे तो हिन्दी भाषा समाहृत होगी। लेकिन यदि ऐसे भी कुछ मौलिक ग्रन्थ हैं जिनको दूसरी भाषा में भी विद्वान् नहीं लिख सके हैं तो उनको भी हिन्दी में लिखने का प्रयास करने के लिए हिन्दी-प्रेमियों को सदा तैयार रहना चाहिए। केवल अनुवाद की ही चर्चा एक पिछड़ी हुई बात है। पहले तो आपको मौलिक ग्रन्थों का निर्माण करना पड़ेगा और अनुवाद का प्रश्न बाद में आता है। मौलिक ज्ञान की खोज को ही हमें अधिक महत्त्व देना चाहिए। अनुवाद-कार्य नितान्त आवश्यक है, लेकिन जब आपके पास कोई दूसरा काम न हो तभी आपको अनुवाद का कार्य करना चाहिए। अनुवाद और अनुसंधान का कार्य हिन्दी माध्यम से ही होना चाहिए। लेकिन अनुवाद कार्य के लिए किसी योजना की आवश्यकता नहीं है। मैंने इस ओर पहले ही संकेत किया था कि इसके लिए केन्द्रीय सरकार का एक स्वतंत्र विभाग है। इसमें आप आर्टिकल्स भेज सकते हैं और उनका अनुवाद आपको कुछ ही दिनों में बिना दाम के प्राप्त हो सकता है। लेकिन ये अनुवाद आपको अँग्रेजी में मिलेंगे। जिस समय हिन्दी राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठापित हो जाएगी उस समय वे सब अनुवाद हिन्दी में प्राप्त होने लग जाएँगे। परन्तु इसके लिए आप सरकार को अभी से प्रेरित कर सकते हैं। जो विद्वान् हिन्दी में अनुवाद चाहते हैं उनके लिए सरकार हिन्दी में अनुवाद देने की व्यवस्था करे, चाहे वह अनुवाद अँग्रेजी से ही करके क्यों न दे। हम उनके लिए यह कह सकते हैं कि यह आपका धर्म है, क्योंकि हिन्दी को राजभाषा मान लिया गया है और अगर हम राजभाषा में कोई ग्रन्थ प्रस्तुत करना चाहते हैं तो उसमें आप और न सही तो कम से कम इतनी सहायता तो दीजिए। मैं समझता हूँ कि इसमें कोई कठिनाई की बात नहीं है।

इस संबंध में इंस्टीट्यूट और सोसाइटीज की भी चर्चा की गई है। उनका भी सहयोग लिया जा सकता है। इस प्रकार की सोसाइटीज स्थापित की जा सकती हैं जो विविध विषयों पर हिन्दी में साहित्य-निर्माण का कार्य कर सकें और हिन्दी में इन विविध विषयों के ज्ञान-भंडार का विस्तार कर सकें। जहाँ तक इनके स्थापित करने का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में हमारे लिए योजना बनाना कठिन होगा। लेकिन जो संस्थाएँ मौजूद हैं उनसे आप अनुरोध कर सकते हैं कि जो कुछ कार्य वे करती हैं वह हिन्दी में किया करें या अँग्रेजी में होने वाले कार्य का अनुवाद ही हिन्दी में देने का प्रयत्न करें। यह हो सकता है कि उनके पास इसके लिए कोई प्रकाशन की व्यवस्था न हो। इनमें से बहुत सारी संस्थाएँ तो अधिवेशन संस्थाएँ ही हैं। ये प्रकाशन इत्यादि का कार्य अधिक नहीं कर सकतीं, फिर भी हमें इन सभी संस्थाओं से यह अनुरोध करना चाहिए कि वे इस कार्य में हमें अधिकाधिक सहयोग दें। इसके लिए उन्हें प्रेरित करना बहुत आवश्यक है।

इसके बाद कुछ भाषणों में रेफरेन्स बुक्स के संबंध में कहा गया। इसके लिए मैंने अपनी योजना में बहुत विस्तार के साथ बतलाया है। मैंने सहायक पुस्तकों के नाम लिखे हैं और उनका हिन्दी में किस प्रकार और कहाँ रूपांतरण कराया जा सकता है, इसका भी उल्लेख किया है। इस संबंध में विभिन्न विषयों की परिषदें हिन्दी में कार्य करें तो यह बहुत अच्छी बात है। परन्तु हम उनको इस कार्य के लिए विवश नहीं कर सकते, क्योंकि आज हम ऐसी स्थिति में नहीं हैं। हम हिन्दी प्रदेश के विश्वविद्यालयों को ही मजबूर नहीं कर पा रहे हैं। प्राथमिक विश्वविद्यालय की परीक्षा के लिए तो सरकार ने ही उन्हें मजबूर किया और

तब उन्होंने हिन्दी माध्यम अपनाया। आज भी यदि ८० प्रतिशत विद्यार्थी हिन्दी माध्यम चाहते हैं तो कठिनाई से ५० या ६० प्रतिशत विद्यार्थियों के लिए हिन्दी माध्यम की शिक्षा की व्यवस्था हो पाती है। मैं नहीं जानता कि नागपुर विश्वविद्यालय की क्या हालत है, परन्तु जहाँ तक सुनने में आया है, वहाँ पर मराठी और हिन्दी के लिए बराबर प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया जा रहा है और विद्यार्थी अपने इच्छानुसार माध्यम पा जाते हैं। मैं तो उत्तरप्रदेश की बात कह रहा हूँ और अपने विश्वविद्यालय की बात तो मैं खूब अच्छी तरह से जानता हूँ कि इस संबंध में वहाँ पर विद्यार्थियों को कितनी कठिनाई है। उन्हें अपनी इच्छा का माध्यम नहीं मिलता। आधे विद्यार्थियों को निराश होना पड़ता है। इसलिए हमारा अनुरोध है कि इस संबंध में उचित प्रस्ताव पास किया जाए।

एक सुझाव यह भी आया था कि योजना साइक्लोस्टाइल होकर पहले वितरित हो जाती तो बहुत अच्छा होता। परन्तु मेरे पास इसके लिए जो तार गया था उसको आज एक सप्ताह हो रहा है। मैंने लिख तो उसी दिन दिया था पर मैं यदि इसे यहाँ भेजता तो शायद यह योजना रास्ते में ही रहती, मिल न पाती। मैं तो अभाव की पूर्ति कर रहा हूँ। जैसे मैंने पहले कहा यह द्रव्य के स्थान पर पुंगीफल है। मैंने आपके सामने कुछ सुझाव के ही रूप में यह योजना रखी है।

सात वर्ष पहले हिन्दी साहित्य सम्मेलन में साहित्य-मंत्री का भार मुझको दिया गया था उस समय मैंने एक योजना बनाई कि विविध विषयों पर ग्रन्थ हिन्दी में लिखाए जा सकें। पर साहित्य-सम्मेलन में प्रतिवर्ष चुनाव होता है और दूसरे ही चुनाव में मुझे निकाल बाहर किया गया। उसके बाद तुरन्त स्थायी समिति ने यह प्रस्ताव पास किया कि इस प्रकार की योजना से प्रकाशकों के साथ सम्मेलन का संघर्ष होगा, इसलिए अविलंब इस योजना को समाप्त कर दिया जाए। मैंने केवल १८ लेखकों को इसके लिए लिखा था जिनमें से ७ के ग्रन्थ आ गए थे। वे तो किसी तरह उन्होंने छाप लिए, किन्तु शेष सबको भेजने के लिए मना कर दिया। परन्तु इसके बाद भी मैंने और प्रयास किया और कुछ प्रकाशकों को प्रेरित किया कि वे इसमें हाथ बँटाएँ। उन्होंने इस दिशा में प्रयास भी किया परन्तु जब उन्होंने देखा कि हिन्दी माध्यम जल्दी विश्वविद्यालयों में नहीं होने जा रहा है तो विवश होकर इस कार्य को छोड़ दिया। इसलिए इस विषय पर जो कुछ मैंने कहा है उस पर मेरा पहले से ही अधिकार रहा है और मैंने काम भी किया है। इस दिशा में परिषद् प्रगति करे यही मेरी कामना है।

इसके पश्चात् परिषद का यह कार्य-क्रम समाप्त किया गया।

हिंदी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाएँ

गोष्ठी-सभापति प्रो० ना० नागप्पा का भाषण

विद्वज्जनो !

इस विद्वत्सभा में मेरा काम कान खोले रहने का था, मुँह खोलने का नहीं। न मैं इस गहरे विचार के मूलभाव का दावा ही कर सकता हूँ, न मैं इस संबंध में अपने यहाँ कोई निर्णय करके उसे अमल में लाने का अधिकार ही रखता हूँ। इसलिए मेरा यहाँ कुछ भी कहना अनधिकार चेष्टा है। मैं आप लोगों का और भारतीय हिंदी परिषद् का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे यह पद प्रदान किया है। दक्षिण भारत में हिंदी भाषा का प्रचार राष्ट्रीय रचनात्मक कार्य के रूप में पूज्य बापूजी के द्वारा चालू किया गया। गत सत्ताईस वर्षों से यही दृष्टि हिंदी प्रचारकों की रही है। सत्याग्रह या स्वातंत्र्य-आन्दोलन में कारागार जाना जितना महत्त्वपूर्ण था, हिंदी प्रचार कार्य का करना दक्षिण भारत में उससे कम महत्त्व का नहीं था। पूज्य पं० हृषीकेश जी शर्मा, नागपुर, पं० हरिहर शर्मा, मद्रास, श्री देवदास गाँधी और श्री मो० सत्यनारायण के नाम हिंदी प्रचारक भाइयों में आदर के साथ लिए जाते हैं। पूज्य बापूजी हिंदी भाषा अर्थात् राष्ट्रभाषा के आन्दोलन को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते थे और है भी वह महत्त्वपूर्ण ही।

आज दक्षिण भारत में हिंदी प्रचार का कार्य अनेक दिशाओं में आगे बढ़ रहा है। स्कूलों में हिंदी पहुँच गई है। कालेजों में उसका प्रवेश हो रहा है। उसका हर कहीं प्रेम से स्वागत किया जाता है। फिर भी कहीं-कहीं सुदूर दक्षिण में उसके विरुद्ध भी चीख किन्तु दबता की आवाज उठायी जा रही है। हिंदी का विरोध न प्रान्तीय भाषा अथवा मातृभाषा के प्रेम का ही द्योतक है, न इस आशंका का ही सूचक है कि हिंदी के आगे बढ़ने से हमारे नौजवानों को मातृभाषा के प्रति यथेष्ट मात्रा में अभिरुचि पैदा नहीं होती। बल्कि हिंदी-विरोध प्रायः अपने राजनैतिक या आर्थिक स्वत्व के भ्रष्ट या नष्ट होने की आशंका का द्योतक है। यह आशंका समय समय पर और स्थान स्थान पर भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है। बोर्डों पर हिंदी में लिखित स्टेशनों के नाम मिटाना भी इस आशंका का एक रूप है। कुछ भी हो, मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा के उत्कट प्रेमी भी दक्षिण भारत में आज हिंदी की उपयोगिता एवं आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं। इस अनुभव की गहराई के साथ-साथ हिंदी विरोध भावना मिटती जा रही है और उधर भारतीय सरकार और उत्तर भारत की भिन्न-भिन्न सरकारों एवं विश्वविद्यालयों का हिंदी भाषा का अधिकाधिक उपयोग करना दक्षिण भारत पर काफ़ी असर कर जाता है। इसका फल यह है कि

भाषा, साहित्य, स्कूली शिक्षा, कालेज-शिक्षा और विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम, सरकार में शासन का माध्यम और उच्चातिउच्च न्यायालय में व्यवहार का माध्यम इन सब दृष्टियों से दक्षिण भारत के जैसे अन्य प्रदेशों के लोग भी इस बात पर विचार कर रहे हैं कि हिंदी का उत्तर में क्या स्थान हो, और अपने यहाँ क्या स्थान हो। अँग्रेजी का महत्व कम होता जाय तो किन-किन क्षेत्रों में और कहाँ तक प्रादेशिक भाषाएँ अँग्रेजी का आज का स्थान ग्रहण करेंगी और हिंदी कहाँ तक, और अँग्रेजी भी किसी कार्य के साधन के लिए टिकी रहेगी तो किसलिए, कहाँ तक और कब तक?—इन बातों पर देश में बड़े बड़े राजनीतिज्ञ, साहित्यज्ञ, शिक्षणचेता तथा अध्यापकगण विचार कर रहे हैं। राज्य पुनर्संगठन-समिति की रिपोर्ट पर अभी चर्चा चल ही रही है कि (शासन) भाषा आयोग सारे देश का दौरा करके अपनी रिपोर्ट तैयार करने को है। इन दोनों की सिफारिशों पर जब पूर्णतया अमल किया जायगा तब भाषा संबंधी आज की समस्याएँ कोई और ही रूप धारण करेंगी।

यह करीब-करीब निश्चित सा है कि भाषाओं की बुनियाद पर देश के भिन्न भिन्न राज्यों की व्यवस्था हो जायगी। इस बुनियाद पर राज्यों की पुनर्व्यवस्था करने के कारणों में से यह भी बताया गया है और आम तौर पर माना भी गया है कि भाषा की इकाई पर बने राज्य की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक उन्नति सहज हो होगी। इस उन्नति में एक भाषा सहायता पहुँचाती है। मैसूर सरकार ने आज संस्कृत-प्रसार का एक विभाग सरकार की तरफ से खोल रखा है। उसका सारा काम राज्य की प्रादेशिक भाषा, अर्थात् कन्नड में चल रहा है। जब कन्नड बोलनेवाले सभी लोगों का एक राज्य होगा तब मैसूर की प्रादेशिक भाषा, कन्नड का स्थान और मजबूत होगा और होना चाहिए। अभी तो हर एक हाईस्कूल में शिक्षा का माध्यम कन्नड ही है और अगले वर्ष से यानी १९५८-५९ में विश्वविद्यालय की प्रथम कक्षा अर्थात् जूनियर इंटर वर्ग में कन्नड वैकल्पिक माध्यम होने जा रही है। कर्नाटक विश्वविद्यालय में कन्नड का माध्यम इसी वर्ष से आरंभ हो गया है।

विश्वविद्यालय-शिक्षा के दो पक्ष हैं, एक प्रजा-पक्ष और दूसरा विद्या-पक्ष। प्रजा-पक्ष की तरफ भी हमें ध्यान देना पड़ता है। राज्य की विधान सभाएँ अपनी राज्य-सीमा के अन्तर्गत विश्वविद्यालयों को आर्थिक सहायता प्रदान करती हैं तो उनमें प्रजा या जनता की कहाँ तक सेवा हो रही है, इस तरफ भी ध्यान देती है, देना चाहिए। मैसूर विश्वविद्यालय की तरफ से कन्नड की प्रचार व्याख्यान-माला की व्यवस्था समय-समय पर राज्य के भिन्न-भिन्न स्थानों में की जा रही है। इन व्याख्यानों का सार छोटी छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित हो रहा है। यह क्रम इधर बीस वर्षों से जारी है। एक पुस्तक का मूल्य दो आना या तीन आना मात्र होता है और आज तक करीब सौ पुस्तकें इस माला में प्रकाशित हो चुकी हैं। इनकी लाखों प्रतियाँ बिकी हैं। विश्वविद्यालय का प्रकाशन-विभाग इन पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य कर रहा है। कन्नड माध्यम भी इसी प्रजा पक्ष का दूसरा कदम है। उपलब्ध ज्ञान को मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा के द्वारा सुलभ न कर सके तो वह ज्ञान किस काम का? हमारे यहाँ के प्रादेशिक भाषा के विद्वानों का मत है कि प्राइमरी स्कूल से लेकर विश्वविद्यालय तक सारी शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा होना चाहिए। आजकल हमारे यहाँ अगले वर्ष से कन्नड को जूनियर इंटर में शिक्षा का माध्यम करने की सक्रिय चेष्टा हो रही है। कन्नड में

धड़ाधड़ पुस्तकें निकल रही हैं। आज कन्नड़ भाषा की दशा, अभिव्यञ्जना-शक्ति या साहित्य या भाषा की प्राचीनता की दृष्टि से हिंदी से कुछ पिछड़ी हुई नहीं है। कन्नड़ भाषा में साहित्य की परंपरा तभी से शुरू हो चुकी थी जब हिन्दी भाषा का जन्म तक नहीं हुआ था। आज कन्नड़ में विश्व-कोष बन रहा है। अंग्रेजी-कन्नड़ कोश बीस साल पहले का ही बना हुआ था। उसका काफी नाम है। तमिल और तेलुगु के विश्वकोशों के कतिपय भाग प्रकाशित हो चुके हैं। इस तरह स्वातंत्र्योत्तरकालीन युग में प्रादेशिक भाषाओं की काफी उन्नति हो रही है।

साथ ही हिन्दी की भी इतनी तेजी से प्रगति हो रही है कि कहाँ किस कोने में हिन्दी के लिए कोई क्या कर रहा है, इस समाचार का संग्रह करने के लिए अलग व्यवस्था चाहिए। हिंदी के बारे में किसी ने कहा कि इसकी सभी उपलब्ध पुस्तकें १०,०००रु० में ही खरीदी जा सकती हैं। किसी का कहना है कि हिन्दी अन्य किसी प्रादेशिक भाषा के मुकाबले में कुछ आगे नहीं बढ़ी है तो उसे विश्वविद्यालय के स्तर में शिक्षा का माध्यम बनाने से क्या लाभ होगा। एक ओर कुछ मनीषियों का यह दावा है कि हिन्दी तो आजकल लोग अपने आप सीखेंगे; यह कहने की भी आवश्यकता नहीं कि हिन्दी सीखिए। अहिन्दी प्रान्तों के स्कूल-कालिजों में हिन्दी वैकल्पिक ही बनी रहे, तो बहुत काफी है। अखिल भारतीय हिन्दी प्रोफेसरों के सम्मेलन में ३१-३-१९५३ को देहली में निश्चय किया गया कि अहिन्दी प्रान्तों के लड़के स्कूलों में (भावी भारत की शासन-भाषा) हिन्दी सीखने से वंचित न हों, इस उद्देश्य से हर एक स्कूल में हिन्दी अध्यापक की नियुक्ति हो और हिन्दी का सीखना उन प्रदेशों में आवश्यक ठहराया जाय जहाँ सार्वजनिक अभिप्राय उसके अनुकूल हो। इसी मत को डा० लक्ष्मणस्वामी मुदलियर के नेतृत्व में सम्पन्न सेकेंडरी एजुकेशन कमीशन ने दुहराया। उधर उस धारणा के पीछे निहित प्रेरक शक्ति को भुलाकर इतना ही अहिन्दी वालों के लिए पर्याप्त बता दिया गया कि हिन्दी का स्थान स्कूल-कालिजों में वैकल्पिक रहे तो बहुत ही काफी है। मैसूर राज्य के हाई-स्कूलों में हिन्दी पढ़ाई का आवश्यक विषय है; पर SSLC परीक्षा का विषय नहीं है। इससे हिन्दी के प्रति छात्रों की क्या श्रद्धा होगी, यह आसानी से कल्पना की जा सकती है। बम्बई प्रान्त के स्कूलों और कालिजों में हिन्दी का अध्ययन आवश्यक कर दिया गया है और संभवतः १९५६ या १९५७ से, SLC. परीक्षा का भी विषय कर दिया गया है। हैदराबाद में SSLC में हिन्दी अनिवार्य है। आन्ध्र प्रान्त में हिन्दी को एम० एस० एल० सी० के लिए आवश्यक बनाने की नीति की घोषणा हो चुकी है। त्रावंकूर राज्य इस बात में सबसे आगे कदम बढ़ाए हुए है। वहाँ हिन्दी SSLC. की पढ़ाई और परीक्षा दोनों के लिए आवश्यक कर दी गई है। केवल मद्रास प्रान्त में हिन्दी का स्थान आज भी वैकल्पिक है। SSLC. में हिन्दी प्रथम भाषा के तौर पर ली जा सकती है और द्वितीय भाषा के तौर पर भी; तृतीय भाग में दस्तकारी हिन्दी आवश्यक कर दी गई। इस भाग में सुनते हैं कि ७५१० विद्यार्थी हिन्दी ही ले रहे हैं। तत्कालीन शिक्षा-मंत्री ने इस युक्ति से हिन्दी के लिए यह स्थान कर दिया कि आज मद्रास प्रान्त में भी लाखों विद्यार्थी स्कूल-कालिजों में हिन्दी सीख रहे हैं। मैसूर युनिवर्सिटी में आई० कॉम० में और आन्ध्र युनिवर्सिटी में बी० कॉम० में हिंदी का अध्ययन आवश्यक है; दक्षिण भारत की अन्य सब युनिवर्सिटियों में इंटर और बी० ए० में हिन्दी द्वितीय भाषा और वैकल्पिक भाषा के तौर पर पढ़ाई जा रही है। मैसूर राज्य के शिक्षा मन्त्री श्री अ० गो०

रामचन्द्रराव और आन्ध्र राज्य के मुख्यमन्त्री श्री गोपाल रेड्डी का हिन्दी-प्रेम काफी प्रसिद्ध है।

श्री रामचन्द्रराव जी दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा की 'राष्ट्रभाषा-विशारद' परीक्षा उत्तीर्ण हैं। उन्होंने १९५३ में दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा का दीक्षान्त भाषण देते हुए यह सुझाया था कि सभा को हिन्दी युनिवर्सिटी के रूप में संगठित करना चाहिए। हमारे यहाँ अर्थात् मैसूर की शिक्षा-सुधार-समिति के सदस्य की हैसियत से हमारे कर्नाटक के ख्याति-प्राप्त और एकेडेमी के द्वारा पुरस्कृत कवि श्रीमान् के० वी० पुट्टप्पा जी ने यह राय दी थी कि सेकेंडरी स्कूल की शिक्षा के क्रम में हिन्दी भाषा का स्थान आवश्यक कर दिया जाय और प्राइमरी आठवीं कक्षा में ही बच्चों को हिन्दी पढ़ाई शुरू कर दी जाय तो सात-आठ वर्षों की हिन्दी-शिक्षा के बाद युनिवर्सिटी में आवश्यक भाषा के तौर पर फिर से हिन्दी पढ़ने की आवश्यकता न रह जाय।

इस तरह करीब करीब यह धारणा अ-हिन्दी प्रान्तों में आज दृढ़ होती जा रही है :—

(१) स्कूलों में (सेकेंडरी स्तर) में हिन्दी का सीखना आवश्यक हो।

(२) विश्वविद्यालयों में हिन्दी वैकल्पिक हो।

(३) क्या स्कूल, क्या कॉलेज, क्या विश्वविद्यालय शिक्षा के प्रत्येक स्तर में प्रादेशिक भाषा शिक्षा का माध्यम हो।

अभी तो इन बातों के भी काफी विरोधी हैं। वे तो सदा रहेंगे ही। यह भी आवश्यक होगा कि जहाँ कहीं पर्याप्त संख्या में छात्र हों वहाँ हिन्दी भी शिक्षा का माध्यम हो, पर यह माध्यम प्रादेशिक व्यवहार या शासन के क्षेत्र में प्रादेशिक भाषा के साथ-साथ चलेगा, उसका स्थान नहीं लेगा। स्थान और भी समय और दृढ़ होगा, इस में कोई सन्देह नहीं। केन्द्रीय शासन-प्रथा आयोग की प्रश्नावली का उत्तर भेजने के पहले हमारे महाविद्यालय के प्राचार्य भाषा विज्ञान और हिन्दी विभाग के प्राध्यापक—इन तीनों ने मिलकर विचार किया और अहिन्दी प्रान्तों के बारे में, जो निश्चय किया उसका सार इस प्रकार है :—

(१) उच्चातिउच्च न्यायालयों की भाषा प्रदेशों में भी प्रादेशिक भाषा हो; पर उनकी कार्यवाही हिन्दी के द्वारा केन्द्रीय अधिन्यायालय को उपलब्ध हो।

(२) अखिल भारतीय सेवा-आयोग वाले अखिल भारतीय सेवाओं के चुनाव के लिए आवश्यक परीक्षाएँ संविधान द्वारा स्वीकृत हर एक भाषा में चलानी चाहिए।

(३) शिक्षा का माध्यम हर प्रदेश में हर एक स्तर में प्रादेशिक भाषा ही हो।

(४) प्रादेशिक सरकार की शासन-भाषा प्रादेशिक भाषा हो।

(५) एक राज्य और दूसरे राज्य और एक राज्य और केन्द्र का सारा पत्र-व्यवहार हिन्दी में हो।

इस समय केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त भाषा-आयोग उपर्युक्त बातों के बारे में खूब विचार करके किसी निश्चय पर पहुँचे, यह अत्यन्त आवश्यक है।

अब अँग्रेजी का स्थान भावी भारत में क्या हो, इस पर भी दो बातें कहना आवश्यक है। हमारे यहाँ भविष्य में अँग्रेजी का वह स्थान नहीं रहेगा जो आजकल है। अँग्रेजी का अध्ययन एक तो भाषा की दृष्टि से होगा और दूसरा साहित्य की दृष्टि से। साहित्य की दृष्टि से अँग्रेजी का अध्ययन प्रादेशिक भाषा के द्वारा भी हो सकता है। संस्कृत, अरबी, फारसी साहित्य का अध्ययन करके उसका सार भाग आज जिस तरह ग्रहण किया जा रहा है, उसी तरह अँग्रेजी साहित्य का अध्ययन करके उसके साहित्य की गहराई और विशालता का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, भले ही अँग्रेजी बोलना और लिखना न सीखा जाय। हिंदी साहित्य सम्मेलन वाले इसी नीति का अनुसरण करते आ रहे हैं। यह नीति आज के विश्वविद्यालयों के कर्णधार मान लें तो इसमें हमारा क्या क्षति होगी? दूसरी बात यह है कि हममें से कुछ लोगों को अँग्रेजी भाषा में प्रवीण होना चाहिए। आवश्यकता होने पर इंग्लैंड जा कर अँग्रेजी सीख आना चाहिए। उनसे राजदूतों का काम लिया जायगा। ऐसे लोगों को अँग्रेजी का उत्तम से उत्तम ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

अब थोड़ा बहुत इसका भी विचार करना चाहिए कि अहिंदी प्रान्तों में हिंदी का क्या स्थान हो। इसमें आज तक सर्वसम्मत मत ये हैं :—

(१) विश्वविद्यालय के स्तर तक हर एक को छात्रशाला में हिंदी का सीखना आवश्यक होना चाहिए। इसके बारे में भी कुछ लोगों का कहना है कि हिंदी अध्यापक की नियुक्ति मात्र हर एक स्कूल में आवश्यक कर दी जाय और छात्रों का हिंदी वर्ग में जाना वांछनीय तो हो किन्तु वैकल्पिक माना जाय। हिंदी छात्रों पर जबर्दस्ती न लादी जाय।

(२) विश्वविद्यालय में हिंदी का स्थान वैकल्पिक हो।

(३) हर एक विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग खोला जाय। हिंदी में एम० ए० तक की पढ़ाई हो। संविधान की धारा ३५१ की पूर्ति के लिए आवश्यक प्रयत्न किया जाय। हिंदी के लिए प्रादेशिक भाषाओं में जो भी दिया जा सकता है, सो अवश्य दिया जाय। हिंदी के उत्तम से उत्तम ग्रन्थों का प्रादेशिक भाषाओं में अनुवाद हो। उत्तम श्रेणी के हिंदी प्रादेशिक भाषा और प्रादेशिक भाषा-हिंदी कोश प्रकाशित किए जायँ।

(४) हिंदी में उच्चातिउच्च शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा करने वाले दक्षिणी विद्यार्थियों को उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों में भेजा जाय और तदर्थ छात्रवृत्तियाँ केन्द्र-सरकार, दक्षिण के विश्वविद्यालय और उत्तर के विश्वविद्यालय प्रदान करें।

दक्षिण भारत में और आम तौर पर अहिंदी प्रान्तों में यह बात सुनने में आ रही है कि उत्तर भारत के हमारे भाई द्रविड़ परिवार की कोई भाषा अवश्य सीखें। अन्यथा अखिल भारतीयता उनके दिल में कैसे उत्पन्न होगी? दक्षिण वाले हिंदी सीखे बिना भी अपने को भारत देश के नागरिक होने का अनुभव कर सकते हैं और उत्तर भारत वाले भी कन्नड़ या तमिल सीखे बिना सच्चे भारतीय हो सकते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि सुदूर दक्षिण की कोई भाषा उत्तर के उपाधिधारी, या यों कहिए हिंदी की एम० ए० परीक्षा देने वाले सीखेंगे

तो हिंदी और प्रादेशिक भाषाओं का आदान-प्रदान इतना बढ़ेगा कि हिंदी की अभिव्यंजना शक्ति उतनी ही बढ़ेगी जितनी कि संस्कृत की है। संस्कृत ने भी प्राकृत से शब्द ग्रहण किए थे। उसी तरह हिंदी भी प्रादेशिक भाषाओं के शब्द ही नहीं, मुहावरे भी लेगी। शुरू-शुरू में ये कुछ अजीब से लगेंगे पर थोड़े चलकर ये बातें हिंदी में रच जाएंगी।

मैं कुछ उदाहरण दूंगा। मैंने कोई १५०० ऐसे मुहावरे हिंदी शब्द सागर में छांटकर निकाले हैं जिनका हूबहू शब्दशः अनुवाद होने पर कन्नड में उसी अर्थ में उसी शान से लिए हुए वे मुहावरों के तौर पर चलते हैं। 'आंख भरना' (मदलु तुंबुवुदु) आंख भर देखना, (कण्णु तुंब । आदि ऐसे मुहावरे हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि हिंदी और कन्नड़-भाषाओं की आत्माएँ सर्वथा भिन्न-भिन्न नहीं हैं। हिंदी और कन्नड के वाक्यों में कर्ता-कर्म-क्रिया का स्थान एक सा है। हिंदी और कन्नड की क्रियाओं के रूप एक से हैं। दोनों की ध्वनियाँ करीब-करीब एक सी हैं और हिंदी की सभी सार्थक ध्वनियाँ (Phonemic sounds) कन्नड में भी प्रचलित हैं। अब साहित्य की बात लीजिए। वही रामायण, महाभारत और भागवत हिंदी और कन्नड दोनों में उपलब्ध हैं और आकृति साहित्य के रूप हैं। क्या भाषा का कार्य, क्या साहित्य, किसी भी दृष्टि से हिंदी की आत्मा कन्नड की आत्मा से भिन्न नहीं है। कन्नड ही क्यों, किसी भी प्रादेशिक भाषा की आत्मा से भिन्न नहीं है। लोक साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। ससुराल जाने वाली लड़की को माँ के हार्दिक उपदेश, सोहाई और गहाई के समय के किसानों के गीत, प्रथम वर्षा या वसन्त के स्वागत के लिए भला किस भाषा में लोकगीत उपलब्ध नहीं होंगे? आप भूल जाइए कि हिंदी हमारी केन्द्रीय सरकार की शासन-भाषा है, इसलिए वह प्रधान है। हिंदी की आज की सर्वतोमुखी उन्नति प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति के साथ-साथ ही हो रही है। फिर हिंदी और प्रादेशिक भाषाओं का परस्पर संबंध मधुर, न्यायी, अटूट और सारे भारत की जनता का हृदय अखिल भारतीयता की भावना से भरने में सहायक ही होगा। सभी भारतीय भाषाओं की वाणियाँ एक साथ बज उठेंगी तो वह शुभ कार्य मधुर होगा और अत्यन्त आनंददायक होगा।

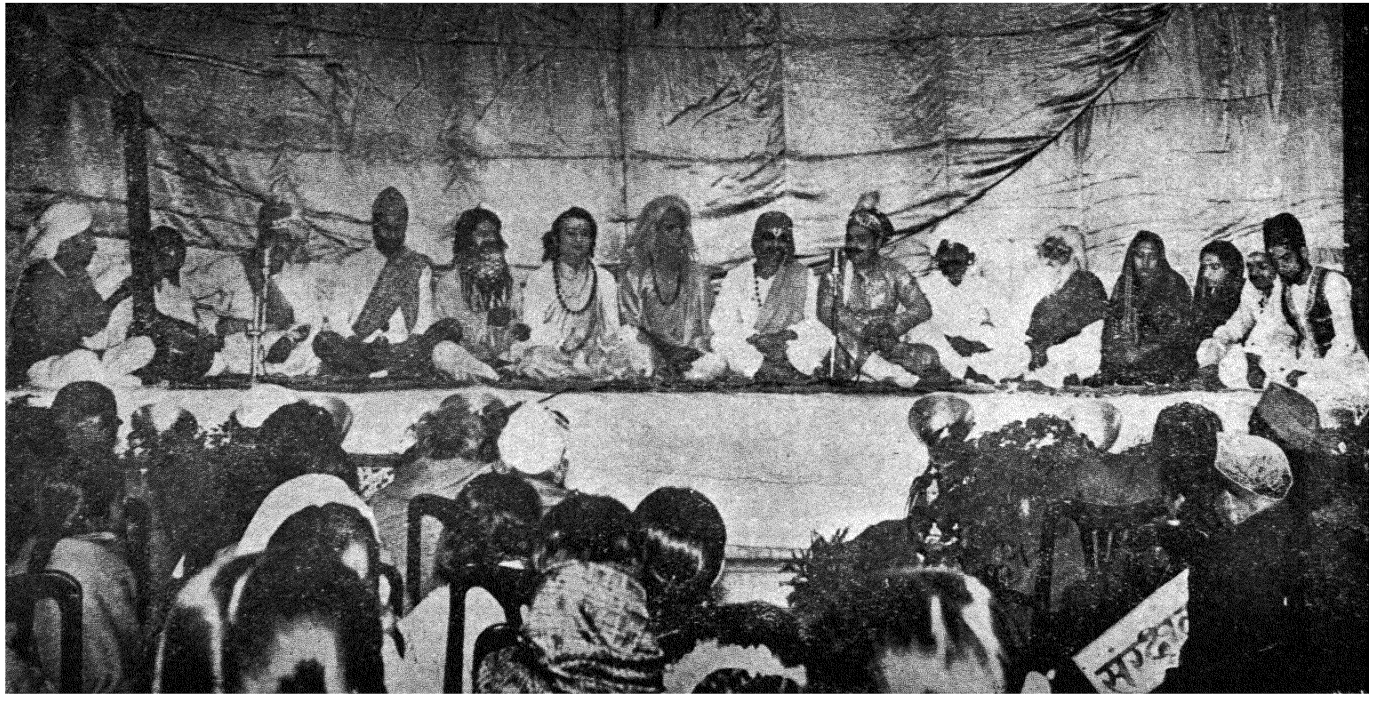
हिन्दी में अन्य भाषाओं से उत्तमोत्तम कृतियों को लेने का कार्य इधर सौ वर्षों से चल रहा है। सभी भारतीय भाषाओं ने, वैसे तो, संस्कृत से कृतियाँ ली ही हैं। शाकुन्तला, मालती-माधव या कादम्बरी आजकल हर एक भारतीय भाषा में उपलब्ध हैं। कर्नाटक शाकुन्तला नाटक (श्री कम्बिसप्प शास्त्री-विरचित) हमारे यहाँ साहित्य के अन्तर्गत उसी तरह है जिस तरह है भारतेन्दु का 'सत्य हरिश्चन्द्र' (जिसके बारे में स्व० पं० रामचन्द्र जी शुक्ल का कहना है कि वह एक बंगीय नाटक का हिंदी अनुवाद है)। हिंदी में महाराष्ट्र भाषा के उप-यासों का अनुवाद सबसे पहले इंडियन प्रेस वालों ने प्रकाशित किया था। 'महाराष्ट्र जीवन प्रभात' और 'उषाकाल' बंकिम ग्रन्थावली, शरत् साहित्य, और द्विजेंद्रलाल राय के नाटक बंग-भाषा से हिंदी में होते हुए कन्नड में उपलब्ध हो रहे हैं। सभी प्रादेशिक भाषाओं के उत्तमोत्तम साहित्य एवं नवीनतम साहित्यिक प्रवृत्तियों का परिचय हमें हिंदी द्वारा मिले, इस उद्देश्य से पूज्य महात्मा गांधी ने बीस वर्ष पहले भारतीय साहित्य परिषद् की स्थापना की थी जिसका मुखपत्र 'हंस' था। कुछ दिनों के बाद यद्यपि 'हंस' का रूप बदल

गया, पर इस कार्य में कोई शिथिलता नहीं आई। आजकल स्वातंत्र्य-प्राप्ति के बाद हिंदी की व्यापकता और प्रान्तीय भाषाओं की बढ़ती हुई प्रधानता ने भारतीय भाषाओं के आपस के आदान-प्रदान को बढ़ा दिया है। मराठी भाषा में पूने के मेरे मित्र ने 'आँसू' (प्रसाद-विरचित) का मराठी में काव्यमय अनुवाद प्रस्तुत किया है। हमारे कालेज के द्वितीय वर्ष के कन्नड़ आनर्स के एक विद्यार्थी ने 'मृगनयनी' का और मुंशीजी के 'जय सोमनाथ' का कन्नड़-अनुवाद प्रस्तुत किया है। अभी हाल में कम्बर-जयंती के अवसर पर मद्रास में हमारे राष्ट्रपति बाबू राजेंद्रप्रसाद ने कहा था कि कम्बर रामायण, वाल्मीकि रामायण और तुलसी रामायण —इन तीनों को समझने वाले व्यक्ति हमारे यहाँ कितने हैं ? मैं कहता हूँ कि कम से कम ऐसे व्यक्ति से मैं परिचित हूँ जिसने इन तीनों रामायण काव्यों का अध्ययन किया है। आर (श्री क० म० शिवराम शर्मा) ने तिरुक्कुरल नामक प्राचीन तमिल काव्य के दो खंडों का ब्रजभाषा के दोहों में अनुवाद प्रस्तुत किया है। अभी रेडियो द्वारा भिन्न-भिन्न भाषाओं के लोक गीत सस्वर और मधुर कंठ से सुनने को मिलते हैं। मराठी में 'राम-वन-वास' नाटक के रूप में पूना स्टेशन द्वारा प्रसारित किया गया था। मराठी न जानने पर भी उसका थोड़ा बहुत रसास्वाद मुझे मिल गया। मराठी और हिंदी दोनों भाषाओं में शारदी पूर्णिमा के दिन नागपुर रेडियो स्टेशन से कविताएँ सुनायी गई थीं। गुजराती और हिंदी दोनों भाषाओं की कविताएँ अहमदाबाद रेडियो से सुनने को मिलती हैं। इतना ही नहीं, हमारे यहाँ कर्नाटकी संगीत पद्धति से तुलसी रामायण सुनायी जा रही है। इस तरह प्रांतीय भाषाओं का हिंदी से दिन-ब-दिन ऐसा घनिष्ठ संबंध स्थापित हो रहा है कि पूज्य बापूजी आज होते तो हिंदी द्वारा उपलब्ध भारतीय साहित्य द्वारा एक भारती माता के हृदय को पहचानते और प्रसन्न होते।

भारतीय हिंदी परिषद्

त्रयोदश वार्षिक अधिवेशन, नागपुर

२८, २९, ३० सितंबर १९६६



सांस्कृतिक समारोह का एक दृश्य—कवि दरबार

हिंदी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाएँ

विषय-प्रवर्तक डा० प्रजेश्वर वर्मा का भाषण

सभापति महोदय और विद्वज्जन,

विषय-प्रवर्तन का यह उत्तरदायित्व मुझे एकाएक स्वीकार करना पड़ा है। जिन विद्वान महानुभाव को यह कार्य सौंपा गया था, वे कुछ कारणों से उपस्थित नहीं हो सके। अतः मेरे विचारों को आप औपचारिक स्थान-पूर्ति मात्र समझ कर इस महत्वपूर्ण विषय पर विचार-विमर्श करें।

हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में इस समय अनेक प्रकार के भ्रम फैले हुए हैं—कुछ तो इस कारण कि राजभाषा की भावी स्थिति के विषय में अभी वास्तव में स्पष्टता नहीं है और कुछ कदाचित इसलिए भी कि इनके कारण राजभाषा सम्बन्धी निर्णय अधिक से अधिक टाला जा सके। परन्तु हमारा कर्तव्य है कि हम इन भ्रमों का निवारण करके हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं के सम्बन्ध को उपयोगिता और सौहार्द के आधार पर स्थापित करने का प्रयत्न करें।

इस सम्बन्ध में स्पष्टतः दो मत हमारे सम्मुख आते हैं। एक मत कुछ ऐसे गण्य-मान्य व्यक्तियों का है जो देश को एक सूत्र में बाँधने के उद्देश्य से हिन्दी को लगभग वही स्थान देना चाहते हैं जो आज अँग्रेजी को प्राप्त है। इस मत के अनुसार हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का सम्बन्ध लगभग वही रहेगा जो आज अँग्रेजी तथा समस्त देशी भाषाओं का है। राजभाषा के रूप में ही नहीं, शिक्षा व्यवस्था में भी ये लोग हिन्दी को प्रधानता देने के पक्ष में हैं। उनका मत है कि माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा का माध्यम तो प्रादेशिक भाषाएँ रहें, परन्तु प्रथम स्नातक परीक्षा में हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम का विकल्प होना चाहिए; उसके बाद, स्नातकोत्तर परीक्षाओं का माध्यम देश के सभी विश्वविद्यालयों में हिन्दी ही रखा जाए।

इसी प्रकार न्याय की भाषा के रूप में प्रादेशिक भाषाओं का व्यवहार जिले की अदालतों तक तो हो सकता है, परन्तु उच्च न्यायालयों में देश भर में हिन्दी का ही व्यवहार होना चाहिए। उनका तर्क है कि न्याय के संबंध में एक शब्द, एक विराम चिह्न, एक संकेत चिह्न का भी बहुत महत्व होता है, अतः उच्च न्यायालयों के निर्णय, जिनका उपयोग देश-व्यापी होता है, यदि अनुवाद के द्वारा प्रयोग में लाए जाएँगे तो अन्याय हो सकता है। अखिल भारतीय लोकसेवा आयोग की परीक्षाओं के माध्यम के रूप में भी ये लोग अँग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को ही प्रतिष्ठित करने के पक्ष में हैं। यही नहीं, इन लोगों का झुकाव इस ओर

जान पड़ता है कि प्रादेशिक प्रशासन की भाषा भी हिन्दी हो हो, यद्यपि इस बात को खुले रूप में कहा नहीं गया है।

कभी-कभी यह विचार कदाचित इस उद्देश्य से भी प्रचारित किया जाता है कि अहिंदी प्रदेशों में हिन्दी के साम्राजवाद का आतंक पैदा हो और विरोध का वातावरण गहरा हो जाए।

परन्तु, जहाँ तक मैं समझता हूँ, इस विचार का हिन्दी प्रदेश के विचारशील विद्वान् समर्थन नहीं कर सकते। आज जब कि राज्यों का पुनर्गठन प्रादेशिक भाषाओं के आधार पर किया जा रहा है, यह मत उपस्थित करना हास्यास्पद-सा है। प्रत्येक प्रदेश को अपने संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास का जन्म-सिद्ध अधिकार है और वह भाषा के माध्यम के बिना संभव नहीं है। हिन्दी को प्रादेशिक भाषाओं के क्षेत्र में उनकी प्रतिद्वंद्विता करने की कोई आकांक्षा नहीं है।

केन्द्रीय शासन तथा अंतर-प्रादेशिक व्यवहार की भाषा के रूप में हिंदी का क्या स्थान होना चाहिए, इस विषय में न्याय और सतर्कता से विचार करने की आवश्यकता है। मेरा विचार है कि (१) प्रादेशिक प्रशासन में प्रादेशिक भाषाओं का ही प्रयोग होना चाहिए, केवल उच्च प्रशासकीय कार्यालयों में केन्द्र तथा अन्य प्रदेशों से पत्र-व्यवहार आदि करने के लिए हिंदी-विभागों की समुचित व्यवस्था कर दी जाए। (२) न्याय के क्षेत्र में अवश्य उच्च न्यायालयों के निर्णयों के देश-व्यापी उपयोग को ध्यान में रखते हुए हिंदी के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। परन्तु मेरे विचार में, यदि प्रादेशिक प्रशासन में प्रादेशिक भाषाओं को पूर्ण प्रमुख दिया जा सकता है तो उन्हीं तर्कों के आधार पर न्यायालयों में भी उन्हें ही व्यवहार में लाना उचित है। मेरा सुझाव है कि उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को अपनी क्षमता और योग्यता के अनुसार प्रादेशिक भाषा या हिंदी में निर्णय देने में विकल्प रहे। परन्तु मूल निर्णय यदि प्रादेशिक भाषा में लिखा जाए तो उसका हिन्दी अनुवाद भी साथ ही प्रस्तुत किया जाए। इसी प्रकार हिन्दी में दिए गए मूल निर्णय का अनुवाद प्रदेश की भाषा में साथ-साथ उपलब्ध होना चाहिए। (३) प्रादेशिक विधान सभाओं के भाषणों में भी हिन्दी के प्रयोग की छूट होनी चाहिए। परन्तु इन भाषणों के युग्म-पद अनुवाद की व्यवस्था आवश्यक है। (४) इसी प्रकार की छूट प्रादेशिक लोकसेवा आयोग की परीक्षाओं के लिए भी दी जा सकती है। (५) शिक्षा के संबंध में भी मेरा स्पष्ट विचार है कि अहिंदी क्षेत्रों में प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा के माध्यम के रूप में तो हिन्दी का प्रश्न किसी प्रकार उठाया ही नहीं जा सकता। इस रूप में हिन्दी अँग्रेजी का स्थान लेकर प्रादेशिक भाषाओं के विकास में कभी बाधक बनना चाहेगी यह कल्पना भी नहीं की जा सकती। उच्च शिक्षा भी मेरे विचार से प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से ही मिलनी चाहिए। जहाँ तक हिन्दी भाषी प्रदेशों का संबंध है, उनकी ओर से अहिंदी प्रदेशों में उच्च या उच्चतम शिक्षा के माध्यम के लिए हिन्दी की माँग करना उचित नहीं है। इस संबंध में दो मत नहीं होने चाहिए। यह प्रश्न प्रदेशों के राज्यों और विश्वविद्यालयों के स्वतंत्र निर्णय के लिए छोड़ देना चाहिए। प्रादेशिक भाषाओं में तभी उच्चतम साहित्य का विकास हो सकता है जब कि उन्हें उच्चतम शिक्षा में पूर्ण अधिकार मिले। हिन्दी को विकल्प के रूप में स्वीकार करना अवश्य ही सबके लिए हितकर होगा।

प्रायः यह मिथ्या धारणा फैलाई जाती है कि हिन्दी प्रादेशिक भाषाओं को दबाना चाहती है। परन्तु यह नितान्त निराधार कल्पना है। हिन्दी का सार्वदेशिक प्रयोग निश्चित् क्षेत्रों और व्यवहारों तक सीमित है। वह एक व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति मात्र है। हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं की परस्पर कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं है। प्रतिद्वन्द्विता तो सभी देशी भाषाओं की आज की अंग्रेजी के विरोध के साथ है।

विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दी के प्रयोग का जो मैंने संक्षेप में संकेत किया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य के क्षेत्र में तो हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं के किसी प्रकार के संघर्ष की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सभी भाषाओं में सौहार्द और मैत्री का भाव बना रहे, इसके लिए हिन्दी भाषी निरन्तर चिन्तित है। वास्तव में इन मिथ्या धारणाओं का प्रचार इसलिए किया जाता है कि अंग्रेजी सभी भाषाओं के ऊपर यथावत आसीन रहे।

अन्त में, मैं यह निवेदन कर देना उचित समझता हूँ कि मैंने ये विचार अपनी व्यक्तिगत हैसियत से ही प्रकट किए हैं। यद्यपि भारतीय हिन्दी परिषद् ने इस सम्बन्ध में अपने निर्णय एक बुलेटिन में प्रकाशित किए हैं और मेरे विचार बहुत कुछ उनके अनुकूल हैं, परन्तु उनके उपस्थापन करने में विवरण तथा बलाघात का अन्तर हो सकता है।

विचार-विनिमय

बंगीय हिन्दी परिषद् के प्रतिनिधि श्री रामशरण पाण्डेय

आज जो समस्या उठाई गई है वह हमारे सामने विषम रूप में उपस्थित है। वस्तुतः हिन्दी प्रचार के साथ राष्ट्र का संगठन जुड़ा हुआ है। हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं में आदान-प्रदान होगा। हिन्दी के देश व्यापी प्रसार का यह तात्पर्य नहीं है कि वह प्रादेशिक भाषाओं को दबाए। उच्च शिक्षा में हिन्दी माध्यम वैकल्पिक रूप में कहाँ तक उचित होगा? न्यायालयों तथा विश्वविद्यालयों में हिन्दी का यथेष्ट ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि प्रादेशिक प्रतिभा को सीमित न रह जाना चाहिए। प्रतिभाओं के विस्तार के लिए विभिन्न प्रदेशों में हिन्दी का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करने की सुविधाएँ दी जानी चाहिए। यदि हिन्दी को वैकल्पिक माध्यम के रूप में अन्य प्रदेशों में रखने में काम चल सके तो आपत्ति नहीं, पर हिन्दी को प्रदेशों में मुदृढ़ स्थान मिलना चाहिए, जिससे राष्ट्रीय एकता बढ़ सके और प्रादेशिक प्रतिभाओं को व्यापक क्षेत्र मिल सके।

देवनागरी लिपि का प्रचार होने से हमारा काम बहुत सरल हो जाएगा। हिन्दी का प्रचार युग धर्म के कारण होता जा रहा है। हम प्रान्तीय भाषाओं के महत्त्व को स्वीकार कर यह कार्य करें। हिन्दी राज्य भाषा हो या राष्ट्र भाषा किसी रूप में उसका कार्य प्रादेशिक भाषाओं की शक्ति को सीमित करना नहीं है। उसका लक्ष्य तो प्रादेशिक ज्ञान और प्रतिभा का सार्वदेशिक प्रसार करना है। हिन्दी का गौरव सभी भारतीयों के अनुभव का विषय है।

हिन्दी भाषा भाषी लोग बोलियों में विभक्त हैं, आंचलिक भाषाओं में हम बँटे हैं। भोजपुरी और राजस्थानी भाषा भाषी को भी हिन्दी सीखने में कठिनाई हो सकती है।

हिन्दी अनिवार्य कर दी गई है। हर स्नातक ११ वर्ष तक हिन्दी पढ़ेगा। भाषा के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी हमें खतरा है। अनजाने हम ऐसी बातें कह देते हैं जिससे अहंकार का बोध होता है। बिना जाने ही कुछ हिन्दी के आलोचक कह जाते हैं कि ऐसा उपन्यास प्राचीन भाषाओं में नहीं है। इसका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता।

हिन्दी की एकरूपता पर ध्यान देना भी अत्यावश्यक है। हिंदी के विद्वान् लेखक कभी-कभी प्रादेशिक भाषाओं के संबंध में भ्रामक धारणाएँ व्यक्त करते हैं जो उचित नहीं है। हिंदी भाषियों में अन्य भाषाओं के प्रति प्रबल जिज्ञासा है। पर हर बात में संयम की आवश्यकता होती है।

अहिंदी भाषा प्रांतों की भाषाओं को सीखना लाभप्रद होगा, पर इसे अनिवार्य नहीं करना चाहिए। प्रादेशिक भाषाओं की रचनाओं का प्रकाशन हिन्दी में हो और उसका मार्केट बनाना चाहिए।

निबन्ध-गोष्ठी

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी एम्० ए०, पी-एच्० डी०, भागलपुर का भाषण

आज हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में 'अनुसंधान', 'अनुशीलन', 'गवेषणा', 'खोज', 'शोध' आदि के नाम पर अनेकानेक रचनाएँ प्रकाशित हो रही हैं। इनमें से कुछ शब्द अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित हैं, यद्यपि हम उनका प्रयोग नवीन तथा सूक्ष्मतर अर्थ में कर रहे हैं। इसी प्रकार का शब्द है 'गवेषणा' जो 'गविष्टि' के रूप में वेदमंत्रों में बारबार प्रयुक्त हुआ है। उस समय इसका सीधा-सा अर्थ था भूले भटके गाय-बैल की खोज। किन्तु आज गवेषणा के नाम पर न हम केवल भूले-भटके साहित्य-तत्त्वों की खोज करते हैं, अपितु साहित्य के नवीन मानदंडों और अभिनव मान्यताओं का भी आविष्कार करते हैं। गवेषणात्मक साहित्य को हम वस्तुतत्त्व-प्रतिपादन की दृष्टि से 'आलोचना' अथवा 'समीक्षा' के व्यापक नाम से सूचित करते हैं और शैली की दृष्टि से उसे हम 'निबन्ध' अथवा 'प्रबन्ध' कहते हैं।

'निबन्ध' शब्द भी प्राचीन साहित्य में अपने स्थूल और सीधे अर्थ 'बाँधने' अथवा 'ठीक से बाँधने' (नितराम् बंधनम्) में प्रयुक्त हुआ है। उदाहरणतया—इह वत्साभि बध्नीमः (अथर्ववेद)। उत्तरवर्ती साहित्य में 'नि' पूर्वक 'बन्धू' धातु का प्रयोग कुछ सूक्ष्मतर अर्थ में भी हुआ है, यथा—तद्वत्समं रसूत्रेहि तृष्णासूत्र्या निबध्यते (मृच्छकटिक)। और भी सूक्ष्मतर अर्थ में इस धातु का प्रयोग हमें ऐसे स्थलों में मिलता है जहाँ यह वाक्य-रचना अथवा शब्दार्थ-विन्यास के प्रसंग में व्यवहृत हुआ है; यथा—भाष्य वार्तिकयोर्निबद्धानि सूत्राणि अथवा निबद्धं पुण्यमास्ताम् रामायणम्' (राजतरंगिणी); अथवा...'मनूपदिष्टा धर्मान् तच्छिष्येण भृगुणा तदाज्ञयोपनिबद्धाः' (कुल्लूक मनुस्मृति भाष्य)।

जिस रूप में 'निबन्ध' शब्द का व्यवहार हम आज हिन्दी में करते हैं वह काव्य अथवा पद्य के क्षेत्र से पृथक् है। पद्यात्मक अलोचना संभव तो है, और संस्कृत-साहित्य में दर्शन तथा व्याकरण के ग्रन्थों की पद्यात्मक आलोचनाएँ प्रचुर संख्या में मिलती भी हैं; किन्तु इन्हें हम आज 'निबन्ध' की कोटि में परिगणित नहीं करेंगे। 'निबन्ध' उसे ही कहेंगे जो गद्य में हो। इसका यह तात्पर्य नहीं कि गद्यात्मक आलोचना की परम्परा भारत में नहीं थी। अत्यन्त प्राचीन काल में निघण्टु और निरुक्त जैसे ग्रन्थ इसी दृष्टि से लिखे गए थे कि वैदिक मंत्रों

की भाषागत, अर्थगत तथा प्रयोजनगत विवेचना हो। एक प्रकार से यह खेद की बात है कि निरुक्त ने भाषाविज्ञान-मूलक समीक्षा की जो पद्धति निर्दिष्ट की वह पीछे चलकर विलुप्त सी हो गई और उसका पुनरुद्धार किया कई सहस्र वर्षों बाद मोनियर विलियम्स (Monier Williams), बूलर (Buhler), मैक्समूलर (Maxmuller), वेबर (Weber) आदि पाश्चात्य भाषावैज्ञानिकों ने। पंतजलि का महाभाष्य, शंकर का ब्रह्मसूत्र-भाष्य और इस प्रकार के सैकड़ों ग्रन्थों में 'निबन्ध' के कुछ तत्त्व समाविष्ट अवश्य हैं, किन्तु वे 'निबन्ध' की कोटि में नहीं आते और न आलोचना की ही। जिसे हम आलोचना-तत्त्व कह सकते हैं, वह है उनका वह अंश जिसमें वे पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का स्थापन करके दोनों की विवेचना के आधार पर एक सिद्धान्तपक्ष पर पहुँचते हैं। इस संबंध में हम दो ऐसे ग्रन्थों का उल्लेख करेंगे, जिन्हें शुद्ध दार्शनिक आलोचना की कोटि में रख सकते हैं। वे हैं—षड्दर्शन-समुच्चय तथा सर्व-दर्शन-संग्रह। फिर भी इन ग्रन्थों की आलोचना-पद्धति और वर्तमान आलोचना-पद्धति में बहुत अन्तर है।

हिन्दी साहित्य की वर्तमान आलोचना पद्धति और निबन्ध शैली पर जहाँ एक ओर भारत के नाट्य शास्त्र और कुन्तक, रुद्रट, लोल्लट, शंकुक, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि परवर्ती आचार्यों का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है, वहाँ साथ ही साथ प्लेटो (Plato) और अरस्तू (Aristotle) से लेकर ब्रैडले (Bradley) तथा रिचार्ड्स (Richards) तक विभिन्न पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों की प्रतिच्छाया भी अंकित हुई है। जहाँ तक आधुनिक निबन्ध शैली का प्रश्न है, उसे तो हम मुख्यांश में योरुप की ही देन मानेंगे। मध्ययुग में मॉंटेन (Montaigne) ने सर्वप्रथम ऐसी लेख शैली को जन्म दिया, जिसमें किसी विशिष्ट विषय पर लेखक अपने व्यक्तिगत विचारों को प्रकट करता है। इसके पश्चात् स्टील (Steele), ऐडिसन (Addison), लैम्ब (Lamb), बेकन (Bacon), गोल्डस्मिथ (Goldsmith), स्टीवेन्सन (Stevenson), इमर्सन (Emerson), मेकॉले (Macaulay) बेलौक (Belloc), चेस्टरटन (Chesterton), ल्यूकस (Lucas), इलियट (Elliot) तथा इज़रा पाउन्ड (Ezra Pound) आदि निबन्धकारों ने उसका क्रमिक विकास किया।

पूर्वीय भावधारा एवं शैली तथा पाश्चात्य निबन्ध पद्धति के आधार पर हमने पिछले सौ वर्षों में अर्थात् भारतेन्दु से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा उनके परवर्ती आलोचकों तथा निबन्धकारों के हाथ, समीक्षात्मक निबन्ध की व्यापक स्रोतस्विनी को जिन-जिन उपसरणियों में प्रवाहित एवं प्रसारित किया है, उनका संक्षिप्त निर्देश निम्नलिखित रूप से कर सकते हैं :—

(क) अनुसंधान, अनुशीलन, समीक्षा, विवेचन, विश्लेषण आदि नामों द्वारा संकेतित आलोचना, यथा—

१—प्राचीन साहित्य-शास्त्र के रस, ध्वनि, अलंकार आदि के सिद्धान्तों का पुनरध्ययन और उनके आधार पर आचार्यत्वपरक विवेचना,

२—पाश्चात्य साहित्यालोचन पद्धति के तत्त्वों के समावेश द्वारा भारतीय साहित्य-शास्त्र के मानदंडों का नवीकरण तथा रूपान्तरण,

३—समानान्तर साहित्य एवं सदृश भावनाओं के बिम्ब-प्रतिबिम्ब का प्रतिपादन करने वाली तुलनात्मक समीक्षा,

४—भाषा-विज्ञान की दृष्टि से साहित्य की विशेषताओं का वैज्ञानिक अध्ययन,

५—मनोविज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों और मान्यताओं के आधार पर साहित्य की मूलभूत मनोभावनाओं, प्रेरणाओं और प्रवृत्तियों का विश्लेषण,

६—अध्यात्म एवं तत्त्वज्ञान पर आधारित दार्शनिक विवेचना,

७—मानवता के विकास-क्रम (Evolution) के सिद्धान्तों की अनुगामिनी ऐतिहासिक समीक्षा,

८—समाजवाद तथा द्वन्द्वात्मक भूतवाद (Dialectic Materialism) से प्रभावित प्रगतिवादी आलोचना,

९—यथार्थवाद, सौन्दर्यवाद, कलार्थकलावाद और उपयोगितावाद की दृष्टि से की गई उद्देश्य-मूलक समीक्षा।

(ख) 'खोज' अथवा 'शोध' के नाम से संकेतित आलोचन, यथा—

१—प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों, पूर्व मुद्रित किन्तु अलभ्य अथवा दुर्लभ पोथियों और पत्र-पत्रिकाओं, अज्ञात अथवा अल्पज्ञात कवियों, ग्रन्थकारों तथा उनकी कृतियों की खोज और उनका संपादन,

२—प्राचीन इतिहास, संस्कृति, अभिलेख, शिल्प तथा इस प्रकार के अन्य पुरातत्त्व सम्बन्धी उपकरणों का जीर्णोद्धार तथा तत्सम्बन्धी विशेषताओं का प्रतिपादन एवं शोध।

आलोचनात्मक निबंधों का उपर्युक्त वर्गीकरण पूर्णरूप से वैज्ञानिक है, ऐसा दावा मैं नहीं करता। वस्तुतः यह वर्गीकरण केवल निदर्शन मात्र है, और यह आशा की जाती है कि विद्वान् विचारक इसमें यथायोग्य परिवर्त्तन, परिवर्धन अथवा संशोधन करेंगे। इतना निर्विवाद है कि निबन्ध की दिशा में हिन्दी ने पिछले कुछ वर्षों में बहुत संतोषजनक प्रगति की है। आज भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में डॉक्टरेट के लिये स्वीकृत अनेकानेक प्रबन्ध (Thesis) भी वस्तुतः निबन्ध ही हैं; यद्यपि उनके आकार और प्रकार दोनों में कई ऐसी नई विशेषताएँ आई हैं जिनका समावेश अब से बीस-पचीस वर्ष पहले के निबन्धकारों की रचनाओं में नहीं था। उदाहरणतः पहले यह धारणा थी कि निबन्ध का वैयक्तिक अथवा अन्तश्चिन्तनपरक (Subjective) होना आवश्यक है; उस पर लेखक के व्यक्तित्व और उसकी व्यक्तिगत मान्यताओं की छाप अनिवार्य है। परन्तु अब यह मान्यता क्रमशः क्षीण होती जा रही है, और 'अमुक निबन्ध के लेखक अमुक हैं' ऐसा कहना दिन-प्रति-दिन कठिन होता जा रहा है। निबन्ध वैयक्तिक न होकर साधारणीकृत होते जा रहे हैं और कुछ विशेष नपे तुले ढाँचों (Patterns) में ढलते जा रहे हैं। निबन्धकारों को इस प्रवृत्ति से कुछ आशंकित ही नहीं आतंकित भी होना चाहिए। मेरे विचार से निबन्ध में निबन्धकार की आत्मा और अभिव्यंजना-शैली की झलक अनिवार्य है।

दूसरी बात यह है कि कुछ निबन्ध लेखक तो भारतीय साहित्य-शास्त्र और उसके रस, अलंकार, रीति, भाव, अनुभाव, विभाव, वैदर्भी, पांचाली, गौड़ी आदि तत्त्वों तथा उपतत्त्वों के चक्रव्यूह में इतने अधिक उलझे हैं कि उनसे उनका उद्धार नहीं हो पाता। कुछ अन्य निबन्धकार ऐसे हैं, जिनको प्राचीन साहित्य-शास्त्र से न तो परिचय है और न वे परिचय करना चाहते हैं, जिनके लिये क्रोचे (Croche), ब्रॉडले और रिचार्डस् ही भरत, जगन्नाथ तथा मम्मट हैं। इन दो प्रकार के आलोचकों को हम क्रमशः रूढ़िग्रस्त और रूढ़ि-विच्छिन्न के विशेषणों से संबोधित कर सकते हैं। हमारे विचार से आधुनिक समीक्षकों को न तो निरा रूढ़िग्रस्त होना चाहिए और न निरा रूढ़ि-विच्छिन्न; न बिलकुल परम्परा-मुक्त होना चाहिए और न बिलकुल परम्परा-मुक्त। आवश्यकता यह है कि हम योरुप तथा अमेरिका की विवेचना शैली के तत्त्वों को अपने प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र की पृष्ठ-भूमि पर सजाएं और ऐसे समन्वय का संपादन करें जो मूलतः भारतीय हो।

एक तीसरी बात यह है कि भारतीय साहित्य और उसके नायकों तथा उपादानों पर विचार करते समय हमें प्रगतिवाद की प्रेरणाओं से इतना अधिक अनुप्राणित नहीं होना चाहिए कि उनके प्रति अपनी आस्था ही खो डालें। भास, कालिदास और प्रसाद—तीनों नाटककारों की आलोचना तीन विभिन्न धरातलों पर होगी। तुलसी-चित्रित रामराज्य की विवेचना मार्क्स के सिद्धान्तों के आधार पर करना भूल होगी। आलोचक में यह क्षमता होनी चाहिए कि वह जिस युग के साहित्य की विवेचना कर रहा हो, उसकी आत्मा में प्रवेश कर सके। 'ऐदंयुगीनता' तथा 'तदानींन्तनता' दोनों ही आवश्यक हैं।

हिन्दी में आलोचना की जैसी प्रगति अन्य दिशाओं में हुई है सम्भवतः वैसी प्रगति प्राचीन साहित्य तथा साहित्यकारों के सम्बन्ध में नहीं हुई। हिन्दी की अपेक्षा संस्कृत के विद्वानों ने इस दिशा में अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, यद्यपि मुख्यतया इसकी प्रेरणा उन्हें पाश्चात्य विद्वानों, मोनियर विलियम्स, कीलहॉर्न (Kielhorn) वेबर, पार्जिटर (Pargiter) पिटर्सन (Peterson) और कनिंघम (Cunningham) आदि से ही मिली। हिन्दी में हस्तलिखित ग्रन्थों के संग्रह तथा उनके सम्बन्ध में सूचनाओं के प्रकाशन का व्यवस्थित रूप से कार्य आरम्भ किया काशी नागरी प्रचारणी सभा ने, जहाँ सन् १९०० ई० में श्री श्यामसुन्दर दास के तत्त्वावधान में खोज-विभाग की स्थापना हुई। सभा ने अब तक उन्नीस रिपोर्टें तैयार की हैं, जिनमें केवल बारह छप सकी हैं और शेष अभी लाल फीते के जटा-जूट में विलीन हैं। इन रिपोर्टों तथा नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रह द्वारा अनुशीलन तथा अनुसंधान के क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वानों अथवा विद्यार्थियों का महान् उपकार हुआ है। अन्य हिन्दी भाषी प्रान्तों ने भी इस दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ किए हैं। उदाहरणतः बिहार तथा राजस्थान में व्यवस्थित रूप से कार्य चल रहा है। हमारा ऐसा अनुमान है कि इन प्रयत्नों के फलस्वरूप जो सामग्री हमें उपलब्ध हो रही है और होगी, उसके आधार पर हम अपने देश की संस्कृति तथा वाङ्मय के इतिहास में नए पन्ने और नए अध्याय जोड़ सकेंगे तथा नए ढंग से उनका मूल्यांकन कर सकेंगे। प्राचीन साहित्य-गंगा का पुनरवतरण अनेकानेक सोए हुए प्रसंगों को नव जीवन प्रदान करेगा।

भारतीय हिंदी परिषद्

त्रयोदश वार्षिक अधिवेशन, नागपुर

२८, २९, ३० दिसंबर, १९५५



सांस्कृतिक समारोह का एक दृश्य—नृत्य में भाग लेने वाली छात्राएँ

हमारे देश का यह दुर्भाग्य है कि वह शताब्दियों से अव्यवस्थित राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थिति का शिकार होता चला आ रहा है और लगभग तेरह सौ वर्षों के अनंतर पहली बार सही अर्थ में इसे स्वतन्त्रता मिली है। जो देश स्वतन्त्र नहीं होता उसमें जिज्ञासा और आकांक्षा का अभाव रहता है, क्योंकि एक इतर विदेशीय सत्ता उसकी देखभाल करती रहती है। जब स्वतन्त्रता की अरुण किरणें उसे अपने उद्बोधन-गान से गतिशील और चेतनावान् बनाती हैं, तब उसमें तत्क्षण वर्तमान के प्रति असंतोष और विद्रोह जाग उठता है। इस असंतोष के काले बादलों में प्रकाश का एकमात्र अवलम्बन बनती हैं अतीत की गौरव-गाथाएं और उसकी स्मृतियों की विद्युत्-रेखाएँ। यही कारण है कि इस देश के निवासी जहाँ एक ओर सुनहरे भविष्य के सपने सँजो रहे हैं, वहाँ अतीत के गौरव के धूमिल पद-चिह्नों को स्पष्टतर करने की चेष्टा भी कर रहे हैं। प्राचीन ग्रन्थ सम्बन्धी शोध इसी चेष्टा का प्रतिफलन है।

निबंध-सूची

[मनोनीत सभापति डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी की अनुपस्थिति में निबंध-गोष्ठी डा० सोमनाथ गुप्त की अध्यक्षता में संपन्न हुई। गोष्ठी के लिए प्राप्त निबंधों की सूची यहाँ दी जा रही है। ये निबंध 'हिन्दी अनुशीलन' के वर्ष ८ अंक १ और ४ तथा प्रस्तुत अंक में प्रकाशित हुए हैं।]

१. फ़ारसी और उर्दू के तज़्किरों एवं अन्य ग्रन्थों में हिन्दी साहित्य के इतिहास की सामग्री— श्री गोपालचंद्र सिंह, लखनऊ
२. करुण रस और आनंदानुभूति— श्री आनंदप्रकाश दीक्षित, गोरखपुर
३. पद्मावत में वस्त्र-वर्णन— डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, काशी
४. रासो की परम्परा— प्रो० उदयसिंह भटनागर, बड़ौदा
५. नागपुरी हिन्दी— प्रो० विनयमोहन शर्मा, नागपुर
६. अपभ्रंश में रासक (उपरूपक) का विकास— डा० दशरथ ओझा, दिल्ली
७. रामानंद संप्रदाय के हिन्दी कवि— डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव, शानपुर
८. मराठी, बंगला, गुजराती और हिन्दी में चाणक्य-चंद्रगुप्त कथा— श्री श्री० ना० बनहट्टी, पूना
९. पद्माकर का वीर काव्य— श्री भारतेन्दु सिनहा, बड़ौदा
१०. राम साहित्य का एक विस्मृत कवि— डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, लखनऊ
११. ज्ञानी जू और उनका वीर-विलास— डा० टीकमसिंह तोमर, आगरा
१२. संत रज्जबदास— श्री शिवशेखर मिश्र, लखनऊ

त्रयोदश अधिवेशन, नागपुर

का

आय-व्यय लेखा

लोया बगरी एण्ड कं०,
चार्टर्ड लेखाकार

१८ जुलाई १९५६ तक

आय	रु०-आ०-पा०
दान	१५५३-०-०
नागपुर विश्वविद्यालय का अनुदान	३५००-०-०
	५०५३-०-०

व्यय	रु०-आ०-पा०
स्टेशनरी और छपाई	५१२- ९-६
डाक व्यय	७९-१०-०
सवारी भाड़ा	७१६- ५-०
भोजन	१६३७- ८-०
सज्जा	६२८- ४-०
मनोरंजन तथा विविध कार्यक्रम	३१५- ६-६
बैंक प्रभार	५- ०-०
स्वयंसेवक पारिश्रमिक, फोटोग्रूप व्यय तथा विविध	३७०- ४-६
निरीक्षण शुल्क	२५- ०-०
पेशगी जिसका हिसाब नहीं मिला—	
श्रीमती तारा बगदके	१०- ०-०
श्रीमती शारदा देवी शर्मा	२- ६-०
श्री गोपाल गुप्त	५-१२-०
श्री बडके	१६- ०-०
	३४- २-०
शेष—	
इलाहाबाद बैंक बचत बैंक लेखा में	८२८-१४-६
	५०५३- ०-०

टिप्पणी : १. रसीद बही नं० १२, जो कहा गया कि श्री इंद्रदेव आर्य को दी गई थी, उपलब्ध नहीं हुई। अतः वह हिसाब में सम्मिलित नहीं है।

२. नागपुर विश्वविद्यालय का अनुदान-शापक निरीक्षण के समय उपलब्ध नहीं था।

३. बैंक-लेखा अधिवेशन के मन्त्री श्री एस० पी० तिवारी के नाम है।

उपर्युक्त टिप्पणियों के अधीन परीक्षित किया गया और सही पाया गया।

नागपुर, १८ जुलाई, १९५६ (ह०) लोया बगरी एण्ड कं०
चार्टर्ड लेखाकार

टिप्पणी : निरीक्षण के बाद निम्नलिखित व्यय किया गया :—

३ अक्टूबर ५६	विश्वविद्यालय को दो मास के लिए एक लिपिक के वेतन के निमित्त	२४१-१०-०
३ अक्टूबर ५६	भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग के कोषाध्यक्ष को	५७९- ४-०
	इलाहाबाद बैंक को कमीशन	६- ०-०
		८२८-१४-६

अधिवेशन में स्वीकृत प्रस्ताव

शोक-प्रस्ताव

१. स्वर्गीय डा० अमरनाथ झा

भारतीय हिन्दी परिषद् का यह अधिवेशन संस्कृति और साहित्य के मनीषी तथा हिन्दी के महान् व्रती डा० अमरनाथ झा के आकस्मिक निधन पर हार्दिक शोक प्रकट करता है। डा० अमरनाथ झा भारतीय हिन्दी परिषद् के सर्वप्रथम संरक्षक थे और उनके निधन से केवल भारतीय हिन्दी परिषद् की ही हानि नहीं हुई, वरन् समस्त हिन्दी-क्षेत्र का नेतृत्व शिथिल पड़ गया है। हम स्वर्गीय डा० अमरनाथ झा के परिवार के प्रति अपनी संवेदना प्रकट करते हैं और डा० झा की आत्मा की शान्ति के लिए कामना करते हैं।

२. स्व० श्री गांगेय नरोत्तम शास्त्री

भारतीय हिन्दी परिषद् का यह अधिवेशन श्री गांगेय नरोत्तम शास्त्री के असामयिक निधन पर हार्दिक दुःख प्रकट करता है। श्री शास्त्री जी ने हिन्दी साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में विशेष कार्य किया था और वे प्राचीन साहित्य के एक मर्मज्ञ विद्वान् थे। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे तथा उनके परिवार को धैर्य दे।

अन्य प्रस्ताव

१. इंडिया आफिस पुस्तकालय

भारतीय हिन्दी परिषद् का यह अधिवेशन इंडिया ऑफ़िस पुस्तकालय को प्राप्त करने के संबंध में केन्द्रीय शासन के सामने जो कठिनाइयाँ उपस्थिति हो रही हैं उन पर चिंता प्रकट करता है। परिषद् का मत है कि उक्त पुस्तकालय भारत की बहुमूल्य सांस्कृतिक निधि है जिस पर उसका पूर्ण अधिकार है। अधिवेशन अनुरोध करता है कि केन्द्रीय शासन इस पुस्तकालय को प्राप्त करने का अविलंब प्रत्येक संभव उपाय करे तथा इस संबंध में हुई प्रगति से देश को अवगत करता रहे।

सभापति द्वारा प्रस्तुत

२. हस्तलिखित प्रतियों का संरक्षण

भारतीय हिन्दी परिषद् का यह अधिवेशन केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों से अनुरोध करता है कि वे देश-विदेश में बिखरी हुई हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की हस्तलिखित पुस्तकों की खोज तथा उनके संग्रह की योजना बनाएँ और यदि कोई पुस्तकें प्राप्त न की जा सकें तो उनकी माइक्रोफिल्म प्रतियाँ प्राप्त करने का प्रबंध करें तथा साथ ही देश के प्रमुख स्थानों पर अनुसंधान-संग्रहालय भी स्थापित करें।

प्रस्तावक : डा० श्रीकृष्ण लाल
समर्थक : डा० सोमनाथ गुप्त

३. प्राध्यापकों का आदान-प्रदान

इस परिषद् के मत में भारत के समस्त विश्वविद्यालयों के हिन्दी अध्ययन-अध्यापन एवं अनुसंधान के स्तर में समानता बनाए रखने और हिन्दी तथा हिन्दी के माध्यम द्वारा विविध विषयों का अध्यापन करने वाले अध्यापकों के बीच साहित्यिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़ाने के लिये हिन्दी तथा अहिन्दी प्रदेशों के विश्वविद्यालयों में उक्त अध्यापकों का आदान-प्रदान आवश्यक है। प्रत्येक अध्यापक के आदान-प्रदान की अवधि कम से कम दो साल तक की हो जो आवश्यकता पड़ने पर एक साल और बढ़ाई जा सकती है। इस आयोजन को कार्यरूप में परिणत करने के लिये भारत सरकार की ओर से विश्वविद्यालयों को विशेष अनुदान प्रदान किया जाए।

प्रस्तावक : प्रो० ना० नागप्पा
समर्थक : डा० माताप्रसाद गुप्त

शोध सूचना

आगरा विश्वविद्यालय

पी० एच्-डी० के लिए स्वीकृत प्रबन्ध

(१९५४—१९५६)

१—कृष्ण काव्य में भ्रमर गीत—	श्यामसुन्दर लाल दीक्षित	(१९५४)
२—हिन्दी गद्य-काव्य का आलोचनात्मक और रूपात्मक अध्ययन—	पद्मसिंह शर्मा	(१९५४)
३—हिन्दी में पशु-चारण-काव्य—	दयाशंकर शर्मा	(१९५४)
४—हिन्दी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन—	बी० डी० शर्मा	(१९५४)
५—घनानन्द और मध्य-काल की स्वच्छन्द काव्य-धारा—	एम० एल० गौड़	(१९५४)
६—आधुनिक हिन्दी-काव्य में प्रेम और सौंदर्य—	आर० एल० खण्डेलवाल	(१९५४)
७—आधुनिक हिन्दी काव्य में निराशावाद—	शम्भूनाथ पाण्डेय	(१९५५)
८—कविता के माध्यम के लिए ब्रजभाषा और खड़ी बोली सम्बन्धी विवाद की रूपरेखा—	कपिल देव सिंह	(१९५५)
९—वार्ता साहित्य का जीवनीपरक अध्ययन—	हरिहरनाथ टंडन	(१९५६)
१०—कृषक जीवन सम्बन्धी शब्दावली—	अंबाप्रसाद सुमन	(१९५६)
११—काव्य में रस—	आनन्दप्रकाश दीक्षित	(१९५६)
१२—हिन्दी साहित्य में हास्य-रस—	बरसानेलाल चतुर्वेदी	(१९५६)

डी० लिट्० के लिए स्वीकृत विषय

१—वैष्णव भक्ति काव्य और भारतीय संगीत का परस्पर सम्बन्ध (आदि काल से रीति काल के अन्त तक)—	डा० बी० एन० भट्ट	(१९५४)
२—तुलसीदास के जन्म-स्थान, तिथि और गृह का पर्यवेक्षण (विशेषत: उनकी पत्नी रत्नावली के जीवन एवम् ग्रन्थों तथा सूकरक्षेत्र की खोज और इतिहास के संदर्भ-सहित)—	डा० रामदत्त भारद्वाज	

३—भक्तिकालीन हिन्दी संत साहित्य की भाषा (संवत् १३७५-१७०० वि०)— डा० प्रेमनारायण शुक्ल

४—भारतीय नाट्य परम्परा तथा हिन्दी नाटक— डा० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल

पी० एच्-डी० के लिए स्वीकृत विषय

विषय-संशोधन

१—'रीतिकाल में नारी चित्रण' के स्थान पर 'भक्ति-काल में नारी चित्रण' (१३५०-१६५०)—(श्रीमती) चन्द्रा रानी सिंह

नवीन विषय

२—सूर-साहित्य की भाषा—	दीनबन्धु त्रिवेदी
३—अपभ्रंश काव्य-परम्परा तथा विद्यापति—	अम्बादत्त पंत
४—हिन्दी वैष्णव काव्य में करुण-भावना—	(श्रीमती) शांतीदेवी
५—हिन्दी भाषा की ध्वन्यात्मक खोज—	नानकशरण निगम
६—हिन्दी साहित्य में सूफी काव्य-धारा—	शिवशंकर शर्मा
७ - बघेली लोक-साहित्य का अध्ययन—	भगवतीप्रसाद शुक्ल
८—छायावाद में चित्रमयता (प्रसाद के ग्रन्थों के विशेष संदर्भ सहित)—	हरिश्चन्द्र
९—हिन्दी महाकाव्यों में नारी चित्रण—	श्यामसुन्दर यादव
१०—तुलसी के पश्चात् रामकाव्य का विकास—	श्रीधर दीक्षित
११—ब्रज-भाषा गद्य के अतिरिक्त हिन्दी गद्य (प्राचीन समय से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक)—	प्रेम प्रकाश गौतम
१२—आल्हा का साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व—	लाल बरचा राम
१३ - खड़ी बोली प्रांत का लोक-साहित्य—	पी० के० अग्रवाल
१४—खड़ी बोली का विकास—	एच० सी० शर्मा
१५—भारतीय देव भावना और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में उसका स्वरूप—	श्रुतिकान्त
१६—आधुनिक हिन्दी साहित्य पर गांधीवाद का प्रभाव—	एस० पी० भटनागर
१७—हिन्दी और उर्दू काव्य का तुलनात्मक अध्ययन—	मनुदेव शर्मा
१८—हिन्दी साहित्य में भक्ति और रीति की संधि-कालीन प्रवृत्तियों का विवेचनात्मक अनुशीलन—	विष्णुशरण 'इन्दु'
१९—हिन्दी भक्ति-काव्य में जैन साहित्यकारों का योगदान (१४००-१८००)—	प्रेमसागर जैन

२०—रामचरितमानस का शास्त्रीय अध्ययन—	राजकुमार पाण्डेय
२१—भक्ति काल में विनयपरक साहित्य—	रवीन्द्रदत्त मुद्गल
२२—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन (१६३५-१६५० ई०)—	छोटेलाल श्रीवास्तव
२३—हिन्दी जैन कथा-साहित्य—	फूलचन्द जैन
२४—गढ़वाली की खड़ी उपबोली, उसके लोक-गीत और उनमें अभिव्यक्त लोक-संस्कृति—	गोविन्द सिंह कंडरी
२५—महाकवि तुलसीकृत रामचरितमानस एवं तमिल महाकवि कंबन कृत रामायणम् का तुलनात्मक अध्ययन—	रामेश्वरदयाल अग्रवाल
२६—सूरसागर का काव्य-शास्त्रीय पर्यालोचन—	ओमप्रकाश शर्मा
२७—हिन्दी काव्य में नियतिवाद (१०५०-२००० वि०)—	रामगोपाल शर्मा
२८—हिन्दी की छायावादी कविता के कला-विधान का विवेचन—	वीरबल सिंह 'रत्न'
२६—ब्रजभाषा की ध्वनियों का विकास—	विश्वनाथ शर्मा
३०—आठारहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा काव्य में प्रेम-भक्ति—	देवीशंकर अवस्थी
३१—अवधी के लोक साहित्य का सांस्कृतिक आधार—	विद्याधर मिश्र
३२—महाकवि शंकर और उनकी हिन्दी-साहित्य को देन—	सुदर्शन शर्मा
३३—राजस्थानी लोक-नाटक (ख्याल-साहित्य) का एक अध्ययन—	प्रभुनारायण शर्मा 'सहृदय'
३४—तुलसी की काव्य-साधना—	श्रीराम पाण्डेय
३५—आधुनिक हिन्दी काव्य में अलंकार-विधान (१६२०-५० तक का खड़ी बोली और ब्रजभाषा काव्य)—	जगदीश नारायण त्रिपाठी
३६—हिन्दी आलोचना पर अँग्रेजी आलोचना का प्रभाव	(श्रीमती) स्वतन्त्रबाला गुर्टू
३७—हिन्दी के भक्तिकालीन कृष्ण-भक्ति साहित्य में रीति-परम्परा—	(श्रीमती) राजकुमारी
३८—तुलसीदास का गीति काव्य—	श्रीकृष्ण वार्ष्णेय
३६—संस्कृत, फारसी, अँग्रेजी और हिन्दी-साहित्य में अलंकार सम्बन्धी धारणाओं का तुलनात्मक अध्ययन—	कृष्णचन्द्र खेमका

४०—श्री रामचन्द्र शुक्ल के काव्यालोचन की पृष्ठभूमि— डी० पी० शर्मा

४१—आधुनिक हिन्दी काव्य में परम्परा और प्रयोगवाद डी० डी० सारस्वत

४२—हिन्दी भक्ति साहित्य में प्रयुक्त पौराणिक देवी-देवताओं का अध्ययन— आर० सी० श्रीवास्तव

४३—बैसवाड़े के हिन्दी कवि— एस० पी० शुक्ल

४४—हिन्दी काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि (भारतेन्दु से २०१० विक्रमी तक)— पी० सी० अग्रवाल

दिल्ली विश्वविद्यालय

पी० एच्-डी० के लिये स्वीकृत प्रबन्ध

१—हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा—(श्रीमती) स्नेहलता श्रीवास्तव (१६५५)

पी० एच्-डी० के लिये स्वीकृत विषय

१—रीतिकालीन शृङ्गार-सतसई साहित्य— भारतभूषण सरोज

२—आधुनिक हिन्दी समालोचना का विकास— (श्रीमती) कमला गर्ग

३—गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी कविता (१७ वीं और १८ वीं शती)— हरभजन सिंह

४—हिन्दी के सांस्कृतिक शब्दों का बँगला, गुजराती और मराठी के समशील शब्दों के साथ तुलनात्मक अध्ययन— शान्ति माथुर

५—ब्रजभाषा के कृष्ण काव्य में माधुर्य-भक्ति (१५५०, १६५० ई०)— रूपनारायण

६—रीतिकालीन काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध— (कु०) उमा मिश्र

पंजाब विश्वविद्यालय

पी० एच्-डी० के लिए स्वीकृत प्रबन्ध

१—हिन्दी उपन्यास (प्रेमचंदोत्तर) में प्रवृत्तियाँ और प्रभाव (सामाजिक वातावरण के विशेष निर्देश सहित)— (कुमारी) सुषमा धवन

२—आधुनिक हिन्दी काव्य में उपदेशात्मक प्रवृत्तियों का विकास (भारतेन्दु काल से १६५० ई० तक) (कु०) राज आहूजा

३—महादेवी की कला और मानस (हिन्दी काव्य की छायावादी धारा के विशेष निर्देश सहित)— राज अग्रवाल

४—आधुनिक हिन्दी कविता पर स्वच्छन्दतावाद (रोमांसवाद) का प्रभाव—	(कुमारी) राज चोपड़ा
५—हिन्दी काव्य में शृङ्गार-परम्परा और महाकवि बिहारी—	गनपतिलाल गुप्त
६—मार्क्सवाद और हिन्दी-साहित्य—	गोपाल भनोत

प्रयाग विश्वविद्यालय

डी० फ़िल्० के लिए स्वीकृत विषय

१—हिन्दी क्रियाओं का अध्ययन—	राजकिशोर सिंह
२—हिन्दी साहित्य पर निम्बार्क सम्प्रदाय का प्रभाव—	रामअवध द्विवेदी
३—मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में व्यक्तियों की नामावली का अध्ययन—	(कुमारी) उषा सक्सेना
४—हिन्दी सन्त साहित्य में साधना-पद्धति—	केशनीप्रसाद चौरसिया
५—सुंदरदास की जीवनी तथा उनकी कृतियों का अध्ययन—	रमेश कुमार सिनहा 'किरण'
६—हिन्दी साहित्य के आदि-काल का इहलौकिक साहित्य—	सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव
७—राम-भक्ति, और हिन्दी साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति—	राम अवतार
८—बिहारी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन—	(कुमारी) रामकुमारी त्रिपाठी
९—मैथिली नाटकों का अध्ययन—	रामेश्वर प्रसाद
१०—भारतेन्दु-युग के नाटकों का शास्त्रीय विकास—	(कुमारी) स्नेहलता सक्सेना
११—आधुनिक बँगला तथा हिन्दी नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन—	प्रकाश नारायण
१२—हिन्दी भक्ति काव्य का हिन्दी रीति काल पर प्रभाव—	(कुमारी) सुकुमारी भटनागर
१३—हिन्दी तथा गुजराती उपन्यासों का तुलनात्क अध्ययन—	कैलाशनारायण चौधरी
१४—हिन्दी सतसई काव्य का अध्ययन—	(श्रीमती) सुरेश सिंह

१५—काश्मीरी तथा हिन्दी के भक्ति साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन— जयलाल हण्डू

१६—हिन्दी की मूल शब्दावलियों का अध्ययन— गेंदालाल

१७—हिन्दी भक्ति काव्य (१४०० ई० से १६०० ई०) में प्रयुक्त पौराणिक कथाएं— (श्रीमती) मालती बाजपेयी

१८—सुन्दरदास की जीवनी और कृतियों का अध्ययन— शान्तिस्वरूप शर्मा

१९—कबीर, दादू तथा नानक का तुलनात्मक अध्ययन— रमेशचन्द्र वर्मा

२०—सन्त सम्प्रदाय के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन— (कुमारी) पुष्पलता शर्मा

लखनऊ विश्वविद्यालय

डी० लिट्० के लिए स्वीकृत प्रबंध

१—मलूकदास, सुन्दरदास, चरनदास के दार्शनिक विचार-एक अध्ययन— डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित (१९५६)

पी० एच्-डी० के लिए स्वीकृत प्रबंध

१—आदिकालीन हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ— इन्द्रपाल सिंह

२—कृष्ण-भक्ति काव्य में संगीत— ऊषा गुप्त

३—मैथिली और हिन्दी के कृष्ण-भक्ति काव्य का तुलनात्मक अध्ययन— ललितेश्वर झा

४—आधुनिक हिन्दी साहित्य में गांधीवाद— शकुन्तला वर्मा

५—हिन्दी महाकाव्यों में नायक— पुष्पलता निगम

६—मलयालम और हिन्दी के प्रमुख कृष्ण-भक्त कवियों का तुलनात्मक अध्ययन— के० भास्करन् नायर

७—शिवनारायणी संप्रदाय के हिन्दी कवि रामचन्द्र तिवारी

पी० एच्-डी० के लिए स्वीकृत विषय

१—आधुनिक सामाजिक आन्दोलन तथा हिन्दी साहित्य (सन् १९००—१९५०)— कृष्णबिहारी मिश्र (५२-५३)

२—महाराष्ट्र के हिन्दी सन्त कवि— वसंतराम के० देव (४८-४९)

३—हिन्दी उपन्यास में नारी—	विमला श्रीवास्तव	(४६-५०)
४—हिन्दी साहित्य को आर्य-समाजी लेखकों की देन—	लक्ष्मीनारायण गुप्त	(५०-५१)
५—हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन—	रामकिशोरी श्रीवास्तव	(५०-५१)
६—खड़ी बोली के खंडकाव्य—	विमला रानी	(५०-५१)
७—हरिदासी सम्प्रदाय के हिन्दी कवि—	प्रेमनाथ भट्ट	(५१-५२)
८—ओरछा के हिन्दी कवि—	शम्भूनाथ टंडन	(५२-५३)
९—हिन्दी साहित्य में काव्य-रूढ़ियाँ—	रमेशचन्द्र दुबे	(५२-५३)
१०—हरियाना प्रदेश का लोक साहित्य—	शंकरलाल देव	(५२-५३)
११—सूरदास की भाषा—	प्रेमनारायण टंडन	(५२-५३)
१२—रीति काल में रीतिमुक्त काव्य और आलम का विशेष अध्ययन—	प्रेमदेव शर्मा	(५२-५३)
१३—हिन्दी साहित्य में बालक—	छंगालाल मालवीय	(५५-५६)
१४—जयशंकर प्रसाद के साहित्य में कल्पना तत्त्व—	जयप्रकाश चन्द्र	(५५-५६)
१५—द्विवेदी युग के उपन्यासों का अध्ययन—	शारदा अग्रवाल	(५२-५३)
१६—सूफी मत, और संत काव्य पर उसका प्रभाव—	उषा व० याज्ञिक	(५५-५६)
१७—वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास—	शशिभूषण सिंहल	
१८—हिन्दी साहित्य में प्रगतिशील प्रवृत्तियाँ—	गिरजा मोहन उपाध्याय	(५०-५१)
१९—मलयालम और हिन्दी का कथा-साहित्य—	बी० गोविन्द शिनोई	(५१-५२)
२०—हिन्दी साहित्य में हास्य और वाक्चातुर्य—	रामकुमार खंडेलवाल	(५१-५२)
२१—हिन्दी काव्य में करुण रस—	(कु०) तारा कपूर	(५२-५३)
२२—हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवाद—	राधेकृष्ण सहाय	(५३-५४)
२३—सतनामी सम्प्रदाय के हिन्दी कवि—	हरिशरण दास	(४८-४९)
२४—हिन्दी साहित्य में विविध नाट्य रूप—	सुरेश अवस्थी	(४९-५०)
२५—हिन्दी में सतसई साहित्य—	(कु०) रमा सिंह	(४९-५०)
२६—रीतिकालीन कविता में प्रेम और सौन्दर्य—	लक्ष्मीशंकर मिश्र	(५१-५२)
२७—बावरी सम्प्रदाय के हिन्दी कवि—	भगवतीप्रसाद शुक्ल	(५१-५२)
२८—हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद—	विद्या सिंह	(५०-५१)
२९—रीति युगीन काव्य में लोक-जीवन—	श्यामाचरण तिवारी	(५१-५२)
३०—सन् १७००-१९०० ई० के हिन्दी के प्रबन्ध काव्य—	शिवबालक शुक्ल	(५२-५३)
३१—द्विवेदी युग के कवियों का ऐतिहासिक तथा आलोचनात्मक अध्ययन—	जयशंकर लाल अवस्थी	(५२-५३)

३२—हिन्दी उपन्यास और राजनैतिक आन्दोलन—	भगवतशरण अग्रवाल	(५५-५६)
३३—छायावादी हिन्दी काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—	हरनारायण सिंह	(५५-५६)
३४—मुसलमान भक्त कवि—	इन्दुरानी शुक्ल	(५५-५६)
३५—आधुनिक हिन्दी साहित्य में कृष्ण-काव्य—	रोहन लाल	(५५-५६)
३६—आधुनिक ब्रजभाषा काव्य: एक अध्ययन—	सत्यनारायण त्रिपाठी	(५५-५६)
३७—हिन्दी की आलोचना-शैलियों का विकास—	हरेकृष्ण मालवीय	(५५-५६)
३८ -हिन्दी उपन्यास तथा राजनैतिक आन्दोलन—	भुवनेश्वर प्रसाद वर्मा	(५५-५६)
३९—अँग्रेजी और फ्रेंच काव्य में प्रतीकवाद और हिन्दी काव्य पर उसका प्रभाव—	भुवनेश्वरी चरण सक्सेना	
४०--अवधी ग्राम-साहित्य—	कृष्णकिशोर मिश्र	(४९-५०)
४१—आधुनिक हिन्दी काव्य में अलंकार-योजना—	देवेश चन्द्र	(५३-५४)
४२—बाबू श्यामसुन्दर दास और उनके सहयोगी—	राज किशोर रस्तोगी	(५३-५४)
४३—भारतेन्दु युगीन हिन्दी कवि—	अविनाश चन्द्र अग्रवाल	(५२-५३)
४४ —सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों के हिन्दी साहित्य द्वारा इतिहास पर प्रकाश—	परशुराम वर्मा	(५१-५२)
४५—हिन्दी में बाल-साहित्य—	सावित्री अरोरा	
४६—रीवा दरबार के हिन्दी कवि—	शन्नो भटट	(५३-५४)
४७—रामचरितमानस तथा वाल्मीकीय रामायण का तुलनात्मक अध्ययन—	विद्या मिश्र	(५३-५४)
४८—कथा-साहित्य में नारियों की देन—	जयन्ती अवस्थी	(५५-५६)
४९—कुमायूँ के लोक-गीत—	कमला पन्त	(५३-५४)
५०—सुजानचरित की ऐतिहासिक तथा साहित्यिक महत्ता—	विजया खेर	(५३-५४)
५१—पृथ्वीराज रासो के पात्रों की ऐतिहासिकता—	ओमप्रकाश द्विवेदी	(५५-५६)
५२—गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य—	जनार्दन प्रसाद काला	(५५-५६)
५३—बुंदेलखंडी का उद्भव और विकास—	रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल	(५२-५३)
५४—खड़ीबोली भाषा भाषी ग्रामों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द (विशेषतः मेरठ तथा बिजनौर के आधार पर)—	प्रेम स्वरूप गुप्त	(५२-५३)
५५—हिन्दी साहित्य पर मार्क्सवाद का प्रभाव—	शिवस्वरूप सक्सेना	(५३-५४)
५६—गुरु गोविन्दसिंह और उनकी कृतियाँ—	पराशिनी सहगल	(५३-५४)

५७—जायसी की भाषा—	प्रभाकरदेव शुक्ल	(५६-५७)
५८—हिन्दी काव्य में हास्य और व्यंग्य—	कमलेश्वरी करन	(५३-५४)
५९—मिश्रबन्धु और उनका साहित्य—	सरोजिनी श्रीवास्तव	(५१-५२)
६०—जासूसी साहित्य—	गिरीशचन्द्र त्रिपाठी	(५३-५४)
६१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनकी कृतियाँ—	उर्मिला शुक्ल	(५३-५४)
६२—कवि पद्माकर और उनके समसामायिक कवि—	ब्रजनारायण सिंह	(५३-५४)
६३—द्विवेदी-युगीन नाटक साहित्य—	महेन्द्र नाथ मिश्र	(५३-५४)

डी० लिट्० के लिए स्वीकृत विषय

१—प्रेमघन और उनका समसामयिक हिन्दी साहित्य—	डा० उमेशचन्द्र त्रिपाठी	(५०-५१)
२—ब्रजभाषा की कविता तथा कृष्ण-काव्य में अभिव्यजना-कला—	डा० सावित्री सिनहा	(५३-५४)
३—हिन्दी नाटकों तथा उपन्यासों पर यूरोपीय (अंग्रेज, रूसी तथा फ्रांसीसी) प्रभाव—	डा० विश्वनाथ मिश्र	(५२-५३)
४—तुलसीदास के दार्शनिक विचार—	डा० उदयभानु सिंह	(५१-५२)
५—हिन्दी साहित्य में काव्य के स्वरूप का विकास—	डा० भगीरथ मिश्र	(५६-५७)
६—हिन्दी साहित्य के आधार पर राम के स्वरूप का अध्ययन—	डा० देवकीनन्दन श्रीवास्तव	(५६-५७)
७—भोजपुरी साहित्य का सामाजिक दृष्टि से अध्ययन—	डा० कृष्णदेव उपाध्याय	
८—हिन्दी काव्य में संगीत—	डा० उषा गुप्ता	(५६-५७)

———

संपादकीय

संविधान और हिन्दी

'हिन्दी अनुशीलन' के वर्ष ८, अंक ३ की 'शिक्षा का स्तर और अँग्रेजी' शीर्षक टिप्पणी में हमने विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग की उस समिति की चर्चा की थी जो डा० हृदयनाथ कुँजरू की अध्यक्षता में यह जाँच करने के लिए संगठित की गई है कि शिक्षा के गिरते हुए स्तर के लिए अँग्रेजी की उपेक्षा कहाँ तक उत्तरदायी है। हमने लिखा था कि यह समिति ठीक उस समय बनाई गई है जब राजभाषा आयोग हिन्दी की प्रगति की जाँच कर रहा है। हमने संकेत किया था कि कदाचित् इस समिति का निर्माण राजभाषा आयोग के प्रतिवेदन की पूर्वकल्पना की आशंका से किया गया है।

समिति के अध्यक्ष डा० कुँजरू के अभी हाल के वक्तव्य से इस अनुमान की पुष्टि होती है। जैसा कि हमने उक्त टिप्पणी में लिखा था, वस्तुतः समिति का उद्देश्य जाँच करना नहीं, प्रत्युत अँग्रेजी सम्बन्धी पूर्वाग्रह को अत्यन्त सीमित दृष्टिकोण से विचार करके पुष्ट कर देना मात्र है। यद्यपि समिति के निष्कर्ष अभी नियमित रूप में प्रकाशित नहीं किए गए हैं, और बहुत सम्भव है कि राजभाषा आयोग के प्रतिवेदन के आस-पास ही प्रकाशित किए जाएँ, तथापि यह विदित हो गया है कि वे निष्कर्ष किस सीमा तक जा सकते हैं। डा० कुँजरू ने अपने वक्तव्य में कहा है कि शिक्षा के स्तर को उन्नत करने के लिए यदि आवश्यक समझा गया तो अँग्रेजी को हटाने की पन्द्रह वर्ष की अवधि के सम्बन्ध में यह समिति संविधान के संशोधन की भी सिफारिश करेगी। डा० कुँजरू समिति के विचार-क्षेत्र को कदाचित् इसी अर्थ में विस्तीर्ण बताते हैं। परन्तु, क्या यह विचार-विस्तार सामान्य औचित्य की सीमा का अतिक्रमण नहीं है? वस्तुतः शिक्षा के स्तर गिरने या न गिरने पर समिति ने खुले मन से विचार करने की आवश्यकता नहीं समझी। अन्यथा, वह इस सम्बन्ध में भी साक्षियाँ ले सकती थी कि शिक्षा का स्तर उठाने में भाषा, साहित्य और माध्यम के रूप में हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं की उचित समृद्धि तथा शिक्षा-व्यवस्था में उनके स्थान को सुदृढ़ और व्यवस्थित करने से क्या लाभ हो सकता है।

प्रश्न यह है कि शिक्षा में अँग्रेजी की उपेक्षा कब से और किस रूप में हुई है। एक समय था, जब प्राथमिक शिक्षा से लेकर सर्वोच्च कक्षाओं तक हमारी सम्पूर्ण शिक्षा-व्यवस्था में अँग्रेजी छाई हुई थी। उसी के माध्यम से गणित, इतिहास, भूगोल तथा अन्यान्य विषय पढ़ाए जाते थे। डा० कुँजरू जैसे वयोवृद्ध विद्वानों ने उसी व्यवस्था में शिक्षा पाई थी। परन्तु उन्हीं की पीढ़ी के शिक्षा-विशारदों ने, जिनमें भारतीय और अँग्रेज दोनों रहे हैं, यह अनुभव किया कि विदेशी भाषा का माध्यम व्यक्तित्व के विकास तथा ज्ञान के विस्तार में बाधक है। अतः उन्होंने शिक्षा-व्यवस्था में

मातृभाषाओं को उत्तरोत्तर स्थान दिलाने का उपक्रम किया। निश्चय ही इस स्वयंसिद्ध शैक्षिक सिद्धांत को स्वायत्त प्रशासन की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ बल मिलता गया। फिर भी, उसके कार्यान्वयन की प्रगति इतनी मंथर थी कि राष्ट्रीय विचार के हमारे लोक नेता उससे अत्यन्त असन्तुष्ट रहे। इस असन्तोष और तज्जन्य आलोचनाओं का प्रभाव विदेशी शासन से दबे हुए शिक्षा संचालकों पर धीरे-धीरे पड़ता गया और राष्ट्रीय आन्दोलन ने उक्त आवश्यक शैक्षिक सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने में आंशिक सफलता अवश्य प्राप्त की। स्वराज्य के पहले समस्त प्रादेशिक भाषाएँ माध्यमिक स्तर तक शिक्षा का माध्यम बन चुकी थीं और कुछ विश्वविद्यालय इस स्वाभाविक प्रगति को स्नातक परीक्षाओं तक ले जाने का भी विचार करने लगे थे। यदि स्वाधीनता-प्राप्ति ने इस विचार को अधिक शक्ति प्रदान की तो यह उचित ही हुआ। वास्तव में हमारे विश्वविद्यालय अन्य अनेक विषयों की तरह इस मामले में भी समय की माँग के पीछे ही रहे हैं, स्थितिपालकता के लिए आज भी उनकी आलोचना की जाती है।

परन्तु डा० कुँजरू की समिति क्या चाहती है? क्या वह अँग्रेजी को उस स्थिति में पुनः प्रतिष्ठित करेगी जिससे कि उसे क्रमशः हटाया गया है और जिसमें रह कर उसने गत अनेक पीढ़ियों के व्यक्तित्व के विकास को कुंठित और मौलिक चिंतन को अवरुद्ध किया है? दुःख तो यह है कि आज इस प्रकार के प्रतिक्रियात्मक विचार बड़े गौरव के साथ प्रकाशित किए जा रहे हैं। उक्त समिति शिक्षा के स्तर पर एक विशेष दृष्टिकोण से विचार करने के लिए विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग ने बनाई है। उसकी स्थिति न तो राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत है, न संघ शासन या किसी राज्य शासन द्वारा। परन्तु उसका साहस आश्चर्यजनक है। वह संविधान के संशोधन की सिफारिश करेगी।

अँग्रेजी को शिक्षा-व्यवस्था में पूर्ववत्, अर्थात् आज से चालीस वर्ष पहले की तरह प्रतिष्ठित करने के लिए संविधान के संशोधन से कम कोई प्रयत्न पर्याप्त नहीं है। साधन की गरिमा निश्चय ही लक्ष्य की गुरुता के अनुरूप है। परन्तु डा० कुँजरू जैसे राजनीति के पंडित और मान्य राजनेता के मुख से इस प्रसंग में संविधान के संशोधन की बात सुन कर चिंता होती है। अँग्रेजी की पंद्रह वर्ष की अवधि बढ़ाने मात्र के लिए संविधान के संशोधन की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। संविधान के अनुच्छेद ३४३ में ही, जिसके द्वारा संघ की राजभाषा हिन्दी घोषित की गई है, खंड ३ में कहा गया है कि 'इस अनुच्छेद में किसी बात के होते हुए भी संसद् विधि (कानून) द्वारा उक्त पंद्रह वर्षों की अवधि के बाद भी (क) अँग्रेजी भाषा के, अथवा (ख) अंकों के देवनागरी रूप के ऐसे प्रयोजनों के लिए उपयोग की व्यवस्था कर सकेगी जो उक्त विधि में निर्दिष्ट हों।' इस स्थिति में संविधान के संशोधन का प्रश्न उठाना किसी अधिक गंभीर लक्ष्य का संकेत करता जान पड़ता है।

संविधान के ३४४ वें अनुच्छेद के अनुसार गठित आयोग ने छः महीने पहले राजभाषा सम्बन्धी संस्तुतियाँ प्रस्तुत कर दी हैं। इसी अनुच्छेद के खंड ४ के अनुसार यह आवश्यक है कि संसद् की तीस सदस्यों की एक समिति गठित की जाए जो आयोग की संस्तुतियों की परीक्षा करे तथा उन पर अपनी राय राष्ट्रपति के सम्मुख प्रतिवेदित करे। परन्तु ३४४ वें अनुच्छेद के उपबन्धों के अधीन अभी तक कोई कार्यवाही नहीं की गई है। संविधान का संशोधन एक बड़ी बात है और इस प्रसंग में उसकी अनिवार्यता नहीं जान पड़ती। परन्तु जब तक संशोधन

न हो जाए संविधान का पालन करना हमारा पवित्र कर्तव्य है। अतः राजनीतिक पंडितों को पहले इस कर्त्तव्य के पालन की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। संविधान के अनुसार दूसरा आयोग सन् १९६० के बाद गठित होगा जो पुनः राजभाषा की स्थिति पर विचार करेगा। परन्तु प्रथम आयोग की संस्तुतियों की परीक्षा और तत्सम्बन्धी निर्णयों के कार्यान्वयन के बिना दूसरे आयोग की नियुक्ति क्या संविधान के उद्देश्य की पूर्ति करने की दिशा में सहायक हो सकेगी?

प्रथम राजभाषा आयोग हमारे देश के एक सम्मान्य विचारशील नेता श्री बाल गंगाधर खेर की अध्यक्षता में गठित किया गया था। उसकी संस्तुतियों को प्रकाशित करना आवश्यक था। खेद है कि संसद् के सदस्यों द्वारा इसकी मांग नहीं की गई। कदाचित् जो सदस्य यह मांग कर सकते थे उन्हें राज्य-पुनर्गठन-आयोग की संस्तुतियों के बाद हुए उत्पातों का डर दिखाकर मौन कर दिया गया। परन्तु राज्य-पुनर्गठन-आयोग और राजभाषा आयोग की स्थितियों में बहुत बड़ा अन्तर है। राजभाषा आयोग की संस्तुतियों पर तो तीस सदस्यों की एक समिति विचार करके राष्ट्रपति को अपना प्रतिवेदन देगी। राष्ट्रपति ३४४ वें अनुच्छेद के खंड (६) के अनुसार अनुच्छेद ३४३ में किसी बात के होते हुए भी उस प्रतिवेदन पर विचार करके उस समस्त या उसके किसी अंश के अनुसार निदेश निकालेंगे। इस प्रकार राजभाषा आयोग की संस्तुतियों के सम्बन्ध में अनेक प्रतिबन्ध लगे हुए हैं और उनमें राष्ट्रपति की स्थिति सभी प्रकार की आशंकाओं का निराकरण कर सकती है। क्या जनता के प्रतिनिधियों, उनके द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत (सिंगिल ट्रांसफ़रेबुल वोट) द्वारा निर्वाचित समिति और राष्ट्र की एकता एवं गौरव के प्रतीक राष्ट्रपति के विचार, विवेक और निर्णय में हमें पूर्ण विश्वास और निष्ठा नहीं है? देश के विचारकों और नेताओं द्वारा संविधान के उपबन्धों का पूर्ण आदर होने से ही जनता का आत्म-विश्वास सुरक्षित रह सकता है, बात-बात में संविधान के संशोधन की चर्चा करने से उसे आघात लगने का डर है।

'हिन्दी अनुशीलन' हिन्दी की उच्च शिक्षा और शोध से सम्बन्धित अखिल भारतीय संस्था, भारतीय हिन्दी परिषद् का मुख पत्र है। अतः कुछ लोगों को यह शंका हो सकती है कि संविधान सम्बन्धी चर्चा से हमारा क्या प्रयोजन है। परन्तु हमारा यह निश्चित मत है कि राजभाषा के साथ देश का संपूर्ण राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक भविष्य जुड़ा हुआ है। यदि राजनीतिक दृष्टि से अँग्रेजी की स्थिति में संविधान के अनुसार उत्तरोत्तर परिवर्तन होने में समुचित प्रगति नहीं होती, यदि शिक्षा-व्यवस्था में उसके शीर्षस्थ स्थान को सुरक्षित बनाने के प्रतिगामी प्रयत्न सफल होते हैं, तो हिन्दी ही नहीं, समस्त देश भाषाओं के विकास और उनके साथ हमारी शिक्षा, साहित्य, संस्कृति और चिन्तन की स्वाभाविक प्रगति में भारी बाधा उपस्थित होगी और हमारे समस्त बौद्धिक जीवन को अपार क्षति पहुँचेगी।

प्रयाग विश्वविद्यालय, हिंदी परिषद् के प्रकाशन

तुलसीदास—लेखक, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, तृतीय परिवर्द्धित संस्करण, मूल्य ८)

यह ग्रंथ लेखक के डी० लिट्० थीसिस का परिवर्द्धित हिन्दी रूपांतर है। तुलसीदास से सम्बन्ध रखने वाली नवीनतम प्रामाणिक सामग्री के लिए यह ग्रंथ उच्च कक्षा के हिन्दी विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य है।

सूरदास—लेखक, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण, मूल्य ८)

यह ग्रंथ महाकवि सूरदास की जीवनी तथा काव्य का प्रथम वैज्ञानिक अध्ययन है। लेखक ने सूरदास से संबंध रखने वाली समस्त उपलब्ध सामग्री का वैज्ञानिक विश्लेषण करके अपने निष्कर्षों को उपस्थित किया है।

आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका—लेखक, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, मूल्य ८)

यह ग्रंथ लेखक के डी० लिट्० थीसिस के आधार पर लिखा गया है और उसमें लेखक ने आधुनिक हिंदी साहित्य पर नवीन प्रकाश डाला है। इस विषय का यह एक मात्र अध्ययन है।

आधुनिक हिंदी साहित्य—(१८५०—१९०० ई०)—लेखक, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, मूल्य ६) परिवर्द्धित एवं संशोधित संस्करण।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की लगभग एक शताब्दी का यह प्रथम विस्तृत वैज्ञानिक अध्ययन है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (१९००—१९२५ ई०)—लेखक, डॉ० श्रीकृष्ण लाल, द्वितीय संस्करण, मूल्य ६)

हिन्दी साहित्य के विकास का क्रमबद्ध, सूक्ष्म तथा आलोचनात्मक अध्ययन इस ग्रंथ में हिन्दी पाठकों को प्रथम बार प्राप्त होगा।

राम-कथा—लेखक, रेवरेंड फ़ादर डॉ० कामिल बुल्के, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सेंट ज़ेवियर कॉलेज, राँची, प्रथम संस्करण, मूल्य ८)

यह ग्रन्थ राम-कथा संबंधी सामग्री का विश्वकोष है। हिन्दी क्या किसी भी यूरोपीय अथवा भारतीय साहित्य में इस प्रकार का दूसरा राम-कथा विषयक अध्ययन उपलब्ध नहीं है। राम-साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए यह ग्रंथ अनिवार्य है।

कवित्त रत्नाकर—मूल लेखक, सेनापति, संपादक, पं० उमाशंकर शुक्ल, मूल्य ३॥)

अर्द्धकथा—मूल लेखक, बनारसीदास जैन, संपादक, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, मूल्य १)

सं० १६९८ में लिखी गई यह रचना हिन्दी की पहली आत्मकथा है।

बीसलदेव रास—संपादक, डॉ० माताप्रसाद गुप्त तथा श्री अगरचंद नाहटा, प्रथम संस्करण, मूल्य ३॥)। यह ग्रंथ चौदहवीं शताब्दी विक्रमी के राजस्थानी काव्य का वैज्ञानिक रीति से संपादित संस्करण है।

हिंदी साहित्य (१९२६-१९४७ ई०)—लेखक डॉ० भोलानाथ, मूल्य ८)

डॉ० वार्ष्णेय और डा० श्रीकृष्णलाल द्वारा प्रस्तुत आधुनिक हिंदी साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन के क्रम में डी० फिल० के लिए स्वीकृत यह शोध प्रबंध एक महत्त्वपूर्ण योग है।

प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रकाशन

नंददास भाग १, २—संपादक, पं० उमाशंकर शुक्ल, मूल्य ६)

फ़ोर्ट विलियम कॉलेज—(१८००-१८५४) लेखक, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, मूल्य ६)।

भारतीय हिन्दी परिषद् के कोष

अँग्रेज़ी-हिन्दी वैज्ञानिक कोष—प्रधान सम्पादक—डॉ० सत्यप्रकाश, डी० एस-सी०। यह खंडशः प्रकाशित हो रहा है। १२५ पृष्ठों के प्रथम दो खंडों का मूल्य ६।), और सम्पूर्ण कोष का ग्राहक बनने के लिए मूल्य १२)। **भौतिक विज्ञान कोष**—मूल्य २=)

[विषय-सूची कवर पृष्ठ २ से आगे]

विषय	लेखक	पृष्ठ
१४—भारतीय हिंदी परिषद् के त्रयोदश वार्षिक अधिवेशन, नागपुर का विवरण		१२५
१. उद्घाटन भाषण	पं० रविशंकर शुक्ल	२२६
२. सभापति का भाषण	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	१३२
३. हिन्दी में विविध साहित्य निर्माण की योजना	प्रो० विनय मोहन शर्मा	१४१
४. हिन्दी में विविध साहित्य निर्माण की योजना	डा० माताप्रसाद गुप्त	१४९
५. हिन्दी में विविध साहित्य निर्माण की योजना (विचार विनिमय)		१५४
६. हिंदी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाएँ	प्रो० ना० नागप्पा	१६८
७. हिंदी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाएँ	डा० व्रजेश्वर वर्मा	१७५
८. हिंदी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाएँ (विचार विनिमय)		१७७
९. निबन्ध-गोष्ठी	डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी	१८१
१०. त्रयोदश अधिवेशन नागपुर का आय-व्यय लेखा		१८६
११. अधिवेशन में स्वीकृत प्रस्ताव		१८७
१५—शोध सूचना		१८९
१६—सम्पादकीय		१९८

मुद्रक : आजाद प्रेस, प्रयाग
प्रकाशक : डॉ० व्रजेश्वर वर्मा, भारतीय हिन्दी परिषद्,
विश्वविद्यालय प्रयाग